दिल से दिल की बात

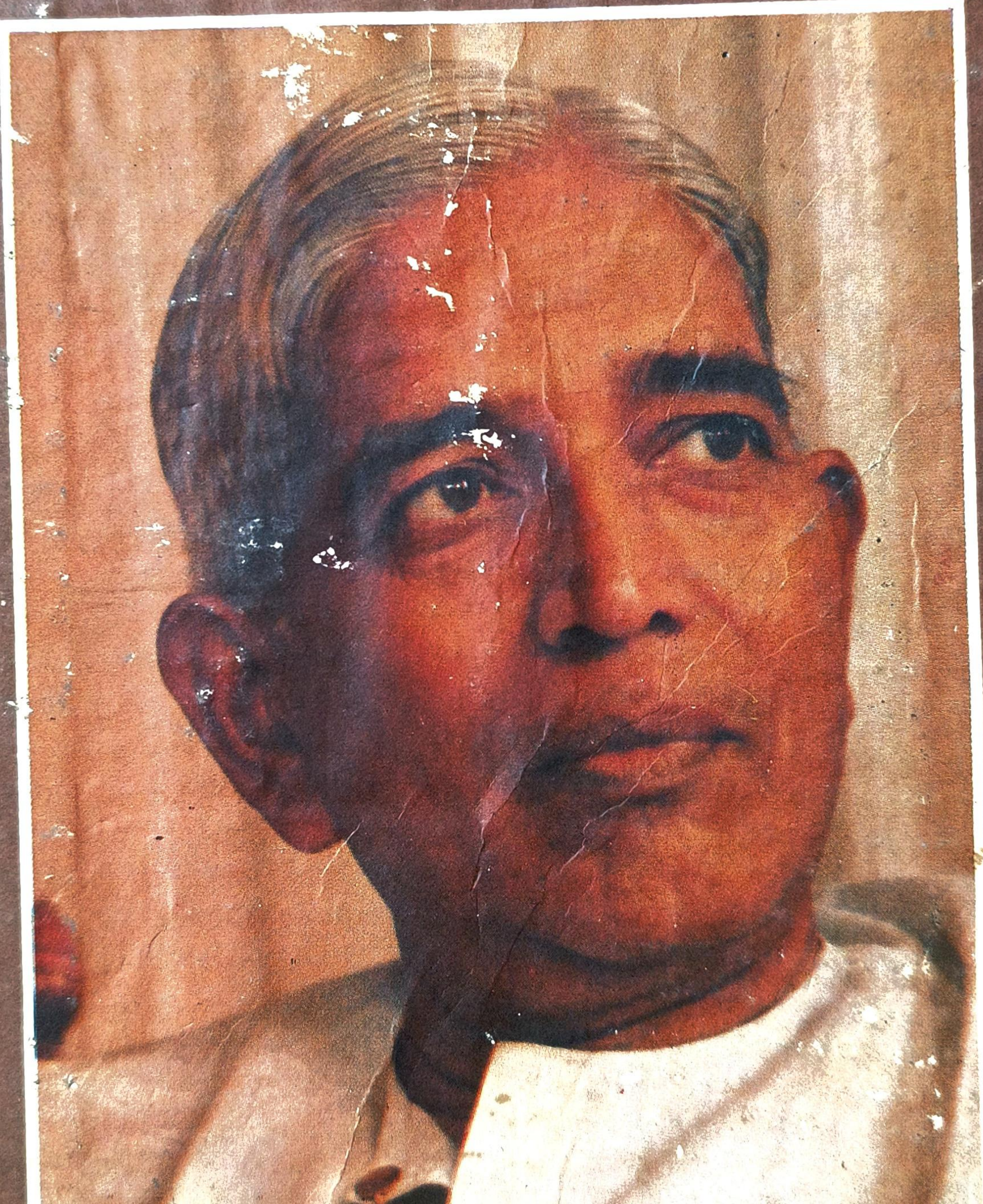

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

SHRI RAM CHANDRA MISSION SHAHJAHANPUR

दिल से दिल की बात

अगस्त १९८७ में
डेनमार्क, अमरीका, कैनाडा, वेल्स और इंगलैंड में सम्पन्न
सहज मार्ग गोष्ठी में

पूज्य श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी
द्वारा किये गये

प्रवचन एवं प्रश्न और उत्तर

श्री रामचंद्र मिशन

प्रथम संस्करण : २000 प्रतियाँ

[मूल अंग्रेजी पुस्तक 'हार्ट टु हार्ट' से अनूदित]

अनुवादिका
कमलेश कपूर

© श्री रामचंद्र मिशन, १९९१

मूल्य : चालीस रुपये

पुस्तक मिलने का पता
श्री रामचंद्र मिशन (इलाहाबाद केंद्र)
७ बेली ऐवेन्यू,
इलाहाबाद - २११ 00२

लेज़र कम्पोज़िंग
द सॉफ्ट सॉल्यूशन्स
सुभाष मार्केट, जानसेनगंज
इलाहाबाद-२११ 00३

मुद्रक
ग्राफिक स्टेशनरी मैन्यूफैक्चरर्स
टैगोर टाउन
इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

शाहजहाँपुर के समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज विलक्षण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने सन १९४५ में अपने गुरुदेव की स्मृति में (जिनका नाम भी श्री रामचन्द्र था) श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना की, और ईश्वर-प्राप्ति के लिये साधना की एक पद्धति—'सहज मार्ग'—बतायी, जो जन-साधारण के लिये सुलभ है।

उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी और मिशन के वर्तमान अध्यक्ष, परम पूज्य श्री पार्थ सारथी राजगोपालाचारी जी ने भी सहज मार्ग पद्धति को जन-साधारण तक पहुँचाने के अथक और अनवरत प्रयत्न किये हैं। वे कई बार अपने गुरुदेव के साथ इसके प्रचार के लिये विदेशों में गये। अपना अध्यक्ष पद सँभालने के बाद भी वे देश-विदेश में शिक्षा, प्रेरणा और प्राणाहुति देने के लिये भ्रमण करते रहे हैं। इस पुस्तक में दिये गये प्रवचन, अगस्त १९८७ में उनके विदेश-प्रवास के दौरान दिये गये थे, और अमरीका में १९८८ में तथा भारत में १९८९ में पुस्तक 'हार्ट टु हार्ट' के रूप में प्रस्तुत किये गये।

हिन्दी पाठकों के लाभ के लिये इनका हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। अनुवाद श्रीमती कमलेश कपूर ने बड़ी मेहनत और लगन से किया है। अनुवाद के अवलोकन और परिष्कार में हमें श्री रमेशचंद्र मालवीय से बहुत सहायता मिली है। श्री गोपीकृष्ण मणियार ने पुस्तक के प्रूफ़ पढ़ने में योगदान दिया है। हम इन सभी के हृदय से आभारी हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि हमारे हिंदी-भाषी अभ्यासी इस पुस्तक से पूरा लाभ उठायेंगे।

चंद्रिका प्रसाद
श्री रामचन्द्र मिशन, इलाहाबाद केन्द्र

अप्रैल, १९९१

विषय सूची

१. **कोपनहेगन, डेनमार्क**
अगस्त २-४, १९८७

१.	स्वतंत्रता और दासता	...	२
२.	मजा	...	१५
३.	उलटफेर	...	३०
४.	आश्रम	...	३९
५.	गुरुदेव के साथ सैर	...	४२

२. **ईस्टन, यू.एस.ए.**
अगस्त ८-१२, १९८७

६.	पढ़िये और आनंद उठाइये	...	५०
७.	निरावृत स्व	...	६१
८.	अवस्था और अनुभव	...	७१
९.	प्रश्न और उत्तर	...	८७
१०.	प्रतीक्षा	...	१०७

३. **मॉण्ट्रियल, कैनाडा**
अगस्त १४-१८, १९८७

११.	कुत्ते का जीवन	...	११८
१२.	परिवर्तन	...	१२५
१३.	कैनाडा के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की बैठक में भाषण	...	१३५
१४.	यदि आवश्यक हो	...	१४०
१५.	प्रश्न और उत्तर	...	१४९

४. **फिशगार्ड, वेल्स**
अगस्त २४-२८, १९८७

१६. एक पद्धति	...	१६०
१७. रेखा बद्धता, अलगाव और मिलाप	...	१६२
१८. न सफलता-न असफलता	...	१७६
१९. परिवर्तन का भय	...	१८०
२०. बोलने द्वारा सीखना	...	१८२
२१. खोने को खोना	...	१८९
२२. गुरुदेव से छिपाना	...	१९१
२३. आशा मत करो	...	१९८
२४. छोड़ना	...	२०७
२५. गुरु कौन ?	...	२२२

५. **लिट्ल ग्रोव, इंगलैंड**
अगस्त २८-३०, १९८७

२६. एकता	...	२३४
२७. अन्दर देखना	...	२४४
२८. भूत, वर्तमान, भविष्य	...	२४७
२९. जो उनका वह मेरा है	...	२५७
३०. आध्यात्मिक शराब	...	२६३
३१. अपरिवर्तनशील की तलाश	...	२६६
३२. प्रकृति और गुरुदेव	...	२७८
३३. चमकाना	...	२८७
३४. सजा और सुधार	...	२९०

१

कोपेनहेगेन, डेनमार्क

अगस्त २–४, १९८७

आज़ादी और गुलामी

२ अगस्त १९८७

आप देख सकते हैं कि मैं थोड़ा घबराया हुआ हूँ (हँसी दबाते हुए) (लोग हँस पड़ते हैं); इस का कारण केवल मेरा गला नहीं।

मैंने अफ्रीका के ऊपर एक पुस्तक हाल में पढ़ी थी जिसमें लिखा था कि जब जंगल में शेर दहाड़ता है तो वह मृत्यु का सूचक होता है, पर उसके पश्चात् बहुतों को भोजन प्राप्त होता है। इसमें बहुत कुछ अर्थ है। इसलिये मुझे भी कभी-कभी ऐसा लगता है कि मेरा न बोलना ही अधिक अच्छा होगा। इसी कारण शायद इस बार मेरे गुरुदेव ने मेरी वाणी बन्द कर दी है। सुलोचना व श्री रंगाचारी आपको बतायेंगे कि जब मैं दिल्ली हवाई अड्डे पर जहाज में बैठा उस समय मेरे गले में कोई खराबी नहीं थी। मैं बिलकुल ठीक था। हाँ थोड़ा बुखार व सिर दर्द था, पर मेरा गला ठीक था। परन्तु दिल्ली और फ्रैंकफर्ट के बीच में कहीं जैसे बाबूजी ने मेरा गला जकड़ कर आवाज बन्द कर दी।

तब मैं सोचने लगा कि ऐसा क्यों हुआ क्योंकि गुरुदेव जो कुछ भी करते हैं उसके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है—यह आप सब जानते हैं। आजकल यह कहने की रीति सी हो गई है कि बाबूजी ने यह नहीं कहा, बाबूजी ने वह नहीं कहा; पर सभी जानते हैं कि गुरुदेव की तरफ से मैं बोला करता था। सहज मार्ग पर अधिकृत रूप से जो कुछ भी कहा गया, वह मेरे द्वारा कहा गया। सन् १९७२, १९८० में हर बार जब आपने मुझे बाबूजी के साथ देखा मैं बोलता था और अधिकतर उनकी उपस्थिति में। सो यह कहना कि बाबूजी ने कभी यह नहीं कहा, बचकानी बात है। मैं हमेशा बोलता था, बाबूजी कभी अधिक नहीं बोलते थे। यह उनका ढंग था कि अरुचिकर बातें वह मेरे लिये छोड़ देते थे। मैं इसमें कुछ छिपा नहीं रहा हूँ क्योंकि मैंने स्वयं बाबूजी से भी कहा है कि वह मुझे एक प्रतिरोधक (Buffer) के रूप में प्रयोग करते हैं, जो अनुचित है। मैंने कहा, "आप चाहते हैं कि अपनी रेशमी कमीज पहन बड़े साहब बन कर बैठे-बैठे हँसी मजाक करें, लोगों को

Learn from Babuji

(+) e.g. Chariji asked me reg. my retirement from LIC on July 25, '94 at Jaipur. There must be some reason for this.

उपहार बाँटें और मैं आपका अरुचिकर कार्य करूँ।" यह बात मैंने गुरुदेव से कई बार कही, और वह अपनी आनंदमयी मुस्कराहट के साथ कहते, "देखो भाई, मैं इसीलिये तो तुम्हें अपने साथ लाता हूँ।" किसी को तो यह सब करना ही था और हमारे डेनमार्क के अभ्यासी इसे भली-भाँति जानते हैं। सन् १९७२ में भी जो अप्रिय, अरुचिकर बातें थीं उन्हें अधिकतर मुझे कहना पड़ा और हँसी मजाक गुरुदेव करते रहे। साथ ही वह हमेशा यह भी कहा करते थे, "देखो भाई, मैं केवल मजाक तो करता नहीं। मेरे मजाक में भी एक अर्थ होता है।" हम तब और हँस देते; इसलिये नहीं कि मजाक का अर्थ समझ में आ जाता, बल्कि इसलिये कि उनके साथ हँसी में एक आनंद था चाय में एक चम्मच शहद की भाँति। जब दवा में शहद मिली हो तो दवा भी आसानी से पीयी जा सकती है।

मुझे पता नहीं, शायद यह मेरे लिये सौभाग्य पूर्ण भूमिका थी। वह मेरा प्रशिक्षण था, बाबूजी का मुझे सिखाने का एक तरीका, जिसमें वह जैसे कह रहे हों, "मेरे प्यारे दोस्त, पश्चिम में प्रयोग के रूप में मैं जो कुछ कार्य कर रहा हूँ, तुम्हें उससे सीखना है। तुम मेरे साथ आये हो, न केवल मेरी सहायता करने के लिये, न केवल आकर वह केक खाने के लिये जो मेरे सामने रखा जाता है, पर जिसे मैं खा नहीं सकता क्योंकि मैं बुड्ढ़ा हो गया हूँ। परन्तु तुम्हें अपने आप कार्य करना भी सीखना है, और वह इसी तरह सीखा जा सकता है। भले ही लोग तुम्हें गलत समझें, तुम्हें नापसन्द करें या तुमसे रुष्ट भी हो जायें। तुम्हें इन सब के लिये तैयार रहना है।"

तो आप देखते हैं कि मैंने जो नासमझी में सोचा था कि वह मुझे प्रतिरोधक (buffer) के रूप में प्रयोग कर रहे हैं, वह ठीक नहीं था। असल में वह मुझे शुरू से ही प्रशिक्षण दे रहे थे; समझा रहे थे कि उस समय के लिए तैयार हो जाओ, जब मैं तुम्हारा साथ देने के लिये तथा हँसी मजाक करने के लिये नहीं रहूँगा। सो जो कुछ मुश्किल व अरुचिकर है वह मेरी मौजूदगी में करना सीख लो, जब मैं तुम्हारे पास तुम्हें सहारा देने के लिए, तुम्हारे बचाव के लिए हूँ; ताकि आगे चल कर तुम अपने आप को अकेला, दुःखी या गलतफहमी का शिकार न अनुभव करो क्योंकि यह सब मेरी मौजूदगी में तुम पर बीता हुआ रहेगा।

मुझे अब समझ में आता है कि वह मेरा प्रशिक्षण था। जब तक गुरु द्वारा प्रशिक्षण न हो, प्रशिक्षण है क्या इसका ज्ञान ही नहीं होता। असल में एक शिष्य का जीवन कठोर होता है। हमारे हाथों बहुत कुछ किये जाने की

अपेक्षा की जाती है। मैं भी अपने गुरुदेव का एक शिष्य हूँ—आज भी हूँ, और हमेशा रहूँगा। यह स्थिति कभी बदल नहीं सकती।

इस तरह मुझे अपनी राह पर चलना है, अपनी प्रगति करते जाना है। अगर आप सोचें कि यह एक शिष्य के लिए बहुत मुश्किल है और इसका अर्थ बहुत सी चीजों का त्याग करना है, एक अभावपूर्ण जीवन बिताना है—तो वह हमारी भूल होगी।

बाबूजी ने कितनी ही बार कहा है कि एक शिष्य का जीवन अनुशासित जीवन है। अनुयायी वही है जो अनुशासन में रहे। अभ्यास, हठयोग व प्राणायाम इन सब के बारे में चर्चा अर्थहीन है। भले आप ने संसार भर का योग साध लिया हो पर जब तक आप अपने आप को अनुशासन में नहीं लाते, तब तक आप किसी के शिष्य होने के लायक नहीं। यह मेरे गुरुदेव की परिभाषा है—इसे आप स्वीकार करें या न करें। अपने गुरुदेव के शिष्य के रूप में, जो मैं हूँ वह हमेशा रहूँगा, अपने जीवन में अपने लिये मुझे एक निर्दिष्ट अनुशासन का पालन करना है। ठीक है न ?

अपने गुरु के सिद्धान्तों का, जो उन्होंने मेरे सामने रखे, पालन किये बगैर, मैं उनका शिष्य कैसे हो सकता हूँ ? आप यह नियम तो जानते ही हैं कि जो नियम बनाता है, उसका सर्वप्रथम पालक वह स्वयं होता है। आप यह तो नहीं कह सकते कि यह सब नियम औरों के लिये हैं, मेरे लिये नहीं—और सब सड़क के दाहिने चलेंगे[१] परन्तु मैं बाईं ओर।—नतीजाः वह पहला व्यक्ति होगा जो मरेगा। सो नियम बनाने वाला ही उसका पहला पालक होता है, इसका बोध मुझे बहुत पहले से है।

मैं अपने गुरुदेव के पास १९६४ में आया। मैं साधारण मनुष्य से कुछ भिन्न नहीं हूं। मेरी भिन्नता शायद मेरी त्वचा के रंग में, मेरे बालों के रंग में या मेरे भारतीय पासपोर्ट तक सीमित है। कभी-कभी हम मान बैठते हैं कि नैतिकता का प्रचलन किसी खास देश में है; या, इसी तरह, अनैतिकता भी किसी खास देश में है। यह मूर्खता है। सब समान रूप से नैतिक या अनैतिक हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि कोई इसका खुले आम प्रदर्शन करते हैं, और कोई इसको छिपा लेते हैं। यदि हमारे यहाँ ऐसी दुकाने नहीं जहाँ अश्लील चीजें खुल्लम-खुल्ला बिकती हों तो इसका यह मतलब नहीं कि भारतवासी अधिक नैतिक हैं। इसका मतलब यह है कि शायद आम भारतवासी बुराइयों

१. डेनमार्क में सड़क पर दाहिने तरफ चलने का नियम है।

को छिपाने में अधिक होशियार हैं। फिर भी भारत हमेशा से, आध्यात्मिकता का देश रहा है और शायद हमेशा रहेगा। इसलिए नहीं कि और जगह की तरह यहाँ के खेतों में भी धरती के अन्दर गारा है, पर वह गारा दलदल नही हैं क्योंकि वहाँ हमेशा जुताई होती है।

आप देखें, जहाँ दलदल होता है वहाँ बदबू व बीमारी होती है। उस दलदल में जो भी जायेगा उसके फँस जाने का भय होता है। दलदल में साँप व कीड़े-मकोड़ों का भी वास होता है, कभी-कभी कहानियों में तो दैत्यों का भी।

जब दलदल को साफ करना होता है तो पहले उसका पानी निकालना होता है जैसे कि मवाद से भरे फोड़े को साफ करने के लिये डाक्टर उसको पहले चीर कर सारा मवाद निकाल देता है। इसको चीरफाड़ कहते हैं पर इसके करते ही दर्द फौरन चला जाता है। जब तक उसमें मवाद होता है वह रिसता रहता है, और हृदय के साथ ही डब्ब-डब्ब..........डब्ब-डब्ब करता है। आप सो नहीं सकते। पर एक छुरी के लगते ही सारा मवाद निकल जाता है और चैन पड़ जाता है। बच्चा हो या बूढ़ा या स्त्री सब आराम की नींद लेते हैं।

इसी प्रकार अगर एक शहर को ठीक और स्वस्थ होना है, तो पहले उसके आसपास जो दलदल है जो कीड़े-मकोड़ों, गन्दगी व बीमारी का कारण है उसको सुखाना पड़ेगा। तब वह साधारण मिट्टी का बन जाता है, जिसकी जुताई करके उसे बगीचे या अन्य मनचाहे रूप में बदला जा सकता है।

आप जानते हैं कि अगर शरीर में कोई पका हुआ घाव है, और उसमें मवाद है, तो उसको साफ करना पड़ेगा। इसके बिना आप सो भी नहीं सकते। यह बातें हम जानते हैं। किसी भी जाति की शारीरिक अवस्था या भौगोलिक परिस्थिति में हम इसे देख सकते हैं। परंतु जब आध्यात्मिकता की बात आती है तो प्रतिरोध होता है, क्योंकि अब न तो हमें मवाद दिखाई देता है और न दर्द का एहसास होता है। और हम कहते हैं "क्यों ? हम आजाद देश के हैं, और यही आजादी है।"

सो आप देखेंगे कि जो अनुशासन एक देश पर और वहाँ के लोगों पर लागू होता है, वही उनकी आत्मा पर भी लागू होता है और अगर मेरे गुरुदेव इस संदेश को लोगों तक न पहुँचा सके, तो इसके कई कारण थे।

सर्वप्रथम वह इस विषय पर बोलने में संकोच करते थे, क्योंकि वह

शर्मीली प्रकृति के थे। आजकल की भाषा में उन्हें अन्तर्बाधाग्रस्त (inhibited) कहेंगे।

तमिल का एक मुहावरा है कि क्या "आग" शब्द कहने से ही आपका मुँह जल सकता है। परन्तु एक पीढ़ी ऐसी भी थी, मेरे गुरुदेव की, मेरे पिता की, उनके लिए कई विषय चर्चा के बाहर थे; चाहे वह पिता और पुत्र के बीच या पति-पत्नी के बीच ही क्यों न हो। उस समय का समाज ही कुछ ऐसा था। इन विषयों पर वार्तालाप परोक्ष ढंग से, गोल माल शब्दों में होता था।

मुझे याद है एक बार शाहजहाँपुर में एक युवा दम्पति रहने के लिए आये। पति चिन्तित था कि क्या वह आश्रम में साधारण पति-पत्नी का सम्बन्ध रखते हुए रह सकता है। उसकी चिन्ता उचित भी थी। परन्तु आप गुरुदेव के पास ऐसा सीधा प्रश्न पूछने तो जा नहीं सकते, कि बाबूजी क्यों हमें अनुमति है—हफ्ते में एक बार, पंद्रह दिन में एक बार, आदि, आदि। सो वह व्यक्ति गुरुदेव के पास जाकर बैठा, उसने उनके पैर दबाये, तेल लगाया, और दो घंटे उनके चरणों में बिताये। फिर दबी जबान से, सिर खुजलाता हुआ, बोला, "बाबूजी आप तो जानते ही हैं कि मैं यहाँ अपनी पत्नी के साथ आया हूँ।" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ हाँ, वह बहुत अच्छी लड़की है खूब सेवा करेगी।" उन महाशय ने फिर धीरे से कहा, "बाबूजी मेरा मतलब है कि हम आश्रम में रह रहे हैं।" "हाँ हाँ भई हमने आश्रम इसीलिए तो बनाया है कि लोग वहाँ आकर ठहर सकें। इसी तरह तीन घंटे तक चलता रहा, और उस दिन वह कुछ भी नहीं हासिल कर पाये।

एक हफ्ते बाद उसने फिर हिम्मत बाँधी, आवश्यकता का जोर रहा होगा। तो वह फिर गुरुदेव के पास गया। फिर पैर दबाना, तेल लगाना और बातों का सिलसिला चला "बाबूजी मैंने आपसे पिछले हफ्ते बात की थी।" और बाबूजी ने सहज सा उत्तर दिया, "आशा है आप आराम से होंगे, अगर कुछ आवश्यकता हो तो कहिए।" उसने फिर हिम्मत बाँध कर कहा, "आप जानते हैं कि मैं यहाँ अपनी पत्नी के साथ आया हूँ क्या हम पति-पत्नी की तरह रह सकते हैं ?" बाबूजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "बेशक तुम पति-पत्नी हो तो पति-पत्नी की तरह ही रहोगे।" परन्तु इस व्यक्ति की तसल्ली नहीं हुई क्योंकि उसने एक खुलासा प्रश्न नहीं किया और न ही उत्तर खुलासा था। बाबूजी के लिए इतना ही काफी था। एक शेर एक शेर की तरह, एक कुत्ता कुत्ते की तरह और एक पति-पत्नी, पति-पत्नी की तरह ही तो

रहेंगे।

उनका उत्तर तो पूर्ण था। छः हफ्ते बाद उसने फिर बहुत हिम्मत कर के बाबूजी से कहा, "बाबूजी बात ऐसे है....................आखिर मैं गृहस्थ हूँ।" "हाँ भई तुमने मुझसे आरम्भ में ही क्यों नहीं कहा "(हास्य) और वह कैसे कहता कि "मैं छः हफ्ते से यही बताने की कोशिश कर रहा हूँ।" वह उत्तर से खुश होकर चला गया।

सो इस तरह के समाज में मेरे गुरुदेव बड़े हुए, जहाँ ऐसे विषयों पर वार्तालाप कभी होता ही नहीं था। सो आज यह कहना कि बाबूजी ने कभी ऐसा कुछ नहीं कहा, उनकी आज्ञा न मानने का एक सरल बहाना मात्र है। कई ऐसी बातें हैं जो मैं आपको नहीं बताऊंगा—शायद मुझे बताने का समय ही न मिले, कौन जानता है कि मुझे कितने समय तक जीवित रहना है। हो सकता है कि जो मेरे बाद आये, वह भी सब कुछ न कह पाये। क्योंकि यह रास्ता चलता जाता है। यह कहने के समान है: "मैं सौ मील चला हूँ पर कोई मोड़ नहीं आया। अब यह कहता है 'बायें मुड़ो।' क्या यह उचित है कि सौ मील चलने के बाद मुझे बायें मुड़ने को कह रहे हैं।" परन्तु सड़क इसी प्रकार जा रही है। अगर आप भारत में हों तो शायद इतना चलने के बाद आप वहाँ पहुँच जाएँ जहाँ पुल टूटा पड़ा हो और लिखा हो "सड़क बन्द है।" आपको वापिस मुड़ना पड़ेगा, नहीं तो आप अनन्त काल तक बैठ कर सरकार को गालियाँ देते रहिए परन्तु उस से आपका कुछ भला होने का नहीं।

सो यह एक विकासमान रास्ते का सार है कि कहीं वह घूमता है, कहीं वह मुड़ता है, और कहीं वह उबाऊ ढंग से सीधा सपाट है। रास्ता जैसा भी हो हमें उसी पर चलना है, हम रास्ते को अपने हिसाब से नहीं चला सकते। केवल एक मूर्ख ही कहेगा, मुझे सब कुछ बता दो।"

यह ऑटोबन (तेज गति की गाड़ियों वाली ट्रंक रोड) पर भी लागू होता है। कभी-कभी हमें तेज बत्तियां दिखाई देती हैं जो अचानक टिमटिमाने लगती हैं और गाड़ियों की गति एकदम मन्द करनी पड़ती है कि कुछ गड़बड़ है। मैंने गाबी (एक अभ्यासी) को भी १२० मील की गति को ब्रेक लगाकर ३ सेकेन्ड में १६ मील की गति पर लाते देखा है। अचानक आप देखते हैं कि सब तरफ गाड़ियाँ ही गाड़ियाँ हैं क्योंकि वहाँ कुछ हुआ है। आटोमोबाइल एसोसियेशन भी सड़क के विषय में प्रति क्षण का विवरण नहीं दे सकता। क्या आप एक पेड़ से कह सकते हैं कि पिछले साल यह शाखा नहीं थी इस

साल क्यों है ? आप यही कहते हैं कि यह पेड़ बढ़ रहा है इसलिये इसमें नई शाखाएं व पत्तियाँ आ रही हैं। आप यह तो नहीं कहते कि तीन साल पहले जब मैंने अपने बच्चे को छोड़ा था वह इतना सा था और अब छः फुट का लम्बा चौड़ा दानव बन गया है। वह बड़ा हो गया है और जब कोई भी चीज बड़ी होती है तो वह बड़े होने के साथ-साथ बदलती है क्योंकि उसमें कुछ बदलाव भी आता है, यह स्वाभाविक है।

हम भी एक ऐसे मार्ग पर हैं—सहज मार्ग एक स्वाभाविक व प्राकृतिक मार्ग ही नहीं अनन्त मार्ग भी है। जैसे जैसे हम में बदलाव होता है, यह भी बदलता है।

जब मैं इस कक्ष में ध्यान के लिए आया था तो किसी ने मुझे याद दिलाई थी कि जब आप ने १९८० में भाषण दिया था तो आपने डेनमार्क के अभ्यासियों से कहा था कि अब आप से अधिक आशा की जायेगी क्योंकि आप बढ़ रहे हैं। आशा है कि डेनमार्क वालों को यह याद होगा। यह किसी एक पुस्तक में भी लिखा है। हम जैसे जैसे बड़े होते हैं वैसे-वैसे अधिक उत्तरदायी होते जाते हैं, और हमारी जिम्मेवारी औरों के लिए बढ़ती जाती है। पहले हम केवल अपने लिए जिम्मेवार होते हैं, फिर अपने बच्चों, अपने परिवार, अपने घर, अपने समाज, आदि आदि के लिए।

सो आप देख सकते हैं कि या तो हम बढ़ें—बढ़ने का अर्थ है अधिक जिम्मेदारी स्वीकार करना और अपने व्यवहार और आचरण पर अधिक प्रतिबन्ध स्वीकार करना। जब मैं अकेला था, एक डबल रोटी थी और मैं उस में खुश था। अब मैं अकेला नहीं रहा, हम ३ व्यक्ति हैं, मेरे पास पैसे भी नहीं, सो उसी में तीन का गुजारा करना है। मैं उससे अपना पेट भर कर अपने पुत्र व पत्नी को भूखा मरने के लिए तो नहीं छोड़ सकता। यह तो संभव नहीं। यदि सफाई में कोई कहे कि शादी करते समय इस जिम्मेदारी के बारे में नहीं सोचा था तो उसका जवाब है कि कम से कम दो का दायित्व तो आपने अपने ऊपर ले ही लिया था।

सो बढ़ने का अर्थ है बदलाव। हमें हर सुबह नई चीजों का सामना करना पड़ेगा। हर सुबह ही क्यों, जीवन के हर पल में निरन्तर बदलाव हो रहा है। सागर के तट पर प्रतिपल नई लहर आती है।

आपको मूर्ख राजा कन्यूट की मशहूर कहानी का तो पता होगा। उसके अनेक चापलूस दरबारी थे जो उससे कहते थे "आप संसार के सब से महान सम्राट् हैं।" उन की बात मान वह कहता था, "क्या सचमुच ऐसा है, मैं

इसे परखना चाहता हूँ।" लोगों ने कहा, "महाराज, सागर को आज्ञा दीजिए वह अपनी लहर रोक ले।" और उसने कहा, "रुक जाओ।" अब कुछ ऐसी चीजें हैं जो बड़े से बड़ा व्यक्ति भी नहीं रोक सकता। आप सागर को डोलने से नहीं रोक सकते, सितारों को चलने से, सूर्य को उदय होने व अस्त होने से नहीं रोक सकते। हम बढ़ने के जो नियम हैं उन्हें नहीं रोक सकते। अगर कोई विचार करे कि बढ़ना या न बढ़ना मेरी इच्छा पर है, और मैं बढ़ना नहीं चाहता, तो उसका एक ही विकल्प है—वह है मृत्यु।

जो बढ़ता नहीं वह मर जाता है, चाहे वह पौधा हो, कीटाणु हो, व्यक्ति हो या सभ्यता हो, देश हो या पूर्ण संसार ही क्यों न हो। क्योंकि संसार में कुछ भी सदैव स्थायी अवस्था में नहीं रहता। अगर आप कहें "हम जिस अवस्था में हैं, प्रसन्न हैं, हमें ऐसा ही रहने दो।" तो प्रकृति एक स्थायी अवस्था को सहन नहीं करती। आज्ञाकारिता का विकल्प आज्ञा का उल्लंघन नहीं है मुझे यह कहते हुये दुःख होता है कि अब सहज मार्ग को छोड़ देना भी वह विकल्प नहीं है।

कई बार मुझे स्वयं लगता है कि मैं गलत गाड़ी में चढ़ गया हूँ और उससे निकलने का कोई भी रास्ता नहीं; खासकर अब जब ड्राइवर मुझे स्टीयरिंग चक्का पकड़ा कर चला गया है, जिसको मुझे हिलाना डुलाना नहीं आता। काश मैं उसके साथ ही कूद गया होता। अब कूदना तो भीषण दुर्घटना होगी, मेरे लिए ही नहीं, औरों के लिए भी। मेरे गुरुदेव कहेंगे "तुम भारी मूर्ख हो मुझे तो इसका पता था। पर जो गाड़ी भर यात्री मैंने तुम्हें सौंपे हैं उनका क्या होगा ? तुम्हें यह अधिकार नहीं है, जब तक कि तुम उन्हें किसी ऐसे स्थान पर न पहुँचा दो जहाँ तुम सुरक्षित उन्हें किसी और को सौंप सको, जो तुम से अधिक योग्य व सुचारु रूप से उनकी देखभाल कर सके।"

मेरे लिए यह कई तरह से एक दुःखद घटना थी। इसमें सबसे कम दुःख की बात तो यह थी कि मैं अपने आप को बुद्धिमान मानता था। हाँ, मैं समझता था कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। फिर मुझे मेरे गुरुदेव मिले। मैंने अपने पुस्तक "मेरे गुरुदेव" लिखी, जिसके लिए मुझे बड़ी प्रशंसा और श्रेय मिले—सब मधु और मलाई की तरह। और आज मैं एक ऐसी स्थिति में हूँ जिससे छुटकारा पाना नामुमकिन है। यह मत सोचियेगा कि यह कहते हुए मैं किसी पिशाचीय आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ कि, आप के लिए भी इससे कोई छुटकारा नहीं है।

इससे छुटकारा नहीं है क्योंकि आप एक प्रगति के मार्ग पर हैं। जब बालक जन्म के बाद एक बार संसार में आ जाता है, तो वह यह नहीं कह सकता कि मैं नहीं बढ़नां चाहता। हरएक बालक छोटा ही रहना चाहता है। ३ वर्ष की आयु कितनी सुन्दर, ५ वर्ष की उससे भी आनन्दमयी, ८ वर्ष और भी बढ़िया, केवल माँ शब्द कहो और जो कुछ भी तुम्हें चाहिये वह मिल जायेगा, पिता भी सब देने के लिये सदा हाजिर। आप को ३०० क्रोनर के जूते चाहिये या ३३ क्रोनर की आइसक्रीम, बस कहने की देर है। फिर आप थोड़े बड़े हुए और आपने स्कूल जाना आरम्भ किया तो पिता की मार, माता की फटकार का अनुभव होता है। और आप कहते हैं कि मैं हमेशा बच्चा ही क्यों नहीं रह सकता, और माँ कहती है—"मैं भी ऐसा ही सोचती थी; मैं भी अपने माता पिता की आँखों का तारा थी। मेरा भी बचपन सुहावना था, सुन्दर कपड़े, बालों में फूल और फीते, और आज मैं कैसे अव्यवस्थित हाल में हूँ। पति जिसको मेरी परवाह नहीं और तुम जैसे बच्चे जो आइसक्रीम और जूतों के अलावा कुछ नहीं जानते।" (सामान्य हास्य) सब भी उसी पागल दानवीय चरखी में फँसे हैं जिसमें एक बार कदम रखने पर, जब तक हम वापिस नहीं आ जावें उतरना सम्भव नहीं।

हम सब उस कुंठाशील दशा में फँस गये हैं जहां हमसे जो उम्मीद की जाती है, जो हमें करना चाहिये, वह हम नहीं कर पाते। यदि आप जो करना चाहिए वह करने को तैयार हैं—"अब जब मैं फँस ही गया हूँ तो क्यों न सहज होकर उससे पूरा फायदा उठाऊं, मुझे क्या करना है ?" "कुछ नहीं केवल ध्यान करो और दस नियमों का पालन करते हुए आज्ञाकारी बनो। तुम्हें बताया जा चुका है कि शिष्य वही हो सकता है जो अनुशासन में हो, सो शिष्य बनो।" "बस इतना ही ?" हाँ, मैं भी वही कर रहा हूँ।" और जीवन आश्चर्यजनक रूप से आसान हो जाता है, और आश्चर्यजनक रूप से फलने-फूलने लगता है। आश्चर्यजनक है क्योंकि जैसे आप कुण्ठाकारी, संकीर्णकारी, निस्तेजकारी आजादी में बाधक समझ रहे थे, वही वास्तविक आजादी का अनुभव था, जो बेमिसाल है। अब जब तक आप उसे कर के न देखें तब तक उसका अनुभव कैसे कर सकते हैं ? जब आप किसी डाक्टर के पास जाते हैं क्योंकि आप बीमार हैं, तो वह आपको गोलियाँ देता है। आप उसको यह तो नहीं कहते, "पहले मुझे सबूत दो कि इसको खाने से मेरा सिरदर्द ठीक हो जायेगा, मैं तभी लूँगा।" वह आपको कहेगा, "पहले इसे खाकर देखो अगर ठीक न हुआ तो दूसरे डाक्टर को बुला लेना।"

"नहीं नहीं ऐसा तो सभी डाक्टर कहते हैं।" अगर हमें सच्ची आजादी चाहिए तो हमें जो कष्टदायक, कष्ट से पूर्ण, अनुशासनपूर्ण, आजादी को छीनने वाला दिखाई देता है उसी अनुशासन को अपनाना पड़ेगा। यह किसी ने नहीं कहा कि तुम अनुशासन को रुचिकर मानो। अनुशासन, अनुशासन ही नहीं रह जायेगा यदि वह रुचिकर हो जाए। मुझे सड़क के दाईं ओर गाड़ी चलाना पसन्द नहीं, क्यों न कभी-कभी मैं बाईं ओर भी गाड़ी चला लूँ। मैं भी एक आजाद नागरिक हूँ, भारतीय हूँ तो क्या इसका अर्थ है मुझे कोई आजादी नहीं। यह विचार कर यदि मैं सड़क के बाईं ओर गाड़ी चलाने लगूँ, तो मैं जानता हूँ कि मरा हुआ चारी, चार भले बहादुर युवकों के कन्धों पर ले जाया जायेगा। इस आज्ञापालन के ऊपर हमारा पूरा जीवन ही निर्भर है, केवल हमारा बढ़ना ही नहीं। आजादी की बात करना बहुत आसान है।

अगर आप अपने दिल में झाँक कर देखेंगे कि जितना सुशासित व आधुनिक आपका देश है, जितना ऊँचा आपका रहन-सहन है, उतना ही आप अपने देशवासियों के, अपने देश के, गुलाम हैं। अपने दिल में झाँक कर मुझे बताइये कौन आजाद है ? वह है एशिया व अफ्रीका के निर्धन रोग-ग्रस्त व भूखे लोग। यहाँ आप गुलाम हैं, समाज के, नियम के, सरकार के, पर आप को पता है कि वह आपकी शारीरिक आवश्यकताओं पढ़ाई-लिखाई, स्वास्थ्य, सबकुछ की जिम्मेदारी लिये हुये है। दूसरी ओर एशिया व अफ्रीका के आजाद लोग लाखों की संख्या में मर रहे हैं। आप किसको चुनेंगे ? एक ओर आपको पूरी आजादी है, दुनिया के बड़े-बड़े विशाल मरुस्थल-सहारा, सहेल में—जहाँ चाहें आप घूम सकते हैं, कोई आपको रोकेगा नहीं, वहाँ कोई लाल बत्ती नहीं, कोई सिपाही नहीं, कोई पासपोर्ट की जरुरत नहीं। शायद कुछ दिनों तक बिना पानी के रहना पड़े और अन्त में आप गिद्ध का भोजन बनें। या आप ऐसे समाज में रहना चाहेंगे जो आपको अपनी मुठ्ठी में जकड़े रहता है—लोहे की मुठ्ठी। आपको ऐसा अनुभव नहीं होता, परन्तु हर बार जब मैं यहाँ कदम रखता हूँ मुझे ऐसा एहसास होता है। वह शक, वह घृणा--यह व्यक्ति यहाँ क्यों आया है ? इसे क्या चाहिये ? क्या यह अपने साथ डेनमार्क, फ्रांस या जर्मनी का एक हिस्सा ले जाना चाहता है। और अगर मैं उनसे कहूँ "कुछ नहीं, मैं तो तुम्हारे लोगों को कुछ देना चाहता हूँ" तो वह हँसेंगे, "क्या ? तुम कुरूप काले आदमी, तुम हमें क्या दे सकते हो ?" वह अपनी जगह ठीक भी है, क्योंकि मैं उन्हें अपनी जेब से निकाल

कर कुछ नहीं दे सकता "यह लो"। सो वह मुझे शक से एक, दो, तीन बार देख कर फिर कम्प्यूटर में डालेंगे और हरी बत्ती आने पर ठप्पा लगा कर मुझे दे देंगे। यह अमानवीय है और कई बार मैं अपमानित महसूस करता हूँ।

मैं यहाँ क्यों आता हूँ ? मेरे लिए यूरोप आना कोई सुखद अनुभव नहीं। आप के जो रहन-सहन का स्तर है उसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि मैं उनका कभी आदी नहीं रहा। मुझे गद्दों या वातानुकूलन की कोई इच्छा नहीं। मेरे जीवन-निर्वाह के लिए जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह सब मेरे ईश्वर, मेरे गुरुदेव मुझे पर्याप्त मात्रा में देते रहते हैं। अगर मैं यहां आता हूँ तो यह अनुभव कराने में तुम्हारी सहायता करने के लिए कि आज जो मेरे साथ हो रहा है वह कल तुम्हारे साथ भी घटित हो सकता है। सजग रहो, होशियार रहो, कहीं तुम्हारे देश का रहन सहन न गिर जाये, कहीं दूसरा चर्नोबिल न बन जाए। सजग रहने का अर्थ यह नहीं कि तुरन्त खाना पीना, ब्रेड, पनीर आदि इकट्ठा करने लग जाओ, बल्कि अपने आप को आन्तरिक रूप से तैयार करना।

मैं आन्तरिक रूप से कैसे वह असीमित, पूर्ण, आनन्दमयी आत्मा बनूँ, जैसा मेरे मालिक ने मुझे बनाया था, यद्यपि वाह्य में मैं विभिन्न रूपों में उपस्थित हूँ। आखिर वह जो हम सब में विद्यमान है वह दिव्य ही तो है। केवल इनसान में ही नहीं, हरएक में, चाहे वह सूअर हो या कुत्ता। अगर हम अपने उस आन्तरिक व्यक्ति को जो मेरे, तुम्हारे सब के अन्दर है, बदल सकें, तो हम अपने शरीर को, संस्कृति, रंग, लिंग जिसमें इसे जबरदस्ती ठूँस दिया गया है, सब से मुक्ति दिला सकते हैं, तब हमें यह अनुभव होता है कि वह सब मूर्खता थी—वह केवल शारीरिक आनन्द था, यह सब तो बच्चों के लिए है, बड़ों के लिए नहीं। अगर कोई बड़ा बच्चों जैसी हरकत करे तो हम उसे बचकाना कहते हैं। परन्तु जब एक पूरा समाज वैसा आचरण करता है, बचकाना, मूर्खतापूर्ण तब हम अपने आप को विश्वास दिलाते हैं कि यही सही रास्ता है क्योंकि हमारे समाज में सभी लोग ऐसा व्यवहार करते हैं। सो मेरे भाइयों व बहनों यह गम्भीर बात है।

मैं यह आपको पहले भी बताता रहा हूँ इस विचार से नहीं कि मैं आपको कुछ सिखाना चाहता हूँ, क्योंकि मैं तो अभी तक अपने आप को ही सिखा रहा हूँ। यह एक प्रयोग है, एक अनुभव है जिसमें हम—जो साधारण है, तुच्छ है, अमानवीय है—उससे ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। यही पर्याप्त नहीं कि बाबूजी एक विशिष्ट व्यक्ति (special personality) थे।

अगर वह एक विशिष्ट व्यक्ति थे और संसार में आये तो किसी उद्देश्य से आये—वह था हमें भी उसी अस्तित्व का आभास दिलाना।—स्वतन्त्र, मुक्त, इच्छा-रहित, पीड़ा-रहित, कुण्ठा-रहित अस्तित्व। उनका कहना था, "मेरे बालकों, तुम मुझमें हो, मैं भी तुम में हूँ। मैं तुम सब में व्याप्त हुये बिना वह विशिष्ट कैसे हो सकता हूँ ? यह पहचानने का प्रयत्न करो फिर हम सब एक साथ उड़ चलेंगे।" यही मेरे मालिक का, मेरे गुरुदेव, का संदेश था। लेकिन हम उलट कर कहते हैं, नहीं, नहीं, मैं तो डेनिश सीगल[१] हूँ। ऐसा रिचर्ड बाक (कवि) ने "जौनीथन लिविंग्स्टन सी-गल" कविता में लिखा था। "अब तुम जर्मनी चली जाओ यही तुम्हारे लिए अच्छा होगा।" "अगर तुम नहीं चाहते तो मैं जर्मनी चली जाऊँगी परन्तु याद रखना मैं यहाँ भी हूँ और वहाँ भी हूँ, मैं सर्वत्र हूँ।" सो एक अर्थ में गुरुदेव न केवल हमें मुक्त कराने आते हैं बल्कि वह हम सब में अपने आप को भी मुक्त कराने आते हैं।

जैसे एक चिकित्सक या डाक्टर केवल तभी आराम कर सकता है, चैन पा सकता है जब उसका सारा समाज रोगमुक्त हो जाय। रात में कई बार उसे फोन आते हैं—किसी की मृत्यु हो रही है कोई कैन्सर से पीड़ित है, अन्तिम अवस्था में है। कोई यहाँ पगलाया है, कोई वहाँ पी कर पड़ा है, ऐसे में उसे शांति कहाँ मिल सकती है। सो उनको ठीक करने में, उनका इलाज करने में, वह अपने आप को अपनी बीमारियों से छुटकारा दिलाता है। उनके स्वस्थ होने में, ठीक होने में ही उसका छुटकारा है।

इसी भाँति संसार के गुरु हैं। लोग समझते हैं कि वे महान आत्मायें हैं, निःस्पृह, विशाल-हृदय आत्मायें हैं। वे यह सब तो हैं, परन्तु जैसा गौतम बुद्ध ने कहा था, "जब तक संसार में माया की जंजीर में जकड़ा एक भी जीव रहता है, तब तक मैं संसार छोड़ कर नहीं जा सकता।"

आप सब को प्रसिद्ध युद्ध कालीन अपराधों के मुकदमों के बारे में पता होगा। वहाँ बड़ा जेल था— जब तक वहाँ एक भी बन्दी रहता था पूरी व्यवस्था उसी प्रकार चलती थी। जेल निरीक्षक, वार्डन, रसोइयाँ, रसोईघर, बर्तन धोने वाला इत्यादि—केवल एक बन्दी के लिए भी। कितनी बार मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में हम जो कुछ भी सुन्दर देखते हैं—पहाड़, झील, नदियाँ, बड़े-बड़े महल, स्विटजरलैंड जैसे स्थान आदि वह सब हमारे

---

१. एक सामुद्रिक पक्षी।

बन्दीगृह को आकर्षक बनाने की व्यवस्था है। यह बन्दीगृह में पुस्तकालय और क्रीड़ास्थल बनाने जैसा है। परन्तु यदि हम यह सोचना शुरु कर दें कि हमारे पास पुस्तकालय है, क्रीड़ास्थल है, टी.वी. आदि सब कुछ है, तब हम आजाद क्यों हों—तो ईश्वर ही हमारे सहायता करे।

सो यही हमारे गुरुदेव का सन्देश है, चाहे कितना ही सुन्दर हमारा बन्दीगृह क्यों न हो, वह बन्दीगृह ही है। यह याद रक्खो कि आधुनिक विज्ञान ने, आधुनिक यंत्र विज्ञान ने गुलामी को केवल आकर्षक बना दिया है। ऐसी गुलामी जहाँ हमें अच्छा खाना व स्वास्थ्य व कपड़े आदि मिले हैं। और इससे हमें गलतफहमी हो गई है कि हम आजाद लोग तथा आजाद देश हैं। हम केवल अपने लिए कार्य कर रहे हैं, हमने अपने आप को आजाद कर लिया है, हम संसार में सब से ऊँचे हैं।" इसी में गम्भीर खतरा है। खतरा अनुशासन हीनता में व अनैतिकता में नहीं, परन्तु गुलामी को आजादी समझने में है।

सब से पहला सबक है कि हम अपनी परिस्थिति का परीक्षण करें—क्या तुम सच में आजाद हो या एक स्वस्थ पढ़े-लिखे मरसीडीज चलाने वाले, लाड़ प्यार से बिगड़े गुलाम हो।

इसके ऊपर विशेष ध्यान दो और फिर फैसला करो।

मजा

३ अगस्त १९८७

कल जिस विषय पर चर्चा हो रही थी, उसी बारे में मैं कुछ और बताना चाहूँगा। कल किसी का सुझाव था कि आज्ञापालन इसलिये कठिन है क्योंकि वह डर पर आधारित है। अपरोक्ष रूप में यह ठीक है। पर असल में समस्या न तो आजादी की है न डर की, परन्तु जो हमारी नजर में मनोहर है उसमें हस्तक्षेप की है, हो सकता है कि मैं गलत हूँ।

बचपन से ही मेरा अनुभव रहा है, कि बच्चों में कहना न मानने की शुरुआत तब होती है, जब उन्हें जो प्रिय लगता है उससे रोका जाता है, चाहे वह पानी में नंगे पैर चलना हो जिससे जुकाम हो जाये या खूब सारी स्ट्राबेरी खाना हो या आग में हाथ डालना ही क्यों न हो। जिस चीज में मजा आता है यदि उसे करने से रोका जाये तो किसी को अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। इसमें कुछ नया नहीं है। यह एक साधारण व पुरानी धारणा है कि या तो हम वह अपनायें जो अच्छा है या जो प्रिय है। प्रसिद्ध व प्राचीन दार्शनिक प्लेटो ने तो यह बहुत पहले ही कहा था कि एक तरफ अच्छा और दूसरी ओर प्रिय है तो तुम दोनों में से किसे चुनोगे ? बच्चे से लेकर बूढ़े तक प्रिय को ही चुनेंगे।

अगर हम मानव प्रकृति का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि हम जैसे-जैसे बड़े होते हैं वैसे वैसे जो आनन्दकर है उसके अभ्यस्त होते जाते हैं। क्योंकि हमें डर होता है कि अब शायद ज्यादा जियेंगे नहीं, जितना आनन्द लूट सकते हैं लूट लें। इसीलिये बूढ़े लोग ज्यादा बेवकूफियाँ करते हैं। इसमें कुछ भी नया नहीं, आम दिखाई देता है जैसे बूढ़े शराबी या ७५ साल की उम्र में १७वीं शादी करने वाले जो कि साधारण मायनों में भोग के लायक ही नहीं। जब आप सोचते हैं कि मजा कर रहे हैं तो वह महत्वपूर्ण है चाहे वह वास्तव में मजेदार हो या नहीं। हम बचपन से ही देखते हैं कि हम कई ऐसी चीजें करते हैं जिसमें हम सोचते हैं या कोई कहता है कि इसमें बड़ा मजा आता है, चाहे वह हमें नुकसान ही पहुँचाये। जैसे किसी बड़े लड़के

ने कहा कि इसमें मजा आता है तो हम भी कहते हैं चलो वीरा (नाम) जंगल में चल कर झड़बेरी तोड़ते हैं और खाते हैं जिससे काटें चुभते हैं और जब हम घर आते हैं तो हम उल्टियां करते फिरते हैं। जब माँ पूछती है कि तुम ने क्या खाया है ? तो हम कहते हैं "ओ ममी, उसने कहा था कि इसमें बड़ा मजा आता है।" तब हम ज्यादा ईमानदार होते हैं और मान लेते हैं कि किसी के कहने में आकर यह गलती कर बैठे। परन्तु जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं वह ईमानदारी समाप्त हो जाती है और हम अपनी कमजोरी व गलती कबूल नहीं करना चाहते और बाद में यह एक रवैये का रूप ले लेती है। जैसे कि "अगर मुझे किसी के पास बैठना अच्छा लगता है तो आप क्यों दखल देते हैं" या "मैं ध्यान करते समय अगर चाकलेट चूसना चाहूं तो इसमें क्या हरज है," आदि आदि।

इस प्रकार हम सब की मजे की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। वास्तव में उसका मजेदार होना आवश्यक नहीं और ज्यादातर वह होती भी नहीं, क्योंकि जिसे हम स्वादिष्ट कहते हैं उसका फल अधिकतर मूर्खतापूर्ण व दुःखदाई होता है। हम रोज ऐसे व्यक्तियों से मिलते हैं, कम से कम मैं तो रोज मिलता हूं जिन के मुख पर व हृदय से दुःख झलकता दिखाई देता है, जो कि केवल उस मजे का परिणाम है। जो सत्य की राह पर चलते हैं और मजे से दूर रहते हैं, वह दुःख नहीं भोगते। मेरे पास आजतक कोई दार्शनिक यह कहते हुए नहीं आया "ओ चारी........" उनको आने की आवश्यकता ही नहीं। आवश्यकता है उन युवा व अधेड़ लोगों को जो इस मजे के विचार के शिकार हैं चाहे वह मजा बोतल का हो या बिस्तर का, उसमें कोई फरक नहीं पड़ता। एक दिन ये लोग दर्दनाक दशा में आते हैं जब इनकी मदद करना कठिन हो जाता है फिर कहना पड़ता है, "मुझे क्षमा करें, आप मदद की हद के परे हैं।" यह कहते हुए मुझे बहुत दुःख का अनुभव होता है। परन्तु रोजमर्रा हमारे पास ऐसे लोग आते हैं, फिर वह रोते हैं और उनमें जो भी जीवनशक्ति है उसको खो बैठते हैं। उनके लिये सूर्य की चमक व सागर के स्वर सब समाप्त हो जाते हैं और वे केवल अपने दिन गिनते हैं।

मैं उन बीमारियों की बात नहीं कर रहा हूँ जो प्रकृति हमें देती है, जैसे कि एक बच्चे का मधुमेह से पीड़ित होना। हम उनको प्रकृति कहते हैं परन्तु वह वास्तव में हमारे पिछले जन्म का परिणाम है। वह कर्म है, संस्कार है जिसे हम अपने साथ लेकर आये हैं, क्योंकि हम उसे एक जन्म में नहीं भोग सके। हम मजे के ऐसे शिकार हुए कि उसका परिणाम एक जन्म में समाप्त

नहीं कर पाये। उसको भोगने के लिये एक बीमारी, एक एड्स, एक कैंसर काफी नहीं था और हम बार बार दु:ख भोगते हैं। यह सब उस मजे का फल है जिसे हम मजा सोचते हैं और वही हमें बरबाद कर रहा है चाहे हम गोरे हों या काले, स्त्री हों या पुरुष, अमीर हों या गरीब। सब यही सोचते हैं कि हम मजा कर रहे हैं। कोई इस मजे के लिये घुड़सवारी का शौक रखता है और जब उसकी गरदन की हड्डी टूट जाती है तो जन्म भर के लिये बेकार होकर बिस्तर पर पड़ा रहता है। फिर वह अपने भाग्य को, धर्म को, भगवान को दोषी ठहराता है। कोई कहता है चारी तुम किस भगवान की बात करते हो, जिसने मेरे पति को अगले ५७ वर्षों के लिये बेकार कर के बिस्तर पर डाल दिया है।" भगवान ने तो तुमसे घुड़सवारी के लिये नहीं कहा था।

कोई हर साल पहाड़ पर चढ़ता है, और हर बार उसकी टाँग उसी जगह से टूटती है, परन्तु जब तक उसकी गरदन नहीं टूटेगी उसे कोई भी नहीं रोक सकता। फिर उसकी विधवा रोती हुई आती है "चारी सब धर्म कहते हैं कि भगवान प्रेम है, अगर वह सचमुच प्रेम है तो यह कैसे हुआ ?" परन्तु भगवान ने तो नहीं कहा था कि हर साल जाकर अपनी गरदन तोड़ो, एक बार चोट लगना काफी होना चाहिये था। हम जानवरों को भी देखें, तो उनके रास्ते में कोई अड़चन आने पर वह उससे अपना सिर नहीं टकराते। या तो वे उससे अलग हट कर निकल जाते हैं, या उसके ऊपर से फाँद जाते हैं या नीचे से निकल जाते हैं। चूहे व चिड़िया तक यही करते हैं। परन्तु हम अपने आप को बहुत समझदार, पढ़ा-लिखा व दार्शनिक समझते हैं, और इतनी प्रगति कर गये हैं कि प्रकृति के नियमों व इशारों का पालन नहीं करना चाहते और सोचते हैं कि हमें यह कैसे हानि पहुँचा सकते हैं। मैं तो वह हूँ जिसकी चर्चा इसाया, इनौक व मूसा[१] ने की थी। मैं तो वह भाग्यशाली हूँ, किसी घोड़े या पहाड़ की क्या मजाल कि मेरी गरदन तोड़े। मुझे शराब से अल्सर कैसे हो सकता है, या एड्स कैसे हो सकता है। परन्तु जब ऐसा हो जाता है तो बड़े दु:ख के साथ कहना पड़ता है, "मेरे दोस्त तुम इन सब के ऊपर नहीं हो और न ही प्रकृति के नियम से परे हो। बेशक तुम गोरे, लम्बे, ताकतवर व अमीर हो, परन्तु नियम से परे नहीं हो।"

---

१. Isaiah, Enoch & Moses.

यह आधुनिक जीवन की एक दु:खान्त स्थिति है कि हम अपने आप को सब नियमों से परे मानते हैं। हो सकता है कि हम कुछ नियमों से परे हों, जैसे कि बड़े देश सोचते हैं कि वह उन सब नियमों से परे हैं। वह जिस किसी की भी हत्या कर सकते हैं। वह क्रूर हैं और अधिक कर ही क्या सकते हैं। अगर आप सभ्यता का अर्थ केवल बटन दबा कर दो करोड़ लोगों की हत्या समझते हों तो परमात्मा आपकी मदद करे। यह पश्चिमी देशों का अहंकार है कि हमारे पास आधुनिकतम हथियार व राडार प्राद्यौगिकी है, हमारे पास यू-२ यू-४ हैं और जाने क्या क्या हैं, और हम किसी भी देश का ३ सेकन्ड में खात्मा कर सकते हैं परन्तु याद रखो कोई ऊपर से सब देख रहा है, वह तुम्हारे लाल या नीले बटनों से या तुम्हारे परमाणु हथियारों व राडार प्राद्यौगिकी से प्रभावित नहीं होता। वह कहता है, "मूर्ख मैंने क्या तुम्हें यह करने के लिये बुद्धि दी थी। एक प्राणाहुति (Transmission) द्वारा मैं उसी बुद्धि को धुरी से घुमा भी सकता हूँ, कि तुम्हें पता ही नहीं चलेगा कि वह बटन कहाँ है और तुम कौन हो, कहाँ हो और तुम चीखते हुए डूब जाओगे।

यह कोई अर्थहीन वाक्य नहीं। बाबूजी ने भी कहा है कि एक सन्त एक पल में सारी दुनिया के शस्त्रों को बेकार कर सकता है, कुछ भी काम नहीं करेगा। यह बहुत खुशी की बात है कि इस प्रकार के लोग हैं, क्योंकि इनके सहारे ही हमें भविष्य में आशा है। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि अगर हम चाहते हैं कि कोई सन्त हमारे लिये कुछ करें और कहे कि "यह बिचारे सीधे सादे, अच्छे निर्दोष लोग हैं, सागर के उस पार कहीं बैठे हुए किसी पागल को बटन दबा कर इनकी हत्या नहीं करने दूँगा।" तो उसे यह अवश्य सोचना होगा कि क्या हम इस योग्य हैं कि वह दखल दे। उसे अनुभव होना चाहिये कि हम उसका अंश हैं और वह हमें नष्ट नहीं होने देगा। तब वह अपनी कनिष्ठ उँगली उठायेगा और दुनिया की सारी ताकतें ठण्डी पड़ जायेंगी। परन्तु उसके लिये हमें उस योग्य बनना होगा। अन्यथा वह कहेगा इन लाल बटनों से मेरे लिये क्या फरक पड़ता है। ये कुछ और इकट्ठा करलें । मैं इन्हें और तीन हरे बटन दे दूँगा और तीन नीले बटन भी दे दूंगा, और इन्हें उनके साथ कैसियों संगीतयंत्रों की तरह खिलवाड़ करने दो कि कौन किसे आसानी से और पहले मारता है।

यह अर्हता का प्रश्न है। क्या हम अपना पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं, कि जैसा गुरुदेव चाहते हैं हम वैसा ही जीवन जीयें। अगर हम वैसा कर रहे हैं

तो वह अवश्य हमारी रक्षा करेंगे, हमें राह दिखायेंगे, हमारा पालन पोषण व कदर और सब कुछ करेंगे। लेकिन अगर हम कहें "अरे बेचारे बूढ़े बाबूजी बड़े भले आदमी हैं, हमेशा मुस्कुराते रहते हैं, कभी किसी बात के लिये मना नहीं करते। आपको पता है, दस नियमों में हम क्या नहीं करें, यह कहीं नहीं कहा गया है। सहज मार्ग में कोई विधि या निषेध नहीं है।" यह मैं हजारों बार सुन चुका हूँ और मुझे उन नियमों से डर लगता है। लोग इसका गलत अर्थ निकाल रहे हैं कि इसमें मनमानी करने की आजादी है। जबकि बाबूजी ने बड़े ही स्पष्ट रूप में कहा है, कि हमें केवल एक आजादी है, वह है सही काम करने की आजादी। यह तो स्पष्ट है कि हमें गलत काम करने की आजादी नहीं हो सकती।

जब आप सड़क पर चलते हैं तो जिस जगह आप को चलना चाहिये, वहां पर चलने की आपको पूरी आजादी है और कोई आप को रोक नहीं सकता। धरती की कोई ताकत आपको रोक नहीं सकती। परन्तु यदि आप सड़क के बीच में चलना चाहें जहाँ गाड़ियाँ चलती हैं या लाल बत्ती के विपरीत चलना चाहें तो पुलिस की भूरी गाड़ी आपके पास आकर रुकेगी और वह बड़ी मुलायमियत से कहेगी, "मैडम............।" और यदि आप कहें, "जहाँ मेरी इच्छा है, मैं वहाँ चलूँगी," तो वह कहेगा "कम से कम मेरे रहते नहीं।" अगर आप अड़ियेगा तो वह अपनी गाड़ी में आपको मुफ्त में बैठाकर ले जायेगा।

सही काम करने की आजादी भगवान भी हम से नहीं ले सकता, और गलत काम की आजादी भगवान भी नहीं दे सकता। यह कहना कि गुरुदेव ने ऐसा कभी नहीं कहा, उन्होंने हमें यह करने की अनुमति दी है, या कभी नहीं कहा यह मत करो वह मत करो, मूर्खता है। गुरुदेव तो करुणावान और दयावान थे हाँ, मेरे गुरुदेव करुणावान और दयावान थे, हैं और हमेशा रहेंगे। परन्तु मैं नहीं चाहता कि वे कोई दया या करुणा करें, क्योंकि वह उनके लिये है जो सचमुच अपराधी, असफल हों। जो बालक ठीक राह पर चल रहा है और जिन्दगी की राह में सफल है उसे किसी की दया व करुणा की क्या आवश्यकता ? मुझे किसी की दया अथवा करुणा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मेरे लिये उसकी जरुरत नहीं है। इसकी आवश्यकता तो तब पड़ती है जब मैं पतन की राह पर पक्का अपराधी बन गया होऊं और मुझमें अपने आप उठने की क्षमता न हो। तब किसी को आकर करुणा और दयापूर्वक मुझे सहारा देकर उठाने की जरुरत है।

मैं तो यही पसन्द करूँगा कि अपने दो पैरों पर खड़ा होकर शान से एक बेटे की भाँति पिता का हाथ पकड़े हुए उनके पीछे पीछे चलूँ। पिता कहें -पुत्र चलो हम हाथ में हाथ थाम कर दो प्रेमियों की तरह, जो हम हैं, साथ-साथ चलें। करुणा की जरुरत किसे है? मैं दया के बारे में क्यों सोचूँ ? वह तो उनके लिये है जो नीचे गिर गये हैं। जैसे कि एक शराबी, शराब के नशे में चूर धरती पर गिर पड़ता है और चार लोगों को उसे स्ट्रेचर पर डाल कर ले जाना पड़ता है। हमें दुःख होता है कि ऐसा हुआ, उस पर दया आती है, करुणा आती है, "बेचारा, उस को उठा कर ले जाना पड़ा"। अगर प्रभु को इस प्रकार अपने चार सहायकों के साथ आकर हमें उठा कर पोंछपाछ करके स्ट्रेचर पर लादकर, जाना पड़े तो वह कितने लज्जित होंगे। वह कहेंगे, "मेरे पुत्र, क्या मैंने तुम्हारा निर्माण इसीलिये किया था ? मैंने तुम्हारा निर्माण तो, इसलिये किया था कि तुम गर्व से पृथ्वी पर चलो उसके मालिक बन कर सर्वथा अपना राज्य फैला कर रहो। स्वामित्व सब पर किन्तु अधिकार मेरे अतिरिक्त किसी पर नहीं। मैं तुम्हारा पिता हूँ मुझ से कुछ भी माँग सकते हो, परन्तु इस ब्रह्माण्ड से, जिसमें मैंने तुम्हें भेजा है, कुछ भी अपेक्षा न करो, यही वह आधारशिला है जिस पर तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये।" एक चित्रकार के कैनवस की भाँति। बिना कैनवस के चित्र नहीं बनाया जा सकता। क्या तुम हवा में चित्र बना सकते हो ? कभी नहीं। इसी प्रकार संसार का अस्तित्व हमारे भोग विलास के लिए नहीं है। वह है ताकि मैं किसी मजबूत स्थान पर कदम रख कर आगे बढ़ सकूँ। जो कुछ अच्छा है वह खाऊँ पिऊँ। प्रभु ने जो कुछ मेरे लिये रचा है उसका लाभ उठाते हुए, शाही शान से सिर ऊँचा उठा, हृदय में प्रेम व विश्वास लिये फख्र से कह सकूँ, "आओ मैं अपने पिता का पुत्र हूं, मेरा अनुसरण करो। मैं तुम्हें राह दिखाऊंगा।" परन्तु लोग बीच में कोई पत्ती या फल खाने के लिये, किसी झरने या नदी का पानी पीने के लिये रुक जाते हैं और फलस्वरूप दुःखी होते हैं, बेहोश हो जाते हैं। फिर आप कहते हैं, "मैंने तुमसे कहा था न कि इन चीजों को मत छुओ, क्या मैंने तुम्हारे खाने पीने के लिये काफी नहीं बनाया कि तुम उसमें स्वस्थ व खुश रहो। तुम्हें उन वस्तुओं के साथ प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी जो तुम्हारे लिये नहीं हैं।" वे कहते हैं, "ओ मालिक के पुत्र : आप तो जानते हैं प्रयोग करने की सहज मानवीय प्रवृत्ति होती है। क्या प्रयोग करके स्वयं पता लगाना मानव की स्वतन्त्रता का एक हिस्सा नहीं ?" वह केवल दूसरों के कहे अनुसार नहीं चलना चाहता। गुरुदेव

कहेंगे, "मेरे पास इतना समय नहीं, जब तक तुम प्रयोग करके पता लगाओ इस बीच मैं आगे बढ़ता हूँ। अगर तुम्हारा प्रयोग समाप्त होने तक मैं आगे दिखाई दूँ तो दौड़कर चले आना।" आप कहेंगे, "अगर आप इतनी दूर निकल गये कि मैं न पकड़ पाऊं तो ? "" तो शायद स्वर्ग में स्थित मेरा प्रभु मेरे बाद किसी और को भेजेगा, उसकी प्रतीक्षा करना।"

यह हमारी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है और रहेगी जब तक हम मनुष्य उस मजे, उस आजादी, उस हक के पीछे भागते रहेंगे और अपना कर्त्तव्य, अपनी जिम्मेदारी व अपने विकास की आवश्यकता और दायित्वों को भूले रहेंगे। हम हमेशा हक तो चाहते हैं पर जिम्मेदारी नहीं, मजा तो चाहते हैं परन्तु पीड़ा नहीं, पर दुर्भाग्यवश यह सम्भव नहीं। भगवान ने दोनों चीजों का निर्माण साथ-साथ किया है, सुख और दुःख एक सिक्के के दो पक्ष हैं। अगर तुम एक चाहते हो तो दूसरा भी लेना पड़ेगा। या तो दोनों को स्वीकार करो या किसी को भी नहीं। बुद्धिमान इस सच को पहचानते हुए सुख व मजे के पीछे नहीं भागता परन्तु मूर्ख कहता है, "मैं सिक्के की एक तरफ को क्यों नहीं पा सकता ? तुम तो बुद्धू हो, दार्शनिक हो, सत्य को नहीं जानते, न ही पढ़े लिखे हो। तुम पूर्व दिशा से आये हुए ज्ञानियों में से एक हो जो सत्य का बखान करते हो और अपनी आँखे बन्द करके ध्यान करते हो। तुम्हें सिक्के के बारे में क्या पता कि सिक्के का एक पहलू ही ऊपर रहता है।" उत्तर आता है "आजमा लो इसे।" छ महीने के बाद वह दौड़ता हुआ आता है "मेरे दोस्त अब मैं क्या करूँ ?" खैर अगर आप सिक्के की दूसरी ओर भी वही चीज रख दें तो भी यह काम नहीं करेगा। जुए के अड्डे में यह चलेगा, दोनों तरफ चित्त, लेकिन ईश्वरीय नियमों में नहीं चल पायेगा।

अतः दार्शनिक आध्यात्मिक व्यक्ति, गुरुदेव कभी तुम्हें जिन्दगी का मजा लूटने को मना नहीं करते। वह कहते हैं "खबरदार रहो, अगर आज मजा लूटोगे तो कल दुःख भी पाओगे।" यह मूर्खता भारतीय रहस्यवादियों ने भी की, वह पीड़ा व दुःख के पीछे भागे कि उसके बाद किसी न किसी रूप में सुख मिलेगा और उसी चक्र में फँस गये। वही गलती वहाँ की—केवल मजे के पीछे भागने के बजाय पीड़ा के पीछे भागे, जैसे काँटों की शैय्या पर सालों पड़े रहना, परिणाम—उनका शरीर सड़ा हुअ मांस का लोथड़ा बन कर रह गया। मेरे गुरुदेव ने यह कभी नहीं कहा कि पीड़ा व दुःख को अपनाओ या सुख के पीछे भागो। उन्होंने कहा, "दोनो से बचो। मेरे साथ आओ। मैं तुम्हें वह दूँगा जो सत्य है जो इन दोनों से परे है। उसमें न पीड़ा है न सुख,

परन्तु वह जीवन दायिनी शक्ति है जो तुम्हारा अंश है और अन्त तक तुम्हारे साथ रहेगी। जो भी तुम्हारे हित में है वह उसे कभी हानि नहीं पहुँचायेगी चाहे वह शारीरिक हो, भौतिक हो, नैतिक हो व आध्यात्मिक हो।

भाइयों और बहनों, विकल्प यह नहीं है कि सुख हो या दुःख। हमें तो दोनों से परे जाना है और यहाँ हम एक ही छलाँग में दोनों से ऊपर उठ जाते हैं। सहज मार्ग हमें यह दे सकता है। जो स्वीकार करना चाहते हैं अपना कर देख लें। हमारे लिये यह सोच पाना या इसकी परिकल्पना करना कठिन है कि ऐसा कुछ हो सकता है, हम सुख व दुःख दोनों से परे जा सकते हैं। यह धारणा समझ पाना थोड़ा कठिन है। यही बात तन्दुरुस्ती के साथ भी है। जब हम अधिक तन्दुरुस्ती व ताकत की तलाश में भागते हैं तब बाद में उतना ही कष्ट भोगना पड़ता है। जब लोग घुड़सवारी, पहाड़ पर चढ़ना, अधिक बलशाली होने का कार्यक्रम बनाते हैं तो उसका यही नतीजा होता है। जब हम जवान होते हैं, १८ से २५ साल तक, तब यह सब ठीक लगता है। दौड़ लगाने के लिये सुन्दर जूते, कपड़े आदि और जिन्दगी हसीन लगती है। धूप हो या कोहरा या बारिश हम अकेले भेड़िये की तरह जंगल में विचरने जाते हैं। और एक दिन जब हम गिर जाते हैं और हमारा घुटना टूट जाता है तब यह सब तन्दुरुस्ती के कार्यक्रम धरे रह जाते हैं। तन्दुरुस्ती के कार्यक्रम ही नहीं तन्दुरुस्ती भी समाप्त हो जाती है। हमें बनावटी घुटना लगा कर १८ महीने बैसाखियों के सहारे चलना पड़ता है। फिर न हम साइकिल चला सकते हैं न सीढ़ियाँ चढ़ सकते हैं और २६ साल की उम्र में ही चिकित्सा के लिये अस्पताल जाना पड़ता है।

यह सब बेवकूफियाँ हैं जो हम करते हैं। भगवान ने हमसे यह तो नहीं कहा था कि तुम अत्यधिक स्वस्थ या बुद्धिमान बनो। उन्होंने कहा, "मेरे साथ रहो। तुम क्या हो इसकी फिक्र न करो, क्योंकि वह तुम्हारे पिछले कर्मों का फल है। तुम जैसे भी हो मुझे स्वीकार हो, अगर तुम अब से मेरा अनुसरण करो और विश्वास के साथ मेरे कहे पर चलो—यह विश्वास कि मैं ऐसा कुछ नहीं कहूँगा जो तुम्हारे हित में न हो, तुम्हें हानि पहुँचाये या किसी प्रकार की चोट पहुँचाये या निराश करे।"

सो मेरे बच्चों : भगवान तो हम से यही कहते हैं : मेरे पास आओ, इसे आजमा कर देखो। पर कभी-कभी ईश्वर की शाश्वतता ही बेचारे उस बुजुर्गवार के विरुद्ध काम करती प्रतीत होती है। हम कहते हैं, "जल्दी क्या है। हमें पता है कि बाबूजी ठीक कह रहे हैं कि वह जो कुछ भी करेंगे, हमारे

भले के लिये ही होगा। पर क्यों न हम कुछ और साल जीवन का आनन्द उठा लें, फिर उनके पास चले जोयें।" तब हमें पता चलता है कि बहुत देर हो चुकी है।

इसी कारण बाबूजी हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि तुम्हारे विकास का पथ अभी और यहीं से शुरु होना है, कल या परसों या तुम्हारी अगली शादी और फलस्वरूप उसके मजे के बाद नहीं—अभी और यहीं। अगर हम उसके लिये तैयार नहीं तो हो सकता है दरवाजा बन्द हो जाए और फिर हम उसे खटखटाते रहें। बाइबल को भूल जाओ जिसमें कहा गया है कि "तुम खटखटाओ और तुम्हारे लिये दरवाजा खुल जाये।" इतना आसान नहीं है। यह वह दरवाजा है, जिसमें हमें तब प्रवेश करना है, जब वह खुला हो। यह मुमकिन है कि वह दस हजार साल में एक बार या पचास हजार साल में एक बार खुले और फिर अनन्त काल तक दुबारा खुले ही नहीं। कौन जानता है क्योंकि भगवान की आवश्यकता हमें है, भगवान को हमारी नहीं।

भाइयों व बहनों, इसके ऊपर गौर से विचार करें। यह मूल्यांकन करें कि आपकी स्वतन्त्रता की क्या कीमत है। आपके स्वास्थ्य, पैसे, उस पाश्चात्य शिक्षा और बुद्धि की क्या कीमत है। क्या वह सचमुच उतनी आनन्दकर या मूल्यवान है जितनी दिखती है। पी.एच.डी. का तिकोना टोपा सिर पर पहने, सोने और चाँदी के वर्कों में लिपटे, सोचो क्या सचमुच यह उतनी कीमती है। मैंने कितने ही ऐसे पी.एच.डी. देखे हैं जो शराबी थे, नशा करते थे और अन्ततः किसी मुकाम पर नहीं पहुँचे। यही हाल वकीलों का या डाक्टरों का है। तुम किसी का भी नाम लो और वह सब अपने आदरणीय व्यवसायों के शिखर पर होते हुए भी उसी मुकाम पर हैं। डाक्टर, वकील या मनोवैज्ञानिक होने से हम इन सब बेवकूफियों से उन्मुक्त नहीं हो जाते, क्योंकि मानव प्रकृति अभी बदली नहीं।

पात्र को बदलने की कोशिश मत करो इसके अन्दर जो है उसे बदलो। इसका तरीका है आन्तरिक बदलाव। अभी तक तुम केवल अपने वाह्य को बदलते रहे हो, जैसे अपने मुख को चमकाना, बाल काटना, अपनी मांसपेशियों को बढ़ाना आदि आदि। यही हमारा दुर्भाग्य है आपको पता है, पाश्चात्य संस्कृति सौन्दर्य और स्वास्थ्य के विषय में यूनानी धारणा पर आधारित है। मुझे क्षमा कीजियेगा, पर यूनान ने पश्चिमी संस्कृति को बहुत नुकसान पहुँचाया है और वह शिक्षा हम आज भी नहीं भूले, यह उन्हीं का

कसूर है। उन्होंने सोचा कि उन्होंने नई खोज की है, और जगह जगह संगमर्मर की सुन्दर मूर्तियाँ छोड़ गये, जैसे वीनस या प्रैक्सिटेलिस आदि। सुन्दर मूतियां मुझे भी पसन्द हैं। मैं भी घर में एक रखना चाहूँगा, परन्तु उन मूर्तियों की भाँति कभी नहीं बनना चाहूँगा। किसलिये ? उन सब फूली मांस-पेशियों के साथ तुम कितने कुरूप लगते हो !

जर्मनी में एक बहुत समझदार व्यक्ति था जिसके विषय में मैंने ३० साल पहले पढ़ा था। उसकी दृष्टि में सेहत की निशानी नाक, छाती, पेट सबका एक सीधी खड़ी लाइन में होना था। परन्तु आजकल मानव आकार एक शिकारी कुत्ते की भाँति है, छाती निकली हुई, पेट अन्दर घुसा हुआ। यह यूनानी सभ्यता का असर है। अगर तुम यूनानी दर्शनशास्त्र को पढ़ो तो वह भी उतना ही मूर्खतापूर्ण है। पढ़ने में बहुत अच्छा लगता है और मैं भी उससे आर्कषित होता हूँ, टाइमस प्लेटो व उसके अनुयायियों में सत्य के अनेक तत्व हैं। किसी भी सिद्धान्त या शास्त्र के विषय में फैसला करने के पहले हमें देखना होगा कि उसका क्या प्रभाव पड़ा न कि उसने क्या बताने का वचन दिया। अगर हम प्लेटों के दार्शनिक विचारों और सुन्दरता व सेहत पर दिये गये यूनानी विचारों पर निर्णय लें तो मैं उनकी पद्धति को ज्यादा अंक नहीं दूँगा।

चलिये, हम अपने अतीत को भूल कर, उस पर आधारित गौरव को भूल कर, देश के गौरव को अपनी त्वचा, बुद्धि, डॉलर, फ्रैंक्स, मार्क, क्रोनर, सब को भूल कर केवल असलियत को याद रखें। वह क्या चीज है जिसे मैं ले जा सकता हूँ, जब मैं संसार से जाऊँ। अपने महान डॉलर को भी मैं नहीं ले जा सकता, क्योंकि कोई ऐसी जेब नहीं जिसमें वह समा सके। मुझे बताया गया है कि पुराना २० डॉलर का सोने का सिक्का आज ५००० डॉलर में बिकता है कोशिश कर के देखिये अगर आप उसे कहीं डाल कर ले जा सकते हों। मुझे बड़ी खुशी हुई जब कल हैन्ज नैक्करगार्ड (नाम) ने कहा कि हम यहाँ से कुछ भी नहीं ले जा सकते। कहा जाता है कि हम कुछ भी नहीं ले जा सकते, यहाँ तक कि शक्ति या बुद्धि भी नहीं।

मेरे गुरुदेव ने कितनी बार यह कहा है कि जब वह यहाँ से जायेंगे, उनको अपनी सारी शक्ति को छोड़ कर जाना होगा। तो हम क्या लेकर जा सकते हैं ? संस्कार ! सो हम संस्कार न बनायें। हम क्या छोड़ कर जायेंगे ? उसके लिये भी मैं हैन्ज को बधाई दूंगा। उसने अतीत सहज बोध से कहा, हम केवल अपना प्रेम छोड़ कर जा सकते हैं। हम जो अपने बच्चे

को छोड़ कर जाते हैं वह हमारे प्रेम का चिन्ह है। एक पड़ोसी के लिये वह केवल एक और बच्चा है जिसकी नाक बह रही है और जो हमेशा बदमाशी करता है। परन्तु हमारे लिये वह हमारे प्रेम की निशानी है।

जब एक चित्रकार अपनी तस्वीरें छोड़ता है तो वह केवल चित्र ही नहीं है परन्तु उसका प्रकृति का प्रेम है जो उसने चित्रित किया है। उसकी किसी भी और रूप में सराहना करना मूर्खता होगी। क्योंकि हम उस वस्तु को आकार व विषय में बांध रहे हैं जिसका कोई आकार हो ही नहीं सकता। कला का कोई आकार व विषय होता ही नहीं। मुझे इन पाश्चात्य कला आलोचकों की मूर्खता पर आश्चर्य होता है जो कि उन लाइनों, गोलों व आकारों में कुछ पढ़ने का प्रयत्न करते हैं। यह बेचारे मनोवैज्ञानिकों के लिये ठीक है, वे इन चीजों के विषय में कुछ अधिक नहीं जानते परन्तु एक कलाकार जिसमें अस्तित्व के नियमों के विषय में एक सहज बोध से पूर्ण दृष्टि की अपेक्षा होती है, वह ऐसी गलती क्यों करता है ? जब हम एक चित्र को देख कर प्रभावित होते हैं या सराहना करते हैं, तो हम यह नहीं देखते कि उसने कैनवस पर क्या बनाया है। हम देखते हैं कि उसने जीवन के स्पन्दन व गूँज को कैसा पकड़ा है और हम सब उसी की प्रतिध्वनि का अनुभव करते हैं। जैसे कि एक बार बजाने पर दूसरा तार जो उसी स्वर में कसा है उस स्पन्दन से बज उठता है और अगर कोई तीसरा तार भी वैसा है तो वह भी थिरक उठता है। सो जब हम कलाकृति देखते हैं जिसकी रचना प्रेमपूर्वक हुई है, तो यह चमत्कार होता है। यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ छोटे बच्चों की सराहना करती हैं, क्योंकि वह उनके जीवन का, उनके अस्तित्व का एक अंश है जो उन्हीं से जन्मा है, उनका एक प्रतिरूप है। उसको हम प्रेम के अतिरिक्त और किसी तरह देख ही नहीं सकते।

एक गुरु अपने पीछे क्या छोड़ कर जाता है ? हमारी एक पूर्वीय विचारधारा है—जिस प्रकार सृजन के लिये हमारे शारीरिक लिंग-अंग हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय में भी ऐसा ही अंग है जिसे हम और कोई शब्द न मिलने के कारण योनि ही कहते हैं, हृदय-योनि। योनि वास्तव में स्त्री लिंग का नाम है। गुरुदेव वास्तव में हृदय में अपना बीजारोपण करते हैं यदि हम उस बीज को जिस प्रकार ग्रहण करना चाहिये वैसे ही धारण करें तो चमत्कार होता है, और हम वास्तव में पूर्ण रूप से गुरुदेव की ही सन्तान बन जाते हैं। गुरुदेव अक्सर इस बीजारोपण की बात करते थे और हम में से

Obedience

अधिकतर लोगों ने कभी इस पर ध्यान नहीं दिया। वह इस विषय पर विस्तार से बात कर ही नहीं सकते थे। जैसा कि मैं कल बता रहा था कि कई ऐसे विषय थे जिन पर वह बात नहीं करते थे। यह सत्य है कि एक सन्त हृदय-योनि से सृजन करता है, आपके बाकी शरीर से उसका कोई सरोकार नहीं, उसके लिये उसका कोई अस्तित्व नहीं। जब हम उनके लिये अपने आप को खोल देते हैं तो वह अपने आप को एक बीज के रूप में हमारे अन्दर डालते हैं और फिर उनकी एक और सन्तान तैयार होती है। यही वह चाहते थे, उन्हें कितनी सफलता मिली वे ही जानें।

इसी प्रकार शारीरिक सृजन की क्रिया प्रकृति के फैलाव व प्रसारण के लिए है, न कि आनन्द के लिए। मुझे तो उसमें कुछ ऐसा आश्चर्यजनक या प्रिय दिखाई नहीं देता। मधु-मक्खियों, चिड़ियों से लेकर जानवर, मनुष्य सभी तो यह सृजन की क्रिया करते हैं। फिर इसमें ऐसा क्या खास है। जब कभी सड़क आदि पर ऐसे कोई जानवर आदि दिख जाते हैं तो हम शर्म से अपना मुख दूसरी ओर कर लेते हैं। कम से कम मैं शर्म महसूस करता हूँ। क्यों ? क्योंकि यह कोई ऐसी दशनि की या सब के सम्मुख करने की चीज तो है नहीं। जानवरों को तो ज्ञान नहीं, परन्तु मनुष्य ? जब कभी आप हाइड पार्क[१] से गुजर जायें तो वही नजारा इन्सानों में देखने को मिलता है और हम उसे स्वतन्त्रता कहते हैं।" ओ चारी, हम एक स्वतन्त्र समाज में रहते हैं और आजकल के युवा यह सब पसन्द करते हैं। इसमें शर्म की क्या बात है ?" सो हमारी लज्जा भी समाप्त हो गई है।

यही समस्या है। हम आज गलत तरीकों से एक आनन्द की अनुभूति पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं, चाहे वह शराब से हो, नशीले पदार्थों से हो या यौन सम्बन्धों द्वारा। इस चक्कर में हम बच्चे पैदा करते हैं, और भी बहुत कुछ करने की कोशिश करते हैं, जिसका परिणाम दुःखद होता है। माता-पिता, जिनका कोई मेल नहीं, क्षणिक वासना के वश में होकर एक दूसरे के करीब आते हैं, फिर उसका अन्त तलाक। और फिर वह दुखी होते हैं। "यह कैसे हो सकता है ? वह तो मुझे इतना प्रेम करता था उसने हमेशा यही कहा था। अब वह कहाँ है ?"

दर्शन तथा आध्यात्मिकता कहती है "इन्तजार करो।" जब बसन्त आयेगा तो पौधों पर फल व फूल अंकुरित होंगे। तुम उन्हें तोड़ने के लिये

१. लंदन का एक बहुत बड़ा बगीचा (पार्क)

(1) Brm Seeing in vision Chariji in seed form in his heart and sometimes his very big form in his (Brm's) heart.

Same thing written by Brm in today's diary by master's Grace

उनके पकने का इन्तजार करते हो। यदि उन्हें कच्चा ही तोड़ कर खा लो तो उल्टियाँ व दस्त लग जायेंगे। इसी प्रकार मानव के हर चीज के तैयार होने की प्रतीक्षा करनी चाहिये। प्रेम व दोस्ती को भी तैयार होने में समय लगता है। अगर आपको सड़क पर कोई अच्छा व्यक्ति मिलता है, जो अगले दिन आपके घर आता है, तो आप प्रभावित हो जाते हैं। जब वह आपसे ५000 क्रोनर माँगता है, आप दे देते हैं और वह फिर कभी दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा ही एक किस्सा डेनमार्क में हुआ था। एक व्यक्ति इसी तरह २२000 क्रोनर लेकर गायब हो गया था क्योंकि वह देखने में लम्बा, ऊँचा व सुन्दर दिखता था, और लोगों ने सोचा यह धोखेबाज कैसे हो सकता है। डेनमार्क एक छोटा सा देश है फिर भी कोई उसे ढूँढ़ नही पाया। अगली बार उसने कोई और तरीका अपनाया होगा।

इसके बाद हम दूसरे विषय पर आते हैं कि केवल बाह्य रूप को देख कर फैसला मत करो। अगर कोई बाह्य रूप से देखने में सुन्दर व विश्वसनीय लगता है, तो जरुरी नहीं कि वह विश्वास के लायक है। हो सकता है वह सब से बड़ा धोखेबाज हो। प्रतीक्षा कर के देखो। आप कहेंगे कब तक। जब तक कि आपको पूरा विश्वास न हो जाये। क्या आप हरएक फल को चख कर देख सकते हैं ? ऐसा करने पर वह कभी पकेगा ही नहीं। आप कहेंगे "नहीं नहीं क्या मैं थोड़ा सा चख कर नहीं देख सकता।" ऐसे तरीके हैं जिन से आप अन्दाज लगा सकते हैं—छू कर, दबा कर। केवल तब ही चखिये जब आपको पूरा भरोसा हो जाये कि वह पक गया है। आपको जिन्दगी के फलों को चखने की इस प्रवृत्ति को रोकना होगा जो हर ओर से हमारे सम्मुख प्रचुरता से प्रस्तुत किये जाते हैं—प्रत्येक वृक्ष से लटकते हुए, हर खिड़की से देखते हुए, पत्रिकाओं के प्रत्येक चिकने पृष्ठ से हमें घूरते हुए। परन्तु हमें प्रतीक्षा करनी है, देखना है कि उस सुन्दर चेहरे के पीछे या उस फल के पीछे क्या है ? जब आप खुम्बियाँ तोड़ने जाते हैं तो आपको पता है कि गलत वाली तोड़ना कितना घातक हो सकता है। आप मर भी सकते हैं। जहरीली होने पर क्या आप उसे खाकर अलग रख सकते हैं ? नहीं, आप अगली वाली तोड़ने के लिये जीवित नहीं होंगे। चखना, खाना व आनन्द उठाना यह जाँच की प्रक्रिया पूरी होने के बाद ही कर सकते हैं। इसलिये आध्यात्मिक नियमानुसार इन्तजार जरूरी है। कब तक ? आवश्यकता हो अनंत तक, तुम्हारी अपनी भलाई के लिये, मेरे लिये नहीं। इस प्रकार मनुष्य के बनाये गये नियमों के विपरीत आध्यात्मिकता में एक

व्यक्ति हमसे कहता है कि तुम्हें जाँच करने की जरुरत भी नहीं क्योंकि मैं सब कर चुका हूँ, केवल मेरे साथ आओ। मैं तुम्हें बताऊँगा कि तुम्हारे लिये क्या अच्छा है। अगर तुम वैसा करोगे तो तुम्हें कोई समस्या नहीं होगी, तुम बार बार जाँच करते हो और जोखिम उठाते हो।

एक गुरु के जीवन का कार्य यही है, हमें बार बार इन गड्ढों, नालों में गिरने से बचाना वहाँ से शायद हम स्वयं कभी उठ भी नहीं सकते। वे हमें गिरने से बचाते हैं और कहते हैं "मुझे तुम से कुछ भी नहीं चाहिये। तुम मुझे क्या दे सकते हो जो मेरे पास नहीं है। अगर मुझे कुछ चाहिये होता तो मैं तुम्हारे साथ इधर नहीं बल्कि तुम्हारी तरह तुम्हारे ही बीच तुम्हारा एक हिस्सा होता।" यह सोचने की गलती मत कीजिये कि गुरुदेव आपसे कुछ लेने आते हैं। हो सकता है कि वे मजाक करें, मजे के लिये आपके साथ बैठ कर आइसक्रीम व केक खायें। परन्तु याद रखिये गुरु हमेशा दाता और हम हमेशा लेने वाले होते हैं।

जैसा मैंने कल कहा था मैं अपने गुरुदेव का शिष्य हूं और सदैव रहूँगा। मेरे लिये उनको कुछ देने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? मैं आपको क्या दे सकता हूँ ? यदि मैं उनकी ही तरह पूर्ण भी हो जाऊँ फिर भी मैं उनको क्या दे सकता हूँ ? उन्होंने ही तो मुझे पूर्ण बनाया है। पेड़ तो फल देता ही है, क्या फल पेड़ को कुछ वापिस दे सकता है—"ओ प्रिय पेड़, मुझसे कुछ वापस ले लो।" यह नियम नहीं है। सदैव याद रखो कि गुरु हमेशा देने के लिये आता है। वह हमें क्या देने आता है ? न स्वास्थ्य, न सम्पत्ति, न बुद्धिमत्ता, यह सब तुच्छ चीजें हैं। वह हमें अपने आप को देने के लिये आता है। अपना बीजारोपण हमारे हृदय में करने आता है, ताकि वह हमें बढ़ते हुए, बनते हुए देख सके। हममें से जिनको बागवानी का शौक है वह जानते हैं कि बीज डालने के बाद कितने धैर्य से वह इन्तजार करते हैं कि उसमें से पौधा निकले और वह एक पेड़ बने। और अगर पौधा नहीं निकलता तो हमें दुःख होता है।

मुझे याद है जब मैं पहली बार यूरोप आया था, शायद १९४९ में, उस समय आप में से अधिकतर शायद पैदा भी न हुए हों। मैंने एमस्टर्डम से ट्यूलिप के बल्ब खरीदे थे क्योंकि मुझे वह बहुत पसन्द थे। मैंने एक दर्जन बल्ब बहुत ही मँहगी कीमत पर खरीदे थे—शायद एक डालर प्रति बल्कि की दर से। उस समय डालर शायद २ या ३ रूपये का था और अपने देश में शायद उस कीमत पर मैं ६ किलो आलू खरीद सकता था। यह मेरी बेवकूफी

थी। जब मैंने उन्हें घर जाकर लगाया तो उसमें से एक भी नहीं निकला।

माली के रूप में भी हम तभी कामयाब हो सकते हैं जब प्रकृति हमारा साथ दे। जब मैं गुरुदेव के साथ जाता हूँ तो वे तो प्रकृति का साकार स्वरूप हैं, प्रकृति ही हैं, वह और कुछ हो तो नहीं सकते, तब मुझे पूर्ण सहयोग स्वयं ही मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं ट्यूलिप के बल्ब मद्रास में जाकर लगा दूं, मुझे पता है कि निम्न स्तर की प्रकृति जिसे हम वातावरण कहते हैं अपना सहयोग नहीं देगी क्योंकि मिट्टी व आबोहवा उसके लायक नहीं। यह ज्ञान तो हो ही जाता है। किसी चीज को अपनी जगह से उखाड़ कर दूसरी प्रतिकूल जगह में मत लगाओ, वह नहीं पनपेगी। वह जहाँ है वहीं पर उसका आनन्द उठाओ। इसमें आनन्द की भावना नहीं और न सौन्दर्य बोध का सुख उठाने की बात है बल्कि कब्जा जमाने का चिन्ह है, हम एक चीज को एक जगह से उठा कर दूसरी जगह ले जाते हैं ताकि हम रोज सुबह उसे देख सकें।

क्या तुम सूर्य को उदय होने से रोक कर कह सकते हो "रुक जाओ मैं तुम्हारा चित्र बनाना चाहता हूँ" गरिमामण्डित सूर्योदय। सूर्य तुम पर हँसेगा "अगर तुम में काबलियत है तो मेरे दिखाई देने तक चित्र बना लो, जल्दी उठ कर अपना सामान तैयार करो और जैसे ही सूर्योदय हो मुझे पकड़ लो।" सब चित्रकार ऐसा ही करते हैं, वह सूर्य को रोकने का प्रयत्न नहीं करते। हमें भी उस क्षण की प्रतीक्षा करनी है, जो कि हमारे कल्याण के लिये हमारे अनन्त जीवन का रास्ता खोलता है। जैसा कि मैंने पहले भी कहा था वह 'अभी और यहीं' है न कि भविष्य में। सो भाइयों व बहनों अगर हम गुरुदेव का अनुसरण करें, और प्रेम तथा श्रद्धा पूर्वक उनके कहे पर चलें तो हमें भी वह अवसर मिलेगा कि हम अपना प्रेम अपने बाद छोड़ जायें, नहीं तो हम यहाँ अपनी नफरत, दु:ख, कुण्ठा व बीमारी अपने पीछे छोड़ कर जाते हैं, और वह सब बह जाता है।

सहज मार्ग यह आश्वासन देता है कि अगर तुम उसके प्रेम के बीज को स्वीकार करो तो तुम भी उसी प्रेम का स्वरूप बन सकते हो, और अपने बाद उसी प्रेम को छोड़ कर जा सकते हो। यह याद रखो और अपने जीवन का निर्देशन इस प्रकार करो कि यह आश्वासन उसकी कृपा से यथार्थ का स्वरूप ले ले।

Obey Master with love and Shraddha

Do it

31.8.96.

उलटफेर

३ अगस्त १९८७

इस विषय को समझाना बहुत मुश्किल है। एक चीज तो यह नहीं है विपरीतार्थक। जैसे कि जोड़ या घटाना, आदमी या औरत। इस के कई उदाहरण हैं। सब से पहला और महत्वपूर्ण उदाहरण शायद हृदय क्षेत्र का होगा। हृदय क्षेत्र में दो बिन्दु हैं "अ" और "ब"। "अ" "ब" से ऊपर स्थित है और उससे श्रेष्ठ भी है। परन्तु उदाहरणार्थ जब हम मनस् क्षेत्र में आते हैं तो यहाँ श्रेष्ठ क्षेत्र, निम्न क्षेत्र के नीचे स्थित है जब कि आप यह आशा करते हैं कि श्रेष्ठ क्षेत्र ऊपर स्थित होगा परन्तु यहाँ उल्टा हो जाता है, निम्न बिन्दु ऊपर और श्रेष्ठ बिन्दु नीचे है। जब आप और आगे केन्द्रीय क्षेत्र में जाते हैं तो फिर सब उलट जाता है, श्रेष्ठ बिन्दु ऊपर और निम्न बिन्दु नीचे हो जाता है।

इससे हमें यह फैसला करने में मुश्किल हो जाती है कि क्या श्रेष्ठ है और क्या निम्न है। मुझे याद आता है कि जब हम स्कूल में थे तो हमारा भूगोल से परिचय कराया गया। उस समय ग्लोब बहुत मँहगे थे और शायद भारत में थे भी नहीं। हमारे अध्यापक ने ब्लैक बोर्ड पर एक बड़ा गोला बनाकर, ऊपर से नीचे २३-१/२ डिग्री के कोण पर एक धुरी खींच दी यह दिखाने के लिये कि धरती ऐसे तिरछी है। यह समझना थोड़ा मुश्किल था उसका तिरछापन किस प्रकार है, क्योंकि आप को तो गोला (ग्लोब) सीधा दिखाई देता है। सबसे पहली मुश्किल तो इस तिरछेपन को समझने में थी कि गोला कैसा भी झुका हो परन्तु वह तो सदैव सीधा दिखाई देता है। एक गोला तो गोला ही है, २३-१/२ डिग्री पर एक काल्पनिक लाइन खींच देने से क्या होता है। क्या सचमुच उस का अस्तित्व है ? दूसरी कठिनाई जो समझने में है वह यह कि जब लोग पृथ्वी की सतह पर खड़े हैं तो जो गोले के नीचे की तरफ खड़े हैं वह उलटे खड़े होंगे तो वह गिरते क्यों नहीं ? उस समय हमें गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के बारे में पता नहीं था। परन्तु जब तुम एक ओर से देखो तो गोले के दूसरे छोर पर लोग उलटे खड़े होंगे, कम से

कम उन के सिर दूसरी दिशा में होंगे हालाँकि हर एक अपनी स्थिति में सीधा खड़ा होगा। इसे भी उलट-फेर का सिद्धान्त कह सकते हैं। जो हमें उलटा दिखता है वास्तव में वह उन लोगों के लिये सीधा है। यह स्कूल में सीखा गया एक सिद्धान्त है जो मुझे गुरुदेव के पास आने के बाद समझ में आया।

फिर यह दुःखद व तकलीफदेह है पर अक्सर दिखाई देता है कि जो गरीब हैं वे दयालु, उदार व प्रेमी होते हैं और जो लखपति हैं और हजारों रूपये फेंक सकते हैं, वह एक पैसा भी नहीं देते, वे तंगदिल, कंजूस व लालची हैं। हम देखते हैं कि जिसके पास कुछ भी नहीं वह सब कुछ देने को तैयार है और जिन के पास सब कुछ है वह कुछ भी देने को तैयार नहीं। यह एक और उलट-फेर के सिद्धान्त का दृष्टान्त है।

फिर हम वैरीना द्वारा उल्लिखित उदाहरण साधना में पुरुषों और स्त्रियों के विषय पर आते हैं। यह एक अत्यन्त प्रमुख बात है कि यदि आप हिन्दू ऋषियों, सूफी सन्तों या ईसाई सन्तों के साहित्य को पढ़ें तो हालांकि मैं ईसाई सन्तपन का विशेष समर्थक नहीं, क्योंकि वह मुझे अत्यधिक बनावटी लगता है। किसी के मरने के २५० वर्ष बाद कोई और यह फैसला करता है कि वह चमत्कार थे और पोप उसे सन्त का खिताब देता है। मरणोपरान्त सन्त होने के खिताब को मैं ज्यादा महत्व नहीं देता। फिर भी हम देखते हैं कि महिला सन्तों की सूची बहुत ही छोटी है—औरतों के विषय में मैं यह सुझाव देने की धृष्टता करूँगा कि जितना ही औरतों ने बराबरी का दावा किया उतना ही उन्होंने उसे असिद्ध किया है और वे पुरुषों के अधीन ही हुई हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण आन्दोलन नारी मताधिकार की मांग से प्रारम्भ हुआ था। जितना उन्होंने बराबरी का दावा किया उतना ही वह बराबरी के तराजू में कम होती गईं। और आज यह दुःखद नजारा देखने को मिलता है कि नारी सृष्टि की सब से वांछनीय व अपेक्षित वस्तु बन गई है, साथ ही उसका सर्वाधिक दुरूपयोग हो रहा है तथा वह सस्ते मोल बिकने वाली वस्तु हो गई है। वैरीना मेरे इन शब्दों के लिए क्षमा करना।

यह उलट-फेर के सिद्धान्त का एक और उदाहरण है, जब तुम किसी चीज का दावा करते हो तो तुम्हें कुछ भी हासिल नहीं होता और जब तुम्हारे पास सब कुछ होता है तो तुम कुछ भी दावा नहीं करते। यह विरोधात्मक नहीं क्योंकि यदि किसी मनुष्य को कहना पड़े कि वह अमीर है, तो वह अमीर नहीं हो सकता क्योंकि इस का अर्थ है कि वह अपनी सम्पत्ति को

गिन सकता है और अमीर होने का अर्थ है कि उस का मूल्यांकन सम्भव न हो। इसी प्रकार बुद्धिमान उसे कहा जाय जो किसी प्रोफेसर द्वारा प्रभावित किये जाने के दायरे के बाहर हो। अगर हमें किसी शिक्षक का प्रमाणपत्र दिखा कर कहना पड़े कि, "वह कहता है कि मैं बहुत बुद्धिमान हूँ" तो इस का अर्थ है कि हम उस से कम बुद्धिमान हैं। किसी व्यक्ति या चीज का मूल्यांकन करने व उस पर फैसला देने के लिये, हमें उस से उच्च स्थिति में होना चाहिये। किसी की परख करने के लिये उस से उच्च होना आवश्यक है, उस से निचले स्तर पर होते हुए हम उस की परख नहीं कर सकते। परख करने वाला परखे जाने वाले से हमेशा उच्च स्तर पर होगा। यहाँ फिर हमें उलट-फेर के सिद्धान्त का बहुत सुन्दर उदाहरण मिलता है—जब हम ध्यान का आरम्भ करते हैं तो हमें कुछ अच्छे अनुभव होते हैं, जैसे शांति, सौम्यता, एक स्थिरता का, एक खामोशी का आभास होता है, विचारों का रुकाव, एक चेतना की विस्मृति सी होती है और जब हम आँखें खोलते हैं तो सब गायब और हमें बताया जाता है कि यह दिव्यता की क्षणिक झलक है। हम और उन्नति करते हैं और कुछ इसी प्रकार के अनुभव होते हैं—परन्तु एक दूसरे स्तर पर। इस प्रकार हमारे अनुभवों की गहराई का स्तर बदलता है, अनुभव नहीं। फिर एक और तीसरी स्थिति में, सब विचार गायब हो जाते हैं कि हम कौन हैं, कहाँ हैं, क्यों हैं। और तब कोई हम से कहता है कि आज तुम्हें चेतनता की एक झलक दिखाई गई है। फिर अगर हम भाग्यवान हैं और मालिक की कृपा है तो एक दिन हम ध्यान में बैठते हैं और सम्भवतः पुनः इस यथार्थ में जागते ही नहीं। हम विकास की एक ऐसी उच्चतर सत्ता में विलीन हो जाते हैं जहाँ हमारे पाँव तो धरती पर होते हैं परन्तु वस्तुतः हम कहीं और होते हैं। तुम घूमने निकलते हो तो लगता है कि तुम नहीं यह कोई और चल रहा है और या तुम २७ किलोमीटर ऊंचे हो और नीचे तुम्हें कोपेनहेगन दिखाई दे रहा है। मुझे अक्सर ऐसा आभास होता है।

जब मैंने गुरुदेव से इस विषय में पूछा तो उन्होंने कहा कि, "सत्य यह है कि जिस शरीर में तुम समाये हुए थे अब उस शरीर को तुम पैर के छोर में लटकाये हुए हो।" तुम्हें अभी और इस भौतिक संसार में रहना है अतः इस की आवश्यकता है। यहाँ फिर उलट-फेर के सिद्धान्त का आश्चर्यजनक स्वरूप देखने को मिलता है। जिस शरीर को मैंने सब कुछ माना था—कि इस के बगैर मैं जीवित नहीं रह सकता उस की आवश्यकता मुझे केवल

सांसारिक दिखावे के लिए है, कि हाँ मैं यहाँ हूँ, उस का महत्व एक कागज के रुमाल से, जिसे हम प्रयोग कर फेंक देते हैं, अधिक नहीं। वह एक पासपोर्ट की तरह है जो मेरी पहचान है, वह मेरे व्यक्तित्व की निशानी है, स्वयं मैं नहीं। बिना शरीर के आप मेरे अस्तित्व को नहीं पहचानेंगे, यह कैसे कहेंगे कि "चारी यहाँ है।" सो आप देखते हैं कि जिसे आप जिन्दगी समझते थे वास्तव में जिन्दगी नहीं और जिसे आप मौत समझते थे शायद वही वास्तविक अस्तित्व है—जैसे कि मुझे लगा मैं २७ किलोमीटर ऊँचा हूँ, मेरा सिर संसार से भी ऊँचा है और मुझे मद्रास या कोपेनहेगन एक बिन्दु के समान नजर आते हैं। तभी गुरुदेव आकर कहते हैं, "यह भी नहीं" तुम ने सोचा था कि अस्तित्व केवल शरीर में है अब तुम्हें पता चला कि वह शरीर के बाहर है, रुको और देखो आगे क्या पता चलता है ? हो सकता है किसी और परिस्थिति में पता चले कि मेरा शरीर ७० करोड़ लाख किलोमीटर ऊँचा है और वह शरीर मानव का शरीर नहीं परन्तु ब्रह्माण्ड का एक हिस्सा है और मेरी आत्मा उस तमाम ब्रह्माण्ड के उस पूरे हिस्से में व्याप्त है जिस की सेवा का भार मेरे ऊपर है। तब वह मेरा अस्तित्व है। मैं अभी शरीर में हूँ। मेरा शरीर मनुष्यों के लिये है जिसे देख कर वे कहते हैं, "चारी यहाँ है और कल लॉस एन्जेलेस जा रहा है, हम दुःखी हों या नहीं ?" और दूसरा मेरा वास्तविक शरीर है जो ब्रह्माण्ड का अंश है। जब मैं ध्यान करता हूँ तो इस शरीर में करता हूँ या उस में ? दोनों ही सत्य हो सकते हैं या दोनों में एक भी सच न हो।

फिर एक तीसरा चमत्कार होता है कि मैं देखता हूँ कि जब मैं ध्यान करता हूँ तो ब्रह्माण्ड का वह अंश जो मेरा हिस्सा है, वह भी मेरे साथ ध्यान में है। यह प्रथमतः हमारे सामूहिक सत्संग में होता है जैसे कल शाम की सिटिंग में हुआ था। मैंने एक विशेष प्रणाली का प्रयोग किया और मुझे ज्ञान था कि यहाँ मौजूद थे वह सब मेरे साथ ७ मिनट के लिये समाधि में थे। इसलिये नहीं कि वे खुद समाधि में थे परन्तु इस लिये कि वे मेरा हिस्सा थे और जिस समय मैं समाधि में था उस समय वे मेरी हालत से भिन्न हालत में हो ही नहीं सकते थे। किन्तु उन्हें इसका ज्ञान हुआ ? बिल्कुल नहीं। हो सकता है कि कुछ भाग्यशाली हों जिनमें यह क्षमता थी कि उस समय उनमें जो कुछ उड़ेला गया उसमें डूब सकें; उन्हें यह महसूस हुआ हो और उन्होंने सोचा होगा, "अहा, आज मैं समाधि में हूँ।" अगर मैं उनसे कहूँ कि मैं समाधि में हूँ तो शायद हम लड़ाई शुरू कर दें। अगर मैं उनसे कहूँ कि "हम

समाधि में है" तो यह भी शब्दों का गलत प्रयोग होगा सो मैं कहता हूँ कि यह मैं नहीं, यह मैं भी नहीं परन्तु एक तीसरा मैं जो त्रिआयामी या चतु:आयामी है, जो हम सब को एक ऐसे अस्तित्व में ढाल देता है, जहाँ हम सब मिल कर "मैं हूँ" का प्रयोग कर सकते हैं।

यहाँ फिर उलट-फेर का सिद्धान्त दिखाई देता है कि किस प्रकार वैयक्तिकता का भेदन कर एकता का गठन होता है। भौतिक रूप में किन्हीं दो व्यक्तियों का मिलन कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँध कर नहीं वरन हमारे अस्तित्व के केन्द्र बिन्दु को एक कर। हम सब के अस्तित्व के एक केन्द्र बिन्दु। यही भगवान की भी परिभाषा है कि उस का केन्द्र सब जगह है और परिधि कहीं भी नहीं—यह भगवान की एक परिभाषा है।

मेरे आध्यात्मिक स्तर पर, एक तरह से मानव होते हुए भी, दैहिक अनुभव होते हैं और दैहिक होते हुए भी मानवीय अनुभव। यह फिर उलट-फेर का सिद्धान्त है। इस का उल्लंघन हम किसी हालत में नहीं कर सकते जैसे कि विज्ञान के सिद्धान्तों का उल्लंघन हम किसी हालत में भी नहीं कर सकते। इस का विरोध किये बगैर हम बहुत रोचक परिस्थिति का अनुभव करते हैं। एक ओर हम परमात्मा से कुछही कम होते हुए भी हम बिल्कुल मानवीय हैं। एक दूसरे के साथ बैठ कर हम एक दूसरे की सामीप्यता का आनन्द उठाते हैं, एक साथ खाते पीते हैं, विभिन्न विषयों पर चर्चा करते हैं—जैसे राजनीति, नैतिकता, समाज में नारी की स्थिति आदि—फिर इस बुद्धूपने पर आश्चर्य करते हैं कि हम सब एक हैं फिर भी हम अलग अलग हैं।

परन्तु यह मूर्खता भी नहीं है। जैसे एक मानव शरीर विभिन्न कोशिकाओं (cells) से बना होता है और हर कोशिका की अपनी एक पहचान होती है, चेतना होती है, एक अस्तित्व होता है, एक जीवन क्रम होता है तथापि वह सब मैं हूँ। एक माने में हर बार किसी भी एक कोशिका की मृत्यु का अर्थ है मेरी मृत्यु। परन्तु जब उस 'मैं' की—जो यह कहता है, मृत्यु होती है तो एक भी कोशिका जिन्दा नहीं रह सकती। पुनः यह उलट-फेर का सिद्धान्त है, मेरा अस्तित्व मेरी कोशिकाओं द्वारा है, उन का अस्तित्व मेरे द्वारा है, हम दोनों अपने अस्तित्व के लिये एक दूसरे पर निर्भर हैं। परन्तु अगर कोशिकाएँ यह सोचें कि मेरी खैरियत उन के दम से है तो मैं एक क्षण में करोड़ों कोशिकाएँ निकाल कर फेंक सकता हूँ, उन पर इस का असर होगा, मुझ पर नहीं। गुरुदेव की अनुकम्पा से जब मैं उस स्थिति में

प्रवेश पा जाता हूँ जहाँ मैं २७ किलोमीटर ऊँचा होता हूँ और मेरा शरीर एक उपांग की भाँति लटक रहा होता है उस समय मैं कोशिकाओं से बने इस शरीर को, इस भौतिक शरीर व भौतिक विज्ञान को, अलविदा कह सकता हूँ। क्या इसका अर्थ यह है कि मैं उन नियमों के परे हूँ ?

यहाँ फिर वह सम्मोहक सिद्धान्त आ जाता है। जब तुम स्वतन्त्रता के पीछे भागते हो तो उसे खो देते हो। और जब हम अपनी स्वेच्छा से स्वतन्त्रता के विचार को त्याग देते हैं तो हमें उस पूर्ण असीम स्वतन्त्रता का आभास होता है जो ब्रह्माण्ड में पूर्ण व्याप्ति की स्वतंत्रता है। इसका विश्वास केवल अनुभव के बाद ही होता है। उलट-फेर के सिद्धान्त की प्रक्रिया है, तुम स्वतंन्त्रता को पकड़े रहो तो केवल गुलाम बन जाते हो, बराबरी का दावा करो तो बराबरी से पीछे रह जाते हो। इसी प्रकार जब तुम नारीत्व का दावा करते हो तो तुम उस से कुछ कम हो। यह कितना साधारण व घटिया लगेगा अगर किसी लड़की को यह कहना पड़े "चारी, मैं एक लड़की हूँ"। क्या यह कहने की बात है, क्या मुझे तुम्हें देख कर यह पता नहीं होगा कि तुम लड़की हो। इस बराबरी की दौड़ में एक से कपड़े और बाल आदि रखने के बेकार तरीकों से कितनी बार यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन लड़का है कौन लड़की। यहाँ फिर वह सिद्धान्त लागू होता है। स्वाभाविक रूप से जो तुम हो वही रहो तो तुम सब कुछ हो सकते हो, और जो तुम नहीं हो यदि वह बनने का प्रयत्न करो तो तुम कुछ भी नहीं बन पाओगे। हम घूम फिर कर बार-बार उसी सिद्धान्त पर आ जाते हैं, इसका उल्लंघन असम्भव है। जब तुम गुरु बनने का ढोंग करते हो तो तुम केवल एक दास बन कर रह जाते हो। मानवता की सेवा करो परन्तु उस में सेवक होने का बोध नहीं होना चाहिए। हम सेवक नहीं हैं : जैसाकि बाबूजी ने कहा है, "सेवा बिना सेवक होने की भावना के।" हम सेवा करते हैं पर सेवक की हैसियत से नहीं। हम सेवा करते हैं क्योंकि वह हमारा स्वभाव है, क्योंकि गुरुदेव कहते हैं कि सेवा करो। हम गुरुदेव के प्रति गौरव धारण करके सेवा करते हैं, इसलिये हम तुम्हारी सेवा करते हुए भी गुरुदेव की सेवा में सेवारत रहते हैं। यहाँ फिर वह प्रक्रिया देखने को मिलती है, हम जिस की सेवा करते दिखाई देते हैं, वास्तव में उसकी सेवा नहीं कर रहे, परन्तु उसकी सेवा कर रहे हैं, जिसको हमारी सेवा की आवश्यकता नहीं—हमारे गुरुदेव।

Very = Connect thought

यह कैसी सेवा है कि इसकी सेवा करते हुए मैं उसकी भी सेवा कर

रहा हूँ ? और अगर मैं उसकी सेवा करूँ तो मैं अपने यहाँ के कर्तव्य की सेवा में पिछड़ जाता हूँ। इस उलट-फेर के सिद्धान्त को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई है, पाश्चात्य सोचने का सीधा ढंग। और दूसरी कठिनाई है पुरानी ब्रह्मविद्या की कहावत जो कि अन्तिम सत्य के करीब मानी जाती है "जैसा ऊपर वैसा ही नीचे"। ऐसा कभी नहीं हो सकता। अगर मेरे स्तर से ऊपर कुछ है तो जब तक मैं वहाँ पहुँचता हूँ, वह और अगले स्तर के लिए नीचे हो जाता है। जिस को मैंने ऊपर सोचा था, वास्तव में नीचे हो जाता है क्योंकि आश्चर्यजनक तरीके से एक और सतह खुल जाती है जो कि ऊपर है। इस प्रकार मुझे मालूम पड़ता है कि मैं प्रगति करते हुए एक के बाद एक सतह उस असीम अनन्त से नीचे लाता चला जाता हूँ और वह सदा के लिये एक सघनित रूप में मेरे नीचे हो जाते हैं और इसी प्रकार मेरे ऊपर भी एक चिरस्थाई 'ऊपर' बना रहता है जो कि नीचे से भिन्न है। सो 'जैसा ऊपर वैसा नीचे' एक मूर्खतापूर्ण दार्शनिक दिखावे का वक्तव्य है।

जब तक मैं अपने गुरुदेव के सम्पर्क में नहीं आया था, मेरी समझ में यह नहीं आया। उन्होंने शाब्दिक रूप से कुछ नहीं कहा परन्तु इस का अनुभव कराया कि एक इन्सान होते हुए भी मैं कैसे दिव्यता में लगातार आगे बढ़ रहा हूँ। और इस का एहसास सांसारिकता से दूर आँखें बन्द करके उस शांति व सौम्यता में ही हो सकता है। उस समय दिव्यता के एक नये पहलू या नये स्तर का अनुभव मुझे होता है जो कि मेरे अन्दर प्रवेश कर मेरे अस्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है और मुझे इस की चेतनता नहीं रहती, फिर भी वह मैं हूँ। इसी तरह आगे बढ़ते हुए गुरुदेव की कृपा से एक और स्तर मेरे में प्रविष्ट होता है, बिना मेरे एहसास के, क्योंकि वह मेरा अभिन्न अंग बन उस में रम जाता है। इसी तरह एक के बाद एक स्तर उतरता चला आता है और आश्चर्यजनक रूप से मैं दिव्यता में बढ़ता चला आता हूँ बिना किसी चेतनता के। यहाँ तक कि जब वह अन्तिम स्तर भी उतर आता है, मुझे होश नहीं क्योंकि वह मैं ही हूँ। मैं वही था, वही हूँ और मेरी चेतनता में वह एक ही है। सांसारिक चेतना में अस्तित्व के आश्चर्यजनक विभिन्न स्तर हैं। सहज मार्ग का सत्य है कि ईश्वर को यह चेतना नहीं कि वह ईश्वर है। यह सबसे बड़ा उलट-फेर है। अगर ईश्वर यह कहे कि वह ईश्वर है तो वह ईश्वर है ही नहीं। क्यों कि तब उसे यह पता लगाना पड़ेगा कि 'वह' क्या है। यह कैसे सम्भव है कि ईश्वर हो और उसके बाहर भी कुछ हो। जहाँ द्वैत आया वहाँ वह समाप्त हो गया। सो ईश्वर बिना यह जाने कि वह ईश्वर

है इस धरती पर चल सकता है। हमें पता है कि वह ईश्वर है। अगर आप कहें कि, "बाबूजी क्या आप ईश्वर नहीं हैं," तो वह अपनी शर्मीली मुस्कान से उत्तर देंगे, "पता नहीं, ईश्वर से पूछना पड़ेगा।"

यही आत्मज्ञान का रहस्य है। आत्मज्ञान असम्भव है। 'अपने आप को पहचानो' यह अनन्त के मार्ग पर एक गलत चिन्ह है और मुझे आगे ले जाने के बजाय पीछे ले जा रहा है। बाबूजी कहते हैं कि 'अपने आप को भूलो।' यह पाश्चात्य विचारधारा के लिये स्वीकार करना असम्भव है। वह कहेंगे, "आप का क्या मतलब ? मैं यहाँ चेतनता के लिये, सतर्कता के लिये, आनन्द के लिये हूँ, मैं एक पुरुष हूँ या स्त्री हूँ और आप कहते हैं कि भूल जाऊं। मैं यहाँ अपने आप को पहचानने के लिये आया हूँ, न कि भूलने के लिये। और गुरुदेव आप अपना कार्य करिये और मुझे इस विषय में बताइये।" और बिचारे गुरुदेव कहेंगे, "अच्छा, हम कोशिश करते हैं।"

जिस क्षण हम नर या नारी बन कर सत्संग में अपना अधिकार जताना चाहते हैं, हम एक तरह से अपनी वह सुविधा खो देते हैं, जो ध्यान द्वारा हम पाने की कोशिश कर रहे हैं—बढ़ते हुए स्वाधीनता के स्तर, उन्हीं को खो बैठते हैं। क्योंकि हम जो ठीक सोचते हैं उसी से चिपके रहते हैं, बजाय इस के कि अपने आप को गुरुदेव पर छोड़ दें कि—"जो आप ठीक सोचते हैं उस रूप् में मुझे ढाल दें।" यहाँ फिर उलट-फेर के सिद्धान्त का दुःखद स्वरूप देखने को मिलता है। जब तक हम यह सोचते हैं कि हम यह हैं तब तक हम वह नहीं बन पाते जो हमें बनना चाहिए।

मैंने आप को काफी उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है और मैं इस विषय पर पूरे दिन बात कर सकता हूँ, क्योंकि मुझे यह विषय बहुत आकर्षक लगता है। अपने आप को छोड़ दो तो तुम्हें सब कुछ मिल जायेगा और पकड़े रहो तो जितना तुम्हारी मुठ्ठी में है वही तुम्हें हासिल होगा। उलट-फेर का सिद्धान्त कहता है कि तुम्हारी शारीरिक चेतना ही तुम्हारी कैद है, जितना तुम शरीर को ही स्वयं समझते हो उतना ही तुम उसके द्वारा और उसमें बँधते जाते हो। जितना तुम उस को भूलते हो, भूलते हो कि तुम नर हो या नारी, श्वेत हो या काले, उतना ही तुम अपने वास्तविक तत्व के करीब हो। उलट-फेर के सिद्धान्त द्वारा यह मुक्ति की पहली सीढ़ी है और उस के पश्चात क्रमशः एक एक करके स्तर आते हैं।

इस शानदार सिद्धान्त की मिसाल, दुनिया के किसी भी दर्शनशास्त्र में मुझे नहीं मिली। शाहजहाँपुर के एक अर्धशिक्षित हिन्दुस्तानी ने दुनिया को

यह सच दिखाया। हम पी.एच.डी. विश्व-विद्यालय की डिग्री और शिक्षकों की बात करते हैं। भगवान उन का भला करे, उन की आवश्यकता है पर हमें गुमराह करने के लिये नहीं। इन शिक्षकों से बचो (हास्य), होशियार रहो, बुद्धि के आकर्षणों से बचो। जब यह सब कबाड़ हम सुन्दर कागज पर छापते हैं तो हमें डिग्री बेशक मिल जाती है। मैं भी इन डिग्रियों से बहुत प्रभावित होता था और कभी सोचता था, काश मैं भी पी.एच.डी. होता। परन्तु दुर्भाग्यवश या सौभाग्यवश मुझे ऐसा अवसर नहीं मिला, ताकि मैं इस महान सत्य को श्रेष्ठ बुद्धि से ग्रहण कर सकूँ जो कोई भी विश्वविद्यालय नहीं पढ़ा सकता। इसके लिये आवश्यकता है गुरु की। यह अन्तिम उलट-फेर का सिद्धान्त है, कि वह व्यक्ति जिस के पास सेहत नहीं, हमें सेहत दे सकता है, स्वयं ज्ञान नहीं परन्तु हमें ज्ञान दे सकता है। जिस के पास दिखाई देने वाला कुछ भी नहीं परन्तु वह हमें सब कुछ दे सकता है—यह उलट-फेर के सिद्धान्त का चरम बिन्दु है।

१२९५

आश्रम

४ अगस्त १९८७

मैं कुछ शब्द कह कर आप को उस पर विचार करने के लिये छोड़ दूँगा। मेरे विचार में इस विषय पर सब को नहीं बोलना चाहिए। हम इस विषय पर क्या कह सकते हैं, मुझे नहीं मालूम। अगर बाबूजी मुझ से पूछते कि आश्रम कहाँ बनवाना चाहिए तो मुझे इस का उत्तर नहीं पता होता, क्योंकि उन्हीं को पता है कि आश्रम कहाँ होना चाहिए।

मुझे याद है कि जब बाबूजी के दिल में आश्रम का विचार आया, उस समय हमारे पास जमीन का एक छोटा टुकड़ा था जो एक अन्य आश्रम के करीब था। वह सड़क की सतह से ५, ६ मीटर नीचे था और उसके सामने एक गन्दा नाला था। हमने यह महसूस किया कि इस की सतह ऊपर कराने और नाले पर पुल बनवाने का खर्चा, जमीन की कीमत से दस गुना अधिक आयेगा, और फिर आश्रम बनवाने का खर्चा। इस से साबित होता है कि केवल आर्थिक पहलू ही विचारणीय नहीं। कई बार हम कोई चीज सस्ती खरीद लेते हैं और फिर वह बेकार हो जाती है क्योंकि हमें समझ में नहीं आता कि इस का क्या करें।

फिर हमने उस जमीन को बेच कर एक नई जमीन खरीदी जिस पर अब आश्रम बना हुआ है। इस पर बहुत आलोचना हुई कि आश्रम शाहजहाँपुर में क्यों ? दिल्ली में क्यों नहीं ? वह भारत की राजधानी में होना चाहिये। मुझे समझ में नहीं आता कि आध्यात्मिकता का राजनीतिक राजधानी से क्या सम्बन्ध, परन्तु कई लोगों का ऐसा विचार था। कई लोगों का विचार था आश्रम चौकोर होना चाहिए, किसी का विचार था आयताकार होना चाहिए। किसी ने कहा अंडाकार होना चाहिये क्योंकि यह भविष्य के लिये है, हो सकता है कि एक दिन अंडा फूटे और उसमें से चूजा निकले, आदि आदि। सो यह सब चर्चा का विषय नहीं है। इस तरह तो केवल शोर होगा और हम किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँच पायेंगे। मैं एक सुझाव देना चाहूँगा कि आप सब को पता है कि आश्रम का मकसद क्या है। सो एक

समिति का गठन कीजिये जो इस पर विचार करे।

हम सभी को हमेशा समिति से भय लगता है, मुझे भी समितियों से भय लगता है, परन्तु इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं। समिति का गठन होने पर वह किसी न किसी निर्णय पर तो पहुँचेगी।

खिड़कियाँ, दरवाजे, संडास आदि भूल कर सब से पहले यह सोचने की जरूरत है कि क्या हमें आश्रम की आवश्यकता है, फिर इसका फैसला होने के बाद ही यह सोचने की आवश्यकता है कि कितना बड़ा होना चाहिए आदि आदि। हम समस्या को गलत दिशा से देख रहे हैं।

दूसरी बातें जो मैं कहना चाहूँगा वह यह है कि रेने कह रहे थे कि डेनमार्क के लोग इस प्रस्ताव से खुश नहीं हैं। शायद वे सोचते हैं कि अगर आश्रम डेनमार्क से बाहर हुआ तो उन्हें वहाँ आने जाने में ज्यादा पैसा खर्च करना पड़ेगा और जिस देश में आश्रम स्थित होगा वहाँ के लोगों को मजा है, उन को आराम हो जायेगा। परन्तु अगर तुम सब को हर वर्ष शाहजहाँपुर आना पड़े तो कितना पैसा खर्च होगा, उसके मुकाबले में कुछ बचत होगी। हमें इस प्रकार नहीं सोचना चाहिए कि अगर फ्रांस में आश्रम हो तो वहाँ के लोगों की कितनी बचत होगी और डेनमार्क के लोगों को टूलोन, नाइस या पैरिस आने में पैसा खर्च करना पड़ेगा। पर बाकी सब को करीब करीब बराबर खर्चा पड़ेगा क्योंकि सब से फासला करीब करीब बराबर है।

ऐसे ही अविवेकपूर्ण ख्याल सदा हमारे विवेकपूर्ण फैसले में बाधक रहे हैं। मैं अपने पड़ोसी से ज्यादा क्यों खर्च करूँ ? इस प्रकार आश्रम कहाँ बनेगा ? प्रत्येक अभ्यासी यही चाहेगा कि वह मेरे घर में हो ताकि मुझे कहीं न जाना पड़े। इस तरह तो कोपेनहेगन के लोग कहेंगे फीन या जटलैंड[१] के लोगों को इतनी दूर आना पड़ेगा। फीन वाले कहेंगे आश्रम फीन में हो और जटलैंड वाले कहेंगे आश्रम जटलैंड में हो। इस नजरिये से देखते रहे तो आश्रम कभी भी नहीं बन पायेगा। आश्रम एक भौतिक वस्तु है सो कहीं न कहीं तो होगा, कुछ लोगों से दूर होगा और कुछ के पास होगा। कहीं ज्यादा ठन्ड होगी तो कहीं ज्यादा गर्मी। सो हमें इस तरीके से नहीं सोचना चाहिए। सर्वप्रथम तो यह निर्णय लेना है कि आश्रम की आवश्यकता है कि नहीं ? रेने को चाहिए कि कुछ ऐसे लोगों का गठन करें जो इस समस्या पर वस्तुगत रूप से विचार कर सकें, न कि अपने व्यक्तिगत रूप से कि उन्हें किस में

---

१. डेनमार्क के दो भाग

फायदा है।

क्या हमें आश्रम की आवश्यकता है ? वह कहाँ होना चाहिए कि वह आदर्श परिस्थितियों में आश्रम का काम दे सके ? कितना बड़ा होना चाहिए ? आज वह कितना बड़ा होना चाहिए और अगले १५-२० वर्षों में हम उसे कितना बढ़ा सकेंगे, आदि आदि ?

ऐसे तर्कसंगत निर्णय लिये जाते हैं तो इस योजना में सफलता मिल सकती है, नहीं तो हम हर बार इस पर केवल बातचीत ही करते रह जायेंगे और हमारे पास इस विषय पर केवल सुनने लायक टेप ही रहेंगे और कुछ नहीं। सो कृपया इस पर एक तर्कसंगत ढंग से विचार करिए और पहले इस की जरुरत तय करिए। चारी के विषय में मत सोचिये, वह तो कहीं भी पहुँच सकता है, आखिर इस के लिये पैसा तो आप ही देते हैं। अगर मुझे पैसा खर्च करना पड़ता तो मैं नहीं आता क्योंकि मेरे पास तो इसके लिये पैसा नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कैसे श्रीरामचन्द्र मिशन मानवता की भलाई के लिए काम आ सके। हमें देखना है कि क्या आश्रम से पश्चिम के लोगों को सुविधा होगी ? न कि चारी को दुनिया भर का सफर नहीं करना पड़े इस दृष्टि से विचार किया जाये। उसे सफर में आनन्द आता है कम से कम अभी, सो वह महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं है।

क्या यूरोप में आश्रम बनने से यूरोप के लोगों को फायदा होगा और अगर उन को फायदा होगा तो आश्रम कहाँ होना चाहिए और कैसे बनना चाहिए ? उस का कार्य क्या हो ? यह सब आपको सोचना चाहिये। सो इन सब बातों पर चर्चा करना मैं आप पर छोड़ता हूँ। और मैं बाद में िनी से पूछ लूँगा कि क्या फैसला हुआ। मैं आपको सफलता के लिये शुभ-कामनायें देता हूँ।

धन्यवाद।

गुरूदेव के साथ सैर

४ अगस्त १९८७

यहाँ से जाने के पूर्व कुछ और विचार आपके सम्मुख रखना चाहूँगा। मुझे पता नहीं कि आगे बढ़ने पर रास्ता और कठिन होता है कि नहीं। मेरी नजर में उसकी तुलना पहाड़ पर चढ़ने से की जा सकती है। शुरू-शुरू में वह बहुत आसान लगता है मानो एक बच्चे के खेल की भाँति, क्योंकि चारों ओर पेड़-पौधे, लोग, जानवर सब दिखाई देते हैं और चढ़ाई भी बहुत हलकी होती है। परन्तु अगर आप सचमुच ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ना चाहते हैं और चोटी पर पहुँचने की चाह रखते हैं, तो आपको पता होगा कि जरा आगे जाने पर कोई रास्ता नजर नहीं आता, आपको वह ढूंढना पड़ता है। इसी कारण पहाड़ पर चढ़ने वालों के साथ, हमेशा मार्ग दर्शक होता है, चाहे वह स्विट्जरलैंड के पहाड़ हों या हिमालय या एंडीज के। कोई भी इतना मूर्ख नहीं होगा कि बिना मार्गदर्शक के पहाड़ पर चढ़ने की सोचे, क्योंकि जब कोई रास्ता दिखाई नहीं देता उस समय केवल मार्ग दर्शक को ही पता होता है कि किधर से जाना है। आप ढूंढ़ते हैं परन्तु आपको कोई भी रास्ता दिखाई नहीं देता, उस समय वह मार्ग दर्शक अपनी जान को खतरे में डालते हुए कि कहीं आप उसे भी न गिरा दें, आपको अपने साथ रस्सी से बाँध कर आगे बढ़ता है। उस समय उसकी जिन्दगी भी आपके हाथ में होती है। यदि पीछे चलने वाला अपना विश्वास खो बैठे और भयभीत या शंकाग्रस्त हो जाए, तो वह खुद तो गिरेगा ही, अपने साथ उस मार्गदर्शक को भी ले डूबेगा, क्योंकि और कुछ तो हो ही नहीं सकता।

इन सब पहाड़ों पर चढ़ने के लिए पहले नीचे एक आधार कैम्प होता है, जहाँ पर कुछ दिन या कुछ हफ्तों के लिए व्यक्ति को रखा जाता है ताकि वह वहाँ के विरल वातावरण का आदी हो जाए क्योंकि वहाँ आक्सीजन कम होती है और चढ़ने के तरीके के सम्बन्ध में प्रशिक्षण दिया जा सके। पैरों और हाथों की उंगलियों को और खूँटियों को गड्ढों में जमा कर ऊपर चढ़ना सीखना पड़ता है। एक बार मैं एक भारतीय मित्र से बात कर रहा

था—शायद आप में से कुछ लोग ब्रिगेडियर ज्ञान सिंह को जानते होंगे—वह एक साहसी युवा- क्लब के प्रमुख हैं। वह यह अनुभव करते हैं कि भारत में लोगों में साहस की भावना समाप्त हो गई है, और वह उसे पुनः जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वह १२ वर्ष से अधिक उम्र के लोगों को पहाड़ पर चढ़ने और तेज धारा में नाव चलाने की शिक्षा देते हैं। एक बार मैंने उन्हें बच्चों को सलाह देते हुए सुना। हालाँकि वहाँ कोई पहाड़ नहीं था, एक छोटी सी चट्टान थी शायद तीस मीटर ऊँची, एकदम सीधी और ऊपर जाने का कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। वह बच्चों को फोटो दिखाते हुए बता रहे थे, "देखो यह गाइड (मार्गदर्शक) द्वारा छोड़े गये चिन्ह हैं। जब हम देखते हैं तो सीधा देखते हैं परन्तु रास्ता कभी भी सीधा नहीं होता कभी हमें थोड़ा हिस्सा घुटनों के बल चल कर जाना पड़ता है, कभी थोड़ा नीचे भी उतरना पड़ता है ताकि दूसरी ओर से ऊपर चढ़ सकें। रास्ता कभी टेढ़ा-मेढ़ा भी होता है।" उनमें से एक युवक ने पूछा कि ऊपर चढ़ने के लिए सबसे उत्तम तरीका क्या है ? उन्होंने कहा, "आँखें बन्द कर के प्रार्थना करो और फिर आँखें खोलकर अपने गाइड का अनुसरण करो। जहाँ वह कदम रखता है, वहीं तुम कदम रखो, जहाँ वह पकड़ता है वहीं तुम पकड़ो, उसीको देखते हुए उसके पीछे-पीछे चलते जाओ, न ऊपर देखो न नीचे।" ऊपर हम देखें तो फिर भी चलेगा, परन्तु नीचे देखने पर तुम अपनी दृष्टि से नापने का प्रयत्न करोगे और गिरने का भी खतरा रहता है। ज्यादातर यह मार्गदर्शक पहाड़ी लोग होते हैं, जो ज्यादा पढ़े लिखे व अमीर नहीं होते, उन्हें केवल पहाड़ पर चढ़ना आता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक पहाड़ पर चढ़ने के लिए भी आवश्यकता है हिम्मत की, कि मैं चोटी पर अवश्य पहुँचूँगा, चाहे मुझे इसमें जान भी जोखिम में डालना पड़े। जो इस जोखिम के लिए तैयार नहीं वे ऊपर नहीं पहुँच सकते। यह एक विचित्र बात है, जो मरने के लिए तैयार है वह बहुत कम मरता है, और जो उससे बचना चाहता है या घबराता है वह प्रति क्षण इस जोखिम में है ; सो हमें तैयार रहना चाहिए। कई बार न हमें कोई पैर रखने की जगह दिखाई देती है, न पकड़ने की और सामने केवल वह दुबला पतला गन्दा सा आदमी गाइड दिखाई देता है—जो शायद तीन दिन से नहाया नहीं और ऐसी भाषा बोलता है जो मुझे समझ में नहीं आती। उस समय केवल उसका अनुसरण करते हुए उसके पीछे-पीछे चलो। वह आपको अपने साथ केवल बाँध के ले चलता है, कुछ निर्देश भी नहीं देता केवल

रास्ता दिखाता है। साधारण जीवन में भी जब हमारे लक्ष्य बहुत ऊँचे होते हैं, तो उसे पाने के लिए हमें संघर्ष करना पड़ता है, मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। जो आसानी से मिल जाए वह हमें मूल्यवान नहीं लगता। सारे जीवन की शिक्षा व प्रशिक्षण का मकसद, हमें यह सिखाना नहीं कि हम कार्य कैसे करें ? परन्तु उसको करने की क्षमता को कैसे बढ़ायें। जब आप थक कर छोड़ देना चाहते हैं उस समय भी कैसे कार्यशील रहें, जब आप गिरने की हालत में हो, उस समय भी कैसे आक्सीजन की आखिरी साँस अपने अन्दर खींच कर आगे बढ़ें, क्योंकि एक सीमा पर पहुँचकर वापस मुड़ने का रास्ता बन्द हो जाता है। हम केवल आगे ही जा सकते हैं।

मुझे याद आता है कि एक बार मद्रास में बाढ़ आई हुई थी और मुझे व्यक्तिगत सत्संग के लिए जाना था—यह मेरे प्रशिक्षक बनने के पहले की बात है। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि मेरे घर के बाहर डेढ़ मीटर ऊँचा पानी था और वह करीब-करीब हमारे कमरे तक आ रहा था। तीन दिन से मद्रास शहर में अँधेरा था, बिजली नहीं थी, बसें नहीं चल रही थीं। बुधवार को मैं व्यक्तिगत सत्संग के लिए जाता था। सो उस दिन सब तरफ पानी और ऊपर घनघोर बादल जो बरसने को तैयार थे। मेरी पूजा साढ़े छः बजे शाम को थी। न कोई बस और न ही उस समय मेरे पास कार थी, अगर होती तो भी उन हालात में वह बेकार थी। मेरी पत्नी ने सदैव मुझे ठीक राह पर चलने का प्रोत्साहन दिया है, उसने कहा "बेवकूफ मत बनिये, आप जाइये, प्रशिक्षक आपकी प्रतीक्षा करेंगे।" मैंने उससे कहा, "तुम्हें पता तो है कि मैं दो चीजों से बहुत डरता हूँ, एक तो पानी में बिजली के तारों की करेंट में चिपकने से और दूसरा पानी के साँपों से।" एक बार हमारे घर के पास ही दो बच्चों की इसी तरह पानी में करेंट से मृत्यु हो गई थी—वह रात को सिनेमा देख कर घर आ रहे थे, घर के पास ही एक छोटा सा पानी का गढ़ा था जिसमें ऊपर से टूट कर बिजली के तार का एक सिरा पानी में गिर गया था और जैसे ही उन लड़कों ने पानी में पैर रखा उनकी करेंट से मृत्यु हो गई। अब मुझे भी जाने के लिए एक-डेढ़ मीटर पानी से गुजर कर जाना था और मैं भयभीत था। परन्तु मेरी पत्नी ने कहा, "चलो, हिम्मत बाँधो।" अब तो मुझे कोशिश करनी ही पड़ी और एक सूखी सी मुस्कान दे प्रार्थना करते हुए चल पड़ा।

अब आश्चर्यजनक बात यह है कि मेरे घर से सड़क ऊँची सतह पर है, सो पानी वहाँ कम होना चाहिए था ; परन्तु जैसे-जैसे मैं आगे गया पानी

बढ़ता गया, क्योंकि सब तरफ से पानी वहाँ सड़क पर आ रहा था। किसी तरह उस के बीच में चलते हुए तारों व साँपों से बचता-बचाता मैं अपने प्रशिक्षक के घर तक पहुँचा, जहाँ पर पानी करीब मेरी छाती तक था क्योंकि उनके घर के पास एक नाला था। उनके बगीचे की सतह करीब ५० सेन्टीमीटर नीचे थी और वहाँ मैं गरदन तक पानी में ५ मीटर की दूरी पार कर उनके घर पहुँचा। उन्होंने मुझे देखकर यही सोचा होगा कि कोई भूत आ गया क्योंकि मैं सिर से पाँव तक भीगा था और सब कुछ गड़बड़ था। मुझे ऐसी हालत में देखकर उन्होंने मेरी ओर देखकर पूछा, "क्या तुम ध्यान करने के लिए आए हो ?" मैंने कहा हाँ। (हास्य) वहाँ केवल मैं ही पहुँचा था। मुझे बहुत शर्मिन्दा होकर कहना पड़ता है कि पूरी सिटिंग के दौरान मैं बिलकुल ध्यान नहीं कर पाया, क्योंकि मैं इस चिन्ता में था कि मैं घर कैसे जाऊँगा ? (हास्य) अँधेरा बढ़ता जा रहा था। आप को तो पता ही है भारत में कैसे एक पल रोशनी होती है और दूसरे पल एकदम अँधेरा। मैं गुरुदेव से यही प्रार्थना कर रहा था कि अगर मुझे खतम होना है तो बिना किसी तकलीफ व संघर्ष के एकदम हो जाऊँ। पर आश्चर्य कि जब मैं सिटिंग के बाद बाहर निकला तो मुख्य सड़क पर एक बस आई। कहाँ से और कैसे पता नहीं। उसमें कोई बैठा नहीं था। मैंने उसे हाथ दिया तो वह रुक गई और मुझे एकदम घर के सामने उतार दिया।

अगर यह करिश्मा नहीं तो मुझे नहीं पता कि क्या है ? लोग कहेंगे कि मद्रास की सड़क पर बस के होने में क्या बड़ी बात है। परन्तु मेरे लिए वह करिश्मा ही था, क्योंकि न तो उस बस में कोई पैसेन्जर था और न ही सड़क पर कोई था। तीन दिन से बत्ती नहीं थी और सड़कें पानी से भरी थीं। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे में गाड़ी सड़क पर नहीं ले जाएगा, किसी भी समय इंजन में पानी भरने से वह बन्द हो सकती थी। यही गुरुदेव की कृपा है कि जब शारीरिक रूप से कठिन राह होने पर भी आप गुरुदेव का साथ देने को तैयार होते हैं तो आध्यात्मिक रूप से वह सरल बन जाती है। कई बार हमें ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन दिखाई देता है कि जो पहाड़ ऊँची चोटियों वाला और गहरी खाई वाला कठिन दिखाई देता था वह एक करिश्मे की तरह एक सीधी सड़क में बदल जाता है। औरों को वह उसी तरह ऊँचा, कठिन और जोखिम भरा दिखाई देता है। उसके प्रत्येक फीट में खतरा है। परन्तु आप गुरुदेव के साथ हँसते, मजाक करते हुए उस पर ऐसे चलते जाते हैं जैसे कुछ भी न हो। कभी ऐसा लगता है कि हम लड़खड़ा न जायें, परन्तु

हम मजे में बात करते चलते हैं। पीछे देखने वाले सोचते हैं कि यह क्या करिश्मा है—यह कैसे मजे में चले जा रहे हैं, और कोई चिल्ला कर पूछता है कि तुम कैसे चढ़े जा रहे हो ? और हम बड़े आराम से कहते हैं, "बहुत सरल है, यहाँ कोई पहाड़ है ही नहीं। तुम्हें वहाँ से ऐसा दिखाई देता है, यहाँ आकर यह आश्चर्य देखो कि पहाड़ होते हुए भी यह पहाड़ नहीं।" यह गुरुदेव का मार्ग दर्शन है कि वह कठिन चीज को भी आसान चीज में बदल देते हैं, ताकि सबसे दुर्गम रास्ते पर भी जैसे हम हवा में तैरते चले जाते हैं। यह मैं इसलिए बता रहा हूँ कि हम यह चिन्ता छोड़ दें कि यह कठिन राह है, क्योंकि सहज मार्ग में गुरुदेव हमारे मार्गदर्शक हैं जो एक पहाड़ के गाइड की तरह अपनी जान को जोखिम में डालते हुए हमें अपने साथ तो बाँधते ही हैं, साथ ही साथ हमारे मार्ग को भी बदल कर सरल कर देते हैं। इस प्रकार का मार्गदर्शन व सहायता हमें सहज मार्ग में मिलती है।

अगर किसी समय आपको ऐसा लगे कि आपका हृदय कमजोर है और आप वहाँ तक कैसे पहुँचेंगे, तो उन बुजुर्ग महाशय से यह कहने की देर है कि "बाबूजी मेरा हृदय थोड़ा कमजोर है।" तो वह कहेंगे, "अच्छा आगे का रास्ता बहुत सरल है, उसमें कोई चढ़ाई नहीं, तुम्हें चलना भी नहीं पड़ेगा, केवल मेरा हाथ थामो और मैं तुम्हें ले चलूँगा।" और आश्चर्यजनक रूप से जो रास्ता सब के लिए दुर्गम व चढ़ाई वाला है, वही रास्ता आपके लिए एकदम सरल और ढलान वाला हो जाता है, और आप गुरू का हाथ थामें, मुसकुराते, मजाक करते व हँसते हुए उस कठिन मार्ग को पार कर जाते हैं, जैसे कि स्वप्न में सब कुछ किया हो।

इस प्रकार का मार्गदर्शन हमें उपलब्ध है। सो अगर हमें मार्ग कठिन दिखाई दे तो डरना नहीं चाहिए। जैसा कि गाबी ने अनुभव किया। मार्ग कठिन है, बहुत कठिन है, परन्तु हमें भयभीत नहीं होना चहिए। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वह और कठिन लगता है क्योंकि हमारी दृष्टि केवल अपने तक सीमित है—क्या मैं चढ़ पाऊँगा ? "मैं तो कभी पहाड़ पर चढ़ा नहीं, मैं दक्षिण भारतीय—समतल भूमि पर रहने वाला, जो सीढ़ियाँ चढ़ने में ही हाँफ जाता हूँ वह नौ हजार मीटर की ऊँचाई कैसे चढ़ पाऊँगा ?" जब हम अपने बारे में, अपनी क्षमता के बारे में सोचते हैं तो वह हममे है ही नहीं, परन्तु यदि हम माँ का हाथ थामें कूदते-फाँदते आगे चलते जाते हैं तो रास्ता हमारे लिए वैसा ही बन जाता है।

सहज मार्ग एक सरल और स्वाभाविक मार्ग ही नहीं परन्तु एक नर्तक

का मार्ग है। अगर तुममें यह शक्ति व क्षमता है कि तुम नुकीले, पथरीले व बरफीले पहाड़ों को भी सम भूमि की भाँति समझो तो वह सचमुच वैसे ही बन जाते हैं। मैं कई बार अभ्यासियों से प्रश्न करता हूँ। हम हैरान होते हैं यदि कोई सौ मीटर की गहरी खाई को एक पंद्रह सेन्टीमीटर के पटरे पर चल कर पार कर लेता है। मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें आश्चर्य क्या है ? बस हमें एक ख्याल है कि पटरा केवल पन्द्रह सेन्टीमीटर चौड़ा है। वैसे भी, जब हम सड़क पर चलते हैं तब भी चलने के लिए उतनी ही जगह का प्रयोग करते हैं, तो पटरे पर चलने में क्या कठिनाई है। मगर हम कहते हैं कि इसके दोनों ओर कुछ नहीं है—तो क्या हुआ ? जैसे एक गाड़ी चलाने वाले को गाड़ी चलाने के लिए केवल २ १/२ मीटर चौड़ी सड़क की आवश्यकता है, परन्तु वह कहता है कि "मुझे ४० मीटर चौड़ी सड़क की आवश्यकता है। मैं होशियारी से, एहतियात से गाड़ी चलाता हूँ।" इसी कारण जब हम पतली सड़क पर गाड़ी चलाते हैं तो डरते हैं और सड़क के दोनों ओर खाई देख कर घबरा जाते हैं। हम हमेशा से केवल उतने हिस्से पर गाड़ी चलाते आए हैं, परन्तु दोनों ओर खाई देख कर डर जाते हैं। क्योंकि हमारी नजर इधर-उधर जाती है ; अगर दरवाजा खोला तो २ हजार फुट नीचे गिरेंगे। अब यह मनोविज्ञान का विषय है। "ओ चारी ! लेकिन मैं यह हिस्सा कैसे पार कर पाऊँगा।" अरे ! यह सोच कर गाड़ी चलाओ कि अगर हम दुर्घटना की कल्पना कर सकते हैं तो सफलता की क्यों नहीं। अगर तुम्हें पता है कि जब तुम सड़क पर चलते हो तो वैसे भी उतनी ही जगह का प्रयोग करते हो तो डर किस बात का । परन्तु कोई कहता है कि "तुम इतनी सी जगह में कैसे चल सकते हो ?" क्यों ? क्या तुमने कभी देखा है कि जब तुम चलते हो तो कितनी जगह का प्रयोग करते हो ? "नहीं-नहीं तुम तो इतने ऊपर आकाश में हो।" तो क्या हुआ, आकाश में हूँ या धरती पर, चलने के लिए तो उतनी ही जगह चाहिए, सो वह मेरे लिए काफी है। हम अपनी नजरों को भटकने देते हैं, अपनी इन्द्रियों को बेकाबू छोड़ देते हैं। वे हमें स्थिति का सही अनुमान लगाने में बाधक होती हैं। फिर हम गुरुदेव की ओर देखते हैं और सोचते हैं क्या ये मुझे ले जा सकते हैं ? ये तो इतने कमजोर, अनपढ़ व भारतीय लगते हैं, क्या यह सम्भव है ? और वह केवल मुसकुरा कर कहेंगे, "मैं कहता हूँ यह सम्भव है।"

धन्यवाद।

२

ईस्टन यू एस ए

अगस्त ८-१२, १९८७

पढ़िये और आनन्द उठाइये

८ अगस्त १९८७

पुनः यहाँ आकर बहुत अच्छा लगा। आपका प्रेम, हार्दिक स्वागत तथा हमारी सुख-सुविधा के लिये जो आपके हृदय में चिन्ता है वह और भी अधिक आकृष्ट करके हमें बार-बार यहाँ खींच लाती है (तालियाँ)। मुझे यह कहते हुए खुशी है कि जिस पुस्तक का अभी-अभी विमोचन हुआ है "The Fruit of the Tree", वह बहुत सुन्दर छपी है। इसको देखते हुए मुझे याद आता है, कि जब मैं १९६४ में इस संस्था में आया, उस समय शायद हमारे पास केवल ५ रचनाएँ थीं, सत्य का उदय, सहज मार्ग के दस नियम, राजयोग का दिव्य दर्शन और अनन्त की ओर, ये चार पुस्तकें बाबूजी द्वारा रचित तथा सहज मार्ग की एक झलक, श्री ईश्वर सहाय जी की रचना जो कि बाबूजी के सहयोगी थे। यह सब साथ-साथ रखने पर शायद कुल मिला कर २ ईंच स्थान घेरती थीं।

जब मैं पहली बार शाहजहाँपुर गया तो बाबूजी ने कहा "क्या आपने मिशन का साहित्य पढ़ा है ?" मुझे भारत के अन्य मिशनों की पुस्तकों की दूकानें देखने की आदत पड़ी थी जो हजारों प्रकार की हजारों रचनाओं से भरी होती हैं। सो मैंने साधारण ढंग से पूछा "बाबूजी, वह मुझे कहाँ मिलेंगी ?" उन्होंने उँगली से घर के एक कोने की तरफ इशारा किया। आप में से कई लोगों को शायद पता होगा कि उस कोने में एक छोटी सी ३ फुट चौड़ी ४ फुट लम्बी रद्दी सी बनी, नीची सी मेज पड़ी रहती थी। उसके करीब एक बूढ़ा सा आदमी बैठा था और उसके सामने मेज पर करीब १० पुस्तकें पड़ी थीं, जो कि शायद संस्था की कुल पुस्तकें थीं। उधर इशारा करते हुए बाबूजी ने कहा वह देखो वह किताबें बिक रही हैं। उस समय पुस्तकें सस्ती होती थीं, सत्य का उदय शायद १२ आने (रूपये का तीन चौथाई हिस्सा), राज योग दर्शन शायद आठ आने की, और सब से मँहगी शायद सहज मार्ग की एक झलक थी जो सवा रूपये की थी। पाँचों पुस्तकें

मैंने ४ रूपये से भी कम मूल्य में खरीद लीं। उन्हें देखकर मुझे निराशा हुई। क्योंकि पुस्तकों का बाह्य स्वरूप और मूल्य दोनों ही घटिया थे। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होने के कारण मैं पुस्तकों की अन्तर्वस्तु को उनके बाह्य आवरण तथा मूल्यों के आधार पर परखता था, इसी कारण शायद लोग बाह्य आवरण बहुत सुन्दर छापते हैं। जब मैं पुस्तकें लेकर बाबूजी के पास गया तो उन्होंने कहा, "आशा है कि तुम्हें पुस्तकों में कुछ उपयोगी मिलेगा।" मैंने भी मन में सोचा कि मैं भी यही आशा करता हूँ, परन्तु वास्तव में विश्वास नहीं था कि कुछ मिलेगा। मैंने बाबूजी से पूछा, "बाबूजी क्या इतना ही कुल साहित्य है ?" उन्होंने मेरी निराशा का अनुभव करते हुए (अपने हाथ चार फुट फैलाकर) कहा, "मुझे आशा है किसी दिन हमारे पास इतनी पुस्तकें होंगी।" उन्होंने अपने हाथ ऐसे फैलाए जैसे किसी मछुआरे को आशा से ज्यादा मछली मिल जाती है—इतनी सारी। उन्होंने आशा प्रकट करते हुए कहा कि किसी दिन हम भी अलमारी का पूरा खाना अपनी पुस्तकों से भर सकेंगे।

अब जब भी हम किसी पुस्तक का विमोचन करते हैं तो मुझे वह घटना याद आ जाती है। मुझे विश्वास है कि बाबूजी बहुत खुश होते क्योंकि आज हमारे पास प्रकाशनों की संख्या काफी अधिक है और हम हर वर्ष उसमें वृद्धि करते जा रहे हैं। सो यह आरम्भ से हमारी संस्था के साहित्यिक प्रकाशनों का इतिहास है। शायद जब आप लोग इस संस्था में आए होंगे, उस समय तक "ऋत वाणी" और बाबूजी की आत्मकथा का प्रथम अंक छप चुका होगा। और इस प्रकार हम धीरे-धीरे उसमें वृद्धि करते गये।

भारत में पुस्तकों के मूल्य इतने कम होने पर भी हममें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि हम अधिक संख्या में पुस्तकें छापकर रख सकते। मुझे याद है जब हमने 'सत्य का उदय' का पहला संस्करण प्रकाशित किया था उसकी एक हजार प्रतियाँ छपाई गईं, और उन्हें बिकने में १४ वर्ष लगे थे। उसका मूल्य केवल ७५ पैसे था, उस समय डॉलर शायद ३ रूपये का होता था, सो करीब २५ सेन्ट की पुस्तक थी, और गुरुदेव की उस पुस्तक को बेचने में हमें १४ वर्ष लगे। हमारे पास पुस्तकें रखने का कोई साधन भी नहीं था, खास तौर पर गरम आबोहवा, दीमक, सीलन आदि से बचाकर रखने का। पुस्तकों को इस प्रकार बरबाद होने देना भी हम गवारा नहीं कर सकते थे।

उस समय कभी-कभी हम ५०० प्रतियाँ छपवाने की सोचते पर वह बहुत मँहगी पड़तीं। इस कारण १००० से कम छपवाना सम्भव नहीं था। मुझे खुशी

है कि अब हम छपवाते हैं तो कम से कम तीन-चार हजार प्रतियाँ छपवाते हैं। यह परोक्ष रूप में यह प्रदर्शित करता है कि हमारी संस्था में अभ्यासियों की कितनी वृद्धि हुई है, क्योंकि अभ्यासी ही हमारे खरीददार हैं, बहुत कम बाहरी लोग इन पुस्तकों में रुचि रखते हैं।

इस से भी ज्यादा खुशी मुझे यह है कि अब हम इस स्थिति में हैं कि पश्चिम में भी हम १००० प्रतियाँ छाप सकते हैं। दस साल पहले हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अब संस्था इतनी बढ़ गई है कि यूरोप, अमरीका व कनाडा में मिला कर हम १००० प्रतियाँ बेच सकते हैं। मुझे आशा है कि अगले तीन या चार वर्षों में अमरीका में हमारे सदस्यों की संख्या ५०० अवश्य हो जायेगी—यह भी आपके जैसे बड़े देश के लिए उपहासास्पद रूप से कम है। कल्पना करिए, लॉस एन्जलस में १० अभ्यासी, न्यूयार्क में १६ अभ्यासी, क्या आप कल्पना कर सकते हैं। मेरे विचार में केनेडी एयरपोर्ट में ५ मिनट में इससे ज्यादा हवाई जहाज उतरते हैं। इससे प्रकट है कि कहीं पर कुछ गलत है या गड़बड़ है। क्या गलत है यह कहना तो कठिन है। लोग कहते हैं कि अमरीकी लोग बहुत व्यस्त रहते हैं। अगर अमरीका में लोग बड़े-बड़े काम करने में अत्यधिक व्यस्त हैं, तो हम भी पूर्व में छोटे-छोटे कामों में व्यस्त हैं (हास्य)। मैं हँसी नहीं कर रहा हूँ। अगर किसी मनुष्य को पेट भरने के लिए भीख माँगना पड़ता है, तो वह शायद दिन में १४ या १६ घंटे भीख माँगता है। उसे फिर भी नहीं पता कि दिन के अन्त में उसे खाना नसीब होगा कि नहीं। सो वे लोग भी व्यस्त हैं। आप करोड़ों बनाने में व्यस्त हैं तो हम हजारों बनाने में व्यस्त हैं। आप डॉलर कमाने में तो हम रुपये कमाने में। सो यह केवल इतना भर नहीं है कि अमरीकी लोग ज्यादा व्यस्त हैं या उनके पास उच्च तकनीक की वस्तुएँ हैं। परन्तु कुछ समय से पाश्चात्य मन में एक खोट पैदा हो गई है—यह या वह। जैसे, या तो मैं पैसे कमा सकता हूँ या सन्त बन सकता हूँ, या तो मैं भौतिक विज्ञानी बन सकता हूँ या गोताखोर, इत्यादि। पाश्चात्य मानस को जैसे प्रशिक्षित किया गया हो कि वह अपने मानसिक नजर के दायरे में केवल उसको रखे जिसे वह कर सकता है, और बाकी सब अलग हटा दे। यह मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि हम अपनी क्षमता को सीमित कर देते हैं, और मन की क्षमता वस्तुतः असीम होती है।

अगर मनुष्य यह सोच ले कि यह काम सम्भव है तो उसके कुछ कर पाने की कोई सीमा नहीं। जैसा कि मेरे गुरुदेव कहते थे—समय तो बढ़ाया

नहीं जा सकता जैसे कि हमारी सुविधा के लिये दिन २८ या ४० घंटे का कर लिया जाय। परन्तु यह भी कहा जाता है कि जिसके पास काम अधिक होता है उसके पास उसे करने का समय भी अधिक होता है। इस प्रकार कार्य सम्पन्न करने की क्रियाशीलता ही हममे यह रचनात्मक क्षमता उत्पन्न कर देती है कि हम कम से कम समय में अधिक से अधिक काम पूरा कर लें। शुरू-शुरू में हम ज्यादा काम करेंगे, फिर उतने ही समय में और ज्यादा काम करेंगे, फिर कम से कम समय में ज्यादा काम करेंगे और मानवता के पूर्ण स्तर पर पहुँच कर हम थोड़े ही समय में असीमित कार्य करने के योग्य हो जायेंगे।

V. Good

यह अतिशयोक्ति नहीं है। मैं आपको बताना चाहूँगा कि जब मैं १९६४ में सहज मार्ग में आया, मैं अपनी कम्पनी में एक बहुत व्यस्त अधिशासी था। आप लोगों में से कुछ लोग शायद यह न जानते हों कि जब मैंने काम शुरू किया, उस समय मैं अपनी कम्पनी में एक कनिष्ठ विक्रेता था और बाद में कम्पनी का अधिशासी निदेशक बना। यह सब मैं कठिन परिश्रम से कर पाया क्योंकि न तो मेरा कोई रिश्तेदार बोर्ड में था और न ही मैं किसी प्रकार का अन्य कोई प्रभाव डाल सकता था। यह केवल मेरी कड़ी मेहनत का नतीजा था। मुझे अक्सर दौरे पर जाना पड़ता था और कभी-कभी ६० दिन या ६५ दिन एकसाथ घर से बाहर सफर पर रहना पड़ता था। पर जब मैं १९६४ में गुरूदेव के पास आया, एक विचित्र बात हुई। मैं केवल अधिक काम ही नहीं कर सकता था परन्तु मेरे पास समय भी बच जाता था। 'यह मैं आपको अपना व्यक्तिगत अनुभव बता रहा हूँ। मैं अक्सर ८-८.३० बजे प्रातः दफ्तर जाता, १० बजे तक मिशन का काम, हिसाब-किताब चिट्ठी-पत्री आदि समाप्त करके, ११ बजे तक कम्पनी का कागजी काम पूरा करके मैं खाली हो जाता। कई बार मुझे अजीब लगता जब कि मेरे अफसर मेरे कमरे में आते, और मेरी मेज को खाली पाते। वह मुझसे कहते "चारी, एक आप ही को मैंने ऐसा पाया है, जिसकी मेज खाली रहती है।" भारत में अक्सर जो कोई भी काम नहीं करते उनकी मेज पर खूब सारी फाइलें व रजिस्टर पड़े होते हैं, ताकि अगर अफसर आ जाय तो उसे दिखाई दे कि वह कितने व्यस्त हैं। सो मेरे अफसर मुझसे पूछते कि तुम्हारा काम जल्दी समाप्त करने का राज क्या है ? तुम इतनी सुबह सब करके कैसे फारिग हो जाते हो ? मैं उनसे कहता कि मैंने यह तरीका अपनाया है कि मैं सब से कठिन काम सब से पहले करूँ। अधिकतर लोग इसका उलटा

करते हैं। वह आसान काम पहले करते है और जब तक १० कार्य पूरे होते हैं वह थक जाते हैं। और यह सोच कर कि यह मुश्किल है, इसे कल करेंगे उसे छोड़ देते हैं, और अगले दिन वह और भी कठिन दिखाई देता है। सो मैंने अपने लिए यह एक पद्धति अपनाई है कि सब से कठिन काम सब से पहले करो।

पत्र-व्यवहार करते समय मैंने एक और बात अनुभव की कि विभिन्न प्रकार के पत्र आते हैं, जैसे कि शिकायत के, प्रशंसा के और भी अनेक प्रकार के। कई बार इन विभिन्न वर्गों के पत्रों को पढ़ने के पहले ही उनका उत्तर मेरे दिमाग में होता था, उन्हें केवल लिखवाना होता था। उनके ऊपर सोच विचार में मेरा कोई समय नष्ट नहीं होता था। पहले मुझे अनिर्णय की पीड़ादायक घड़ियाँ गुजारनी पड़ती थी। मेरी समझ में नहीं आता था कि ग्राहक को क्या कहूँ और कारखाने वालों को क्या कहूँ। बिक्री कर्मचारी की स्थिति अत्यन्त कष्टप्रद होती है, उसे उत्पादन और खपत के बीच एक सन्तुलन बनाए रखना पड़ता है। कारखाने आपके अपने होते हैं, परन्तु उनका नियंत्रण किसी और के हाथ में होता है। अगर आप उनसे कहें कि ग्राहक को यह शिकायत है तो वह आपसे कहेंगे बेचना आपका काम है। अगर आप मालिक के पास यह सोचकर शिकायत लेकर जायेंगे कि उसकी कम्पनी है तो वह आपसे कहेंगे, "भगवान के नाम पर उत्पादन की शिकायत करने के बजाय कुछ करो, ग्राहक को विश्वास दिलाने का प्रयत्न करो।" अगर आप उन्हें ग्राहक की शिकायत की सच्चाई बताने का प्रयत्न करेंगे तो वह कहेंगे कि फिर उसी की नौकरी क्यों नहीं कर लेते। सो कुछ भी बेचने के लिए एक कठिन परिस्थिति में से गुजरना पड़ता है, जब माल आपही की सम्बन्धित कम्पनी द्वारा निर्मित हो। बाबूजी के पास आने के पश्चात् यह सब बदल गया, इसलिए नहीं कि मैं ऐसा चाहता था, परन्तु अपने आप ही सब कुछ बदल गया।

इसी प्रकार मेरी पढ़ने की आदतों में भी बदलाव आया। मैं घनघोर पढ़ाकू था। २-१/२ घंटे की औसत उड़ान में मैं चार किताबें पढ़ लेता था। जब मैंने सहज मार्ग का अभ्यास आरम्भ किया तो मैंने देखा कि कभी-कभी मैं एक बार में दो पन्ने से अधिक नहीं पढ़ पाता था। फिर भी मुझे पुस्तक की विषय वस्तु के बारे में पूरा ज्ञान हो जाता था। पढ़ मैं इसलिये नहीं पाता था कि पढ़ना आरम्भ करने के बाद मैं ध्यान में डूब जाता था। अर्थ समझने के उद्देश्य से छपे शब्दों पर ध्यान केन्द्रित करने पर जैसे मुझे नींद सी आ

जाती थी। वह नींद न होकर ध्यानपरक दशा होती थी। इससे मुझे तकलीफ होती क्योंकि मुझे पढ़ने का जैसे नशा सा था। मैं हमेशा पुस्तकों पर सब से अधिक पैसे खर्च करता। एक बार मैंने गुरुदेव से भी पूछा, "मैं पढ़ क्यों नहीं पाता।" उन्होंने उत्तर दिया इसकी क्या आवश्यकता है ? मैंने उन्हें स्मरण दिलाते हुए कहा, "आप ही ने तो कहा था कि मिशन का साहित्य पढ़ो।" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ मैंने कहा था, परन्तु अब लालाजी की कृपा से उसकी आवश्यकता नहीं। तुम्हें जिस विषय पर भी ज्ञान चाहिए होता है वह ऐसे ही उपलब्ध हो जाता है।" और यह सत्य था।

सो आप देख सकते हैं कि मेरे जैसा मनुष्य जिसने एक कम्पनी में साधारण विक्रेता के रूप में काम किया हो, आप से किसी प्रकार भिन्न नहीं था। मैं भी मानवीय कमियों से भरा था जो कि मानव स्वभाव में ही हैं। साधारण मानवीय संघर्ष और आलोचनाओं से मुझे भी सब की भाँति गुजरना पड़ा। मेरे दफ्तर वाले सोचते थे कि शायद इसका दिमाग फिर गया है, और घर वाले, खासकर पिताजी, कहते कि तुममें कोई महत्वाकांक्षा नहीं रह गई, कोई प्रेरणा शक्ति नहीं, कोई आगे बढ़ने की इच्छा नहीं, देख लेना एक दिन तुम नौकरी खो बैठोगे और सड़क पर भीख माँगते फिरोगे। परन्तु इन सब चीजों ने मुझे हतोत्साहित नहीं किया और न ही मुझे अपनी राह से विचलित किया। और लोग मुझसे पूछते कि इतनी कड़ी आलोचना व विपरीत परिस्थितियों के बावजूद, अपने संस्कारों के खिंचाव (जो कि सब में होते हैं) के बावजूद तुम कैसे इस मार्ग पर टिके रह सके। मैं उनसे कहता प्रारम्भ का तो मुझे पता नहीं परन्तु बाद में मैंने जाना कि यह सब केवल गुरुदेव के प्रति मेरी व्यक्तिगत भावना के कारण संभव हुआ। वह जैसे एक मार्गदर्शक यंत्र (gyroscope) का काम करती और मुझे सही राह पर बनाये रखती थी। आप जरा उस विमान के विषय में सोचिये जो हवा के झोकों के कारण अपनी दिशा बदल दे। चालक का काम ही विपरीत परिस्थितियों व हवाओं के बीच से अपने विमान को ठीक जगह ले जाना है। जितनी विरोधी परिस्थितियाँ हों उतना ही चालक की कुशलता का प्रमाण मिलता है। गुरुदेव के प्रति मेरी निजी भावना ही मेरा निर्देशन कर रही थी और इसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ। आज मैं देखता हूँ कि कई लोग आरम्भ ही महत्वाकांक्षा से करते हैं, वह सन्त, सन्यासी व ऋषि बनना चाहते हैं, और यह पर्याप्त नहीं। जैसे कोई एक बिक्री कर्मचारी कम्पनी का अध्यक्ष व कम्पनी का सभापति होने की सोचे।

केवल महत्वाकांक्षा व इच्छा ही पर्याप्त नहीं, उसके पीछे पूरे प्रयास का होना भी आवश्यक है। मुझे पता है कि हर एक के दिल में कुछ न कुछ आकांक्षा होती है, चाहे वह अति साधारण ही क्यों न हो। जैसे एक लड़की के हृदय में एक अच्छा पति पाने की या एक युवक के हृदय में एक अच्छी पत्नी पाने की आकांक्षा। परन्तु हम इसमें भी सफल नहीं हो पाते, क्योंकि वह भी एक स्वप्न जैसी हमारे मस्तिष्क में रहती है और उसके लिए प्रयत्न केवल नाम मात्र होता है। यही कारण है कि जो हम चाहते हैं उससे कम ही पाते हैं और फिर हम अपने भाग्य को और भगवान को कोसते हैं, जब कि हमें अपने आप को कोसना चाहिए। यह जैसे उस पुराने जमाने के संचालक यंत्र की भाँति है जिससे जहाज का कप्तान सूर्य को देखकर अक्षांश का निर्धारण करता था। उसे दोनों तसवीरों को मिलाना पड़ता है कि वह समान हैं या नहीं। अगर हम नहीं मिलाते तो यंत्र प्रयोग करने का कोई तुक नहीं। यहाँ हमारे हृदय में जो तसवीर है, जो हम चाहते हैं, जिसकी कामना करते हैं, और जो तसवीर मिलती है वह उससे निचले स्तर की होती है। जब तक दोनों यथासम्भव मिलकर एक नहीं हो जातीं तब तक हम उच्च महत्वाकांक्षा और निम्न उपलब्धि के बीच में टँगे रह जाते हैं।

सो यह उपलब्धि की समस्या है। आप किसी पर भी महत्वाकांक्षा या आकांक्षा न होने का आरोप नहीं लगा सकते। हाँ उन्हें यह कह सकते हैं, "मेरे दोस्त, दोनों सूर्य की तसवीरों को एक बना दो। जिस की तुम आकांक्षा करते हो और जो उपलब्ध होता है वह दोनों एक होने चाहिए ; अगर नहीं हैं तो उसे झाड़ फेंको। क्योंकि आकांक्षा नहीं बदलेगी। वह हमेशा उच्चतम की होती है—जो उस क्षण हम सोच सकते हैं। जैसे-जैसे हम विकसित होते हैं हमारी आकांक्षा विकसित होती है। यह अच्छा भी है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि हमारा लक्ष्य सदा पीछे हटता जाता है। इसी को जब हम सहज मार्गी ढंग से कहते हैं कि हमारा लक्ष्य सदैव पीछे हटता है, तो लोग कुण्ठित हो जाते हैं और कहते हैं कि यह कैसा लक्ष्य है जो सदैव दूर ही होता जाता है। परन्तु जब आप बतलाते हैं कि जैसे-जैसे आप अग्रसर होते हैं वैसे-वैसे आपका लक्ष्य भी बदलता जाता है, तब वह समझ जाते हैं। साधारण चीजों में भी हमारा लक्ष्य बदलता रहता है, जैसे एक मनुष्य जब ८000 डालर प्रति वर्ष कमाता है तो उसे १८000 चाहिए और जब उसे १८000 मिलते हैं तब उसे २८000 चाहिए और अठ्ठाइस मिलने पर अड़तीस या अड़सठ हजार। आप ऐसे मनुष्य के बारे में क्या सोचेंगे जो

कहता है "चारी मुझे ८००० डालर प्रतिवर्ष चाहिए थे, वह मिल गये। अब मुझे और कुछ नहीं करना है।" मेरे विचार में अर्थशास्त्री मुद्रा स्फीति की ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं कि हम सदैव चक्की की तरह घूमते रहें। अगर वर्ष प्रतिवर्ष मुद्रा स्फीति न हो तो हमें इतने पैसे की आवश्यकता भी नहीं हो और हम सब एक अमीबा की स्थिति में स्थगित रह जायेंगे और कहेंगे "हम प्रसन्न हैं।"

सो यह प्रकृति का तरीका है कि जैसे-जैसे हम बढ़ते हैं, हमारा लक्ष्य भी ऊँचा होता जाता है। लक्ष्य कोई भौतिक या शारीरिक लक्ष्य नहीं जो बढ़ता जाता है, परन्तु लक्ष्य की एक धारणा होती है। अगर आप अपने पुत्र से जो खिलौने से खेलता है पूछें कि "पुत्र तुम क्या बनना चाहते हो ? तो भारत में पहले वह कहता ईंजन ड्राइवर, या रेल चलाने वाला या पुलिसमैन इत्यादि। परन्तु आजकल कम्प्यूटर विज्ञान है। सो आप देख सकते हैं कि आजकल के बच्चों का भी तुलनात्मक रूप में विकास हुआ है। अब वह सेना में जवान या पुलिसमैन या जहाज चालक नहीं बनना चाहते परन्तु अब उन्हें उच्च तकनीकी माल चाहिए—सिलिकॉन घाटी। तो इसी प्रकार हमारी आकांक्षाओं का विकास होता है, केवल व्यक्तिगत तौर पर ही नहीं परन्तु एक पूरी मानव पीढ़ी का भी। अगली पीढ़ी की आकांक्षाएँ स्वतः ही इतनी बढ़ जाती हैं जिसकी हम अपने बचपन में कल्पना भी नहीं कर सकते थे। विकास इसी को कहते हैं। जब तक हम कुछ आकांक्षा कर के प्राप्त नहीं करेंगे हम अपनी अगली पीढ़ी के लिए प्राप्ति तो दूर रही, आकांक्षा की भी विरासत नहीं छोड़ेंगे। क्या आप नहीं सोचते कि हमें ऐसे बच्चों को देखने का सौभाग्य हो जो हम से आगे बढ़ कर वह पाना चाहते हों जिसकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी। कुछ ऐसा महान, कुछ ऐसा विस्तृत जो असीम के निकट हो, न कि केवल एक घर या बड़ी गाड़ी। यह सब हमारे माध्यम से ही हो सकता है। हमें भी कुछ अपने माता-पिता से मिला और शायद उनके माता-पिता के पास खेत थे। हम उनसे उन्नत होकर कुछ अधिक करना चाहते थे और पढ़ लिखकर दफ्तर की नौकरी में आये। हमारे बच्चे इन्जीनियर या कम्प्यूटर वैज्ञानिक बनना चाहते हैं। परन्तु एक समय ऐसा आएगा जब भौतिक उन्नति एक प्रकार से स्वयं ही समाप्त हो जायेगी। तब बचेंगी केवल मानसिक, आध्यात्मिक उपलब्धियाँ।

हमें अभी भी ऐसे लोग दिखाई देते हैं जैसे अध्यापक आदि जिन्होंने मानसिक क्षेत्र में उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। वह मानसिक कल्पना में अपनी

उड़ान भरते हैं, ऐसी आजाद कल्पना की उड़ान जहाँ कोई रोक नहीं जिस पर विज्ञान के कोई नियम अंकुश नहीं लगा सकते। अगर यह नियम हो कि तुम उसकी ही कल्पना करो जो सम्भव है तो प्रगति ही नहीं होगी। सो एक ओर मानवता का वह हिस्सा है जो व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए अपने दोनों हाथों से हमें दर्शाता है कि यह मैंने पाया है, पैदा किया है और मैं अपने बच्चों के लिए पीछे छोड़े जा रहा हूँ। और दूसरी ओर मानवता का वह हिस्सा है—जो दुर्भाग्यवश बहुत छोटा है—जो कहता है, "मैं क्या कर सकता हूँ ?" और किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। उनसे यदि पूछा जाए कि तुम अपने बच्चों के लिए क्या छोड़े जा रहे हो, तो वे कहेंगे मेरे विचार—जो मेरे शोधप्रकाशनों, पुस्तकों और अपने बच्चों के साथ हुई मेरी बातचीत में हैं। निश्चय ही कुछ न कुछ उनकी खोपड़ी में, उनकी बुद्धि में, उनके कुतूहल में बो दिया गया होगा जिसकी नींव पर वह आगे कुछ निर्माण करेगें। कुछ ऐसे ही संदर्भ में गुरुदेव की पुस्तकें भी मूल्यवान हैं। वह हमारे लिए, हमारे द्वारा आने वाले युगों के लिए अत्यन्त आकर्षक व लुभावनी सम्भावनाएँ छोड़ गये हैं। उनकी पुस्तकों में वास्तविकताएँ नहीं हैं, परन्तु वह कहते हैं यहाँ एक असीम लक्ष्य है और वह लक्ष्य हमें निःसीमता की ओर ले जाता है। उसको पाना सरल है, मैंने उसे प्राप्त किया है और तुम भी उसे पा सकते हो। इसका दार्शनिक पक्ष क्या है ? और वह कहते हैं, "ईश्वर कोई दार्शनिक वस्तु नहीं है।" और चीजें हैं परन्तु ईश्वर नहीं। क्या यह मनोवैज्ञानिक सच्चाई है ? मनोविज्ञान को मन समझ सकता है, परन्तु यह मन की पकड़ से परे है। सो यह अवश्य ही मनोविज्ञान से परे चला जाता है।

हमारे साहित्य में इसी की एक झलक मिलती है, विशेष रूप से गुरुदेव के साहित्य में। वह हमारे सम्मुख विकास की विभिन्न सम्भावनाओं व उच्चतम लक्ष्य जो मानव पा सकता है उसे प्रस्तुत करते हैं। वह भौतिक सुख, भौतिक उपलब्धियाँ व भौतिक प्रगति के विषय में नहीं वरन् व्यक्ति विशेष जो कुछ अपने आप में बन सकता है उस से सम्बन्धित है। यह ध्यान में रखिए कि एक अमीर आदमी गरीब आदमी से विशेष केवल अपने धन के कारण है। एक बुद्धिमान भी एक मूर्ख से अलग केवल अपने ज्ञान व उपलब्धियों के कारण है। इसी प्रकार गुणात्मक रूप से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न केवल अपनी आत्मा के गुणों के कारण होता है। यही एक सन्त को एक पापी से अलग करता है या ईश्वर को मनुष्य से अलग करता है, न कि उसकी डिग्रियाँ जो उसने प्राप्त की हैं या धन-दौलत बँगले, फार्म

या गाड़ियाँ जो उसने एकत्र की हैं। और यह होता है मनुष्य का आन्तरिक गुण जो चमकता है। आध्यात्मिक सत्य केवल वह है जो असीम व अनन्त से सम्बन्धित है, और जिसने इसे गुरुदेव की कृपा से प्राप्त किया है वह जानता है कि यह ही वह वास्तविक सम्पत्ति है जो प्राप्त करने योग्य है, न कि धन-दौलत जो कि नश्वर है। और प्रभु की कृपा से नश्वर न भी हो तब भी तुम अपने करोड़ों तो अपने साथ ले जा नहीं सकते। ज्ञान ? हाँ वह बहुत अच्छा है, परन्तु मेरे गुरुदेव कहते हैं, "याद रखो तुम मरणोपरान्त इसे भी अपने साथ नहीं ले जा सकते।" "और गुरुदेव, मेरी शक्ति ?" वह इसका उत्तर देंगे, "हाँ, बहुत अच्छी बात है कि तुम शक्तिवान हो। मैं तो कमजोर हूँ, केवल हड्डियों का ढाँचा हूँ। परन्तु याद रखो, जब तुम जाओगे यह सुन्दर स्वस्थ शरीर पीछे रह जायेगा।" "मेरी सम्पत्ति, बंगले आदि," और वह कहेंगे, "इसे पूछने की आवश्यकता नहीं। जो शरीर तुम्हारे सबसे निकट है, जब तुम्हें वह भी छोड़ कर जाना पड़ता है, तो अपने कपड़ों या जूतों या सम्पत्ति की तो चिन्ता ही छोड़ दो। क्योंकि तुम अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सकते।"

फिर हम इस प्रश्न पर आते हैं कि क्या कुछ ऐसा है जिसे हम अपने साथ ले जा सकते हैं ? वह कहते हैं "हाँ 'स्वयं' को।" और आप पूछेंगे, "पर बाबूजी, क्या ऐसा 'कुछ' नहीं है जो मैं मरने पर साथ ले जाऊँगा।" वह इसका बहुत शानदार उत्तर देंगे, "नहीं ! अगर तुम उसे अपने साथ ले जा सको तो तुम्हें यहाँ वापस नहीं आना पड़ता।" आपको पता है कि जब आप अपनी चाभियाँ घर पर छोड़ आते हैं तो उसके लिए आपको घर वापस आना पड़ता है ; या हवाई जहाज पर अपना पर्स भूल जाते हैं, तो वापस वहीं एयर होस्टेस के पास पहुँचते हैं पूछने के लिए कि "क्या आपको सीट न० ८ A पर कुछ मिला।" और वह कहती है, "अच्छा, आपही वह व्यक्ति हैं जो इसे भूल गये थे।" यह सत्य कि हम बार-बार जन्म लेकर यहाँ आते हैं, इस बात का संकेत देता है कि हम पीछे कुछ छोड़ गये हैं। वह शरीर तो हो नहीं सकता, न ही हमारी सहेली या किश्ती हो सकती है। परन्तु अपना वह अंश जो हम यहाँ छोड़ जाते हैं उसके लिए हम बार-बार आते हैं। गुरुदेव कहते हैं कि अगर तुम्हारी इच्छा है और तुम सच्चे हृदय से केवल यही चाहते हो तो इसमें मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ कि तुम उस स्वयं को लेकर जाओ ताकि तुम्हें दुबारा उसके लिए न आना पड़े। "यह मैं कैसे कर सकता हूँ ?" "इसके लिए मिशन का साहित्य पढ़ो।"

यही मेरे गुरुदेव का संदेश है और मुझे खुशी है कि लोग इसमें अपनी कुछ रुचि दिखाते हैं। चाहे कम संख्या में ही क्यों न हों इससे कोई फरक नहीं पड़ता। दुनिया भर की हीरों की खान में हमेशा तो हज़ार कैरेट का हीरा हम नहीं पैदा करते। अधिकतर छुटपुट औद्योगिक माल ही पैदा होता है—बरमों के सिरों पर लगाने लायक। मानवता भी हीरे की खान की भाँति है, परन्तु हममें से अधिकतर वही औद्योगिक माल हैं—उबाऊ। उन्हें बरमें पर लगाओ तो चक्कर लगाते हुए वह केवल वही माल ही पैदा करते हैं—जिसे वह दौलत कहते हैं। सचमुच के चमकदार हीरे तो बहुत दुर्लभ होते हैं। इसी प्रकार संसार में सन्त बहुत ही कम होते हैं पर क्या उन्हें कम ही होना चाहिये ? सहज मार्ग कहता है, नहीं। पहले वह समय था कि सन्त बनने की इच्छा व कल्पना भी हम नहीं कर सकते थे। परन्तु अब मार्ग सरल हो गया है। तरीका सादा है और उपलब्धि की प्रतिश्रुति है। मुझे आशा है कि मेरे गुरुदेव की कृपा से आप आकांक्षा करेंगे और प्राप्त भी करेंगे।

15-9-95.

धन्यवाद।

निरावृत स्व

६ अगस्त १९८७

एक सुझाव था कि मैं अनुभव व दशा पर कुछ कहूँ। मुझे ठीक से याद नहीं पर मेरा अन्दाज है कि जो मैं कहने जा रहा हूँ, कुछ उसी से सम्बन्धित है—ऐसी मैं आशा करता हूँ (हास्य)।

बाबूजी के समय से ही हम सब को डायरी रखने को कहा गया है। मुझे याद है कि जब मैंने १९६४ में ध्यान आरम्भ किया तब भी यही सुझाव था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी डायरी दो प्रकार से लिपिबद्ध करे। पहला तुरन्त ध्यान के पश्चात, जो भी अनुभव व दशा ध्यान में अवगत हुई। दूसरा जो परिवर्तन उसे अपनी आन्तरिक मनोदशा में दिखाई दिए—जैसे गुस्सा कम आना या पत्नी से लड़ाई में कमी इत्यादि। जो भी अनुभव आपकी आध्यात्मिक प्रगति में महत्वपूर्ण हैं, उन सब को डायरी में अवश्य लिखें। अब एक मुश्किल हमेशा से ही थी, या तो हम डायरी लिखना आरम्भ ही नहीं करते या हर ध्यान के बाद एक पूरा पोथा लिख देते हैं—दोनों ही चरम सीमाएँ हैं।

Emphasis on discipline

वास्तव में पहले वर्ष मौने डायरी के विषय में कुछ नहीं किया, क्योंकि मुझे समझ में नहीं आया कि क्या लिखूँ। आप तो जानते ही हैं कि यह फैसला करना कि, क्या लिखने योग्य है क्या नहीं—कितना कठिन है। आप जो कुछ लिखना चाहते हैं उस में कुछ ऐसा भी होता है जो उल्लेखनीय नहीं होता।

कौन अपनी आत्मा को खोल कर रख देना चाहता है जिसे किसी के द्वारा पढ़े जाने की सम्भावना है। सो, मैं भी बहुतर्तक था कि इस में वहीं लिखूँ जो सब पढ़ सकें। इस कारण मैंने उस में जो भी लिखा वह निर्जीव व अहानिकारक था। उस को पढ़ना, या दुबारा मेरे लिए भी पढ़ना अरुचिकर था। जब मेरी डायरी का प्रथम अंक प्रकाशित होगा तब आप को पता चलेगा कि उस में उस समय के मिशन के प्रसिद्ध व्यक्तियों, जैसे डा० वरदाचारी आदि के साथ विभिन्न विषयों पर बातचीत व वार्तालाप है। उस में मेरे

So Brm

आध्यात्मिक अनुभवों और प्रगति के ऊपर विशेष कुछ नहीं है क्योंकि भेद्य होने के डर से मैं अपने अन्तःकरण को बाह्य संसार के सामने नहीं रखना चाहता था।

परन्तु आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रत्येक को पूर्ण रूप से, विशेष कर अपने साथ, सत्यवादी होना चाहिए। जब हम डायरी लिखना आरम्भ करते हैं तो हमें किस का भय होता है। हमें भय होता है आलोचना का, कि लोग उंगलियाँ उठायेंगे और कहेंगे "अच्छा तो तुम यह हो।" जब तक हमें अपने आप से भय है या अपने ही सम्बन्ध में अपने विचारों के परिवर्तन का भय है, तब तक हम सत्य रूप से जैसे डायरी लिखनी चाहिए, लिख ही नहीं सकते क्योंकि जो हम अपने बारे में सोचते हैं और जो दूसरे हमारे बारे में सोचते हैं हम इस का तालमेल चाहते हैं। हम जो अपने बारे में सोचते हैं अन्ततः वही महत्वपूर्ण है। इस की किसे परवाह है कि दूसरे लोग हमारे विषय में क्या सोचते हैं। जब उनका कथन हमारे विचारों की पुष्टि नहीं करता तो हमें दुःख होता है। इसलिए हम डायरी लिखने से कतराते हैं और न लिखने के बहाने ढूँढते हैं, जैसे समय की कमी, क्या लिखें, आदि आदि-ये केवल अपने आप को भुलावा देने के बहाने हैं। गुरुदेव इन सब से भली भाँति परिचित थे क्योंकि वह तो पक्के मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने कहा, "ठीक है, तुम अपने आप को मुझे दिखाने से कतराते हो परन्तु मेरे सामने तो कुछ भी छिपा नहीं। तुम डायरी लिखों या न लिखो, तुम क्या हो मुझे तो सब पता है। तुम्हें क्या अनुभव हुआ है, कल क्या अनुभव होगा-मुझे तो सब ज्ञान है। इसलिए नहीं कि मुझ में कोई अन्तर्दशी व दैविक शक्ति है जो भविष्य को देख सकती है। परन्तु गुरु तो जानता है कि वह कल क्या निर्माण करने जा रहा है-कल सुबह, कल शाम, परसों सुबह व अगले साल।" यह उसी प्रकार है कि एक बालक हैरान हो जाता है जब उस का पिता उससे कहता है कि अगला स्टेशन टिम्बकटू है। वह पूछता है कि पिता को कैसे पता चला। परन्तु पिता जो उस यात्रा को कई बार कर चुका है उसे सब स्मरण है कि किस के बाद अगला स्टेशन क्या है। यह चला गया है, अब अगला यह आने वाला है।

अगर तुम गुरुदेव की राय की कदर करते हो तो अपने बारे में तुमने जो कुछ भी अनुभव किया हैं उसको लिखने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए, क्योंकि तुम लिखे या न लिखे वह तुम्हारे बारे में सब कुछ जानते हैं; और डायरी तो केवल गुरुदेव ही देखेगें। तब भी हम यह सोचते हैं कि "ठीक है, वह सब जानते हैं, फिर मैं क्यों बताऊँ कि मैं क्या हूँ"

(हास्य)। " उन्हें अपने आप पता चलने दो" (फिर सामान्य हास्य)। यह एक गम्भीर समस्या है अपने आप को निरावृत करना। बाबूजी बार-बार आत्मा की इसी नग्नावस्था की चर्चा करते थे। हम सब नग्नावस्था से केवल शारीरिक नग्नता का अर्थ समझते हैं परन्तु यह नग्नावस्था उससे कहीं अधिक है। तुम्हें अपने विषय में स्वयं बनाई गई धारणाओं को हटाना होगा। अपने विषय में आलोचना सहन करने की शक्ति पैदा करनी होगी, चाहे वह आलोचना गुरुदेव द्वारा ही क्यों न हो। एक बार मेरी इसी विषय पर बातचीत हुई, मेरे अपने बारे में नहीं—क्योंकि १९६८ में भी शायद मैं उतना परिपक्व या तैयार नहीं था। मेरे एक चचेरे भाई जिनको शायद आप कुछ लोग जानते हों, वह लम्बे ऊँचे हैं और नेवी में काम करते हैं, डेनमार्क भी आ चुके हैं, उन्होंने अभ्यास आरम्भ किया। एक बार वह डा० वरदाचारी जी के पास सिटिंग के लिये गये। डा० वरदाचारी जी उन के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। सिटिंग समाप्त होने पर उन्होंने उनसे पूछा कि, "आप क्या करते है, किस व्यवसाय में हैं ?" जब उन्होंने पूछा, "क्यों ?" तो वरदाचारी जी ने कहा, "आपके दिमाग में जैसे कुछ खुला और उसमें मैंने कुछ घास-फूस, अनाज सामग्री बड़ी मात्रा में देखी और अगर आप बुरा न मानें तो कुछ लड़कियों की तस्वीरें तैरती हुई देखा इसलिए जिज्ञासा हुई कि आप क्या करते हैं ?" तब उन्होंने कहा कि, "मैं जहाज में कप्तान हूँ।" तो वरदाचारी जी ने कहा, "अब समझ में आया।" आप अपने साथ दो तरह से सामान ढो रहे हैं-एक जहाज पर और एक अपने अन्दर।

Revised 17.9.95

जब यह किस्सा हुआ उस समय वह डर गये और वह नहीं चाहते थे कि जो वरदाचारीजी ने देखा है वह कोई और देखे। मैं उस समय भी प्रिसेप्टर था और वह आज तक कभी भी मेरे पास व्यक्तिगत पूजा के लिए नहीं आये। कई ऐसी बातें होती हैं जो हम नहीं चाहते कि किसी को पता चलें-विशेष कर अपने नजदीकी लोगों को, जैसे कि पति पत्नी कुछ बातें एक दूसरे से छिपा कर रखना चाहते हैं, जिसे वह समझते हैं कि छिपा है। जब यह किसा हुआ, मैंने बाबूजी से बात करने का निर्णय किया, क्योंकि मैं भी वही मूर्खता कर रहा था। एक दिन प्रयोगात्मक रूप में मैंने बाबूजी से पूछा, "बाबूजी, हमें अपनी डायरी में क्या लिखना चाहिए ?" उन्होंने बड़े सरल व निष्कपट भाव से काह, "सब कुछ-जो तुम देखते हो" मैंने कहा, "सब कुछ किसके बारे में" (सामान्य हास्य)। उन्होंने कहा, "अपने बारे में।" मैंने कहा, "बाबूजी, वही तो कठिनाई है।" उन्होंने उत्तर दिया, "देखो हमें

अपने आप से कुछ नहीं छुपाना चाहिए।"

इससे मुझे सूत्र मिला कि मुझे संकोच क्यों था ? मैं मालिक या दूसरों से नहीं बल्कि अपने आप से छिपाना चाहता था। अपने विषय में जो धारणाएं या मूल्यांकन हम ने किया है, वह हमारी व्यक्तिगत छवि के लिए अति आवश्यक है, इसी कारण हमें अपनी वास्तविकता देखने में संकोच होता है। इसलिए हम दूसरों के विषय में तो सब देखने में, जानने में माहिर है परन्तु अपनी वास्तविकता का सामना नहीं करना चाहते। इसी कारण लोग योग आदि के लिए आनाकानी करते हैं क्योंकि वे अपने विषय में जानना नहीं चाहते। मैं जानता हूँ कि एक प्रकार से आन्तरिक रूप में हम जानते हैं कि हम क्या हैं ? परन्तु सतही तौर पर, जहाँ हमारा आत्म-सम्मान बीच में आ जाता है, वह एक रक्षात्मक रोक का काम करता है। वह हमारे अवचेतन को हमसे अलग कर देता है। आत्म सम्मान दन दोनों को अलग कर देता है। यह मेरा अनुभव है कि अगर हम वास्तव में इस बाहर व आन्तरिक के अलगाव को मिटा कर एक हो जाने दें ता हम एक सम्पूर्ण संगठित व्यक्तित्व बन सकते हैं और इसके लिए सर्वप्रथम आत्म-सम्मान को मिटाना होगा। यही एक तत्व हमारे व्यक्तित्व के एकीकरण में बाधक है और हमारे उच्च व निम्न स्व को अलग करता है। यह हमें अपने आप से भी सत्य का सामना करने से रोकता है। यह हमें एक सतह पर यह सोचने को प्रेरित करता है कि हम जो होने की इच्छा कर सकते हैं वह सब कुछ हम हैं। दूसरी सतह पर हमारा आन्तरिक स्व ? जैसे पुकार पुकार कर कहता है—हम वह नहीं हैं। और हम इस आत्म-सम्मान रूपी झिल्ली को या रोक को और भी कस कर पकड़ लेते हैं और किसी पर विजय न पा दोनों स्तरों के गुलाम बन कर रह जाते हैं।

यदि हमें आध्यात्मिकता के क्षेत्र में बढ़ना है तो इस आत्म-सम्मान को अलग हटाना होगा—हम अपने विषय में क्या सोचते हैं उस का कोई अर्थ नहीं। कुछ सोचने की आवश्यकता ही क्या है, हम सब एक ही मिट्टी के बने हैं फिर उस को अलग से सोचने से क्या फायदा। किसी में तेल की मात्रा अधिक है किसी में कम। तुम कैन्टकी की मिट्टी के हो, कोई कैलिफोर्निया की मिट्टी का, कोई मेन की मिट्टी का, उससे फर्क क्या पड़ता है।

इसी प्रकार आत्म-सम्मान किस विषय पर ? इस सम्बन्ध में मुझे स्नोह्वाइट व सात बौनों की कहानी का स्मरण हो आता है। उस में यह सुन्दर स्त्री-स्नोह्वाइट की सौतेली माँ, रोज सुबह जादुई शीशे के सामने

जाकर उससे पूछती है कि, "सब से सुन्दर स्त्री कौन है ?" और उत्तर मिलता है, "तुम"। उसको पता था कि वह सबसे सुन्दर है फिर भी एक गुप्त स्रोत से उसको इसकी पुष्टि चाहिए थी। एक दिन जब उत्तर मिलता है कि स्नोह्वाइट सब से सुन्दर है तो वह दु:खी होती है, टूट जाती है, वह टूटना, चूर-चूर हो जाना यहाँ भी होता है। हम उस शीशे की बात कर रहे हैं, जिस में हम अपने आप को देखते हैं। शीशे में हम खुद को देखते हुए कहते हैं—"ए चारी ! दुनिया में सबसे अच्छा आदमी कौन है ?" शीशा कहता है "चारी।" (हँसी)...................... ।

मैं इस तरह फूला, इतराता हुआ चलता हूँ और एक दिन जब मैं आध्यात्मिकता में कदम रखता हूँ तो शीशा भी मुझ से झूठ नहीं बोल सकता। शीशा मुझ से कहता है कि मुझसे ऐसा प्रश्न मत पूछो क्योंकि जो मैं कहूँगा वह अच्छा नहीं लगेगा। उस समय यदि हममें शक्ति होती है तो हम शीशे को तोड़ कर उस में देखना चाहते हैं ताकि वास्तविकता को जान सकें। मैं जानना चाहता हूँ ताकि मैं अपने आप को सुधार सकूँ, बना सकूँ ताकि तुम सच्चाई के साथ कह सको कि ? "चारी"। उस के लिये हमें अपने आप को सुधारना पड़ेगा और उसकी जिम्मेदारी हमारे ही ऊपर है। जैसा कि अमरीका में कहते हैं कि गेंद तुम्हारे ही पाले में है। और अगर इसके लिये किसी की सहायता की आवश्यकता है तो उसके सम्मुख तुम्हें अपने आप को नग्न करना होगा। वह एक शीशे का कार्य करेगा।

आध्यात्मिक जीवन में यह एक समस्या है। लोग आते हैं और जाते हैं। जब वह पूजा में बैठते हैं तब उन्हें अच्छा लगता है परन्तु वह उसके विषय में बातचीत करने में संकोच करते हैं। जो अभ्यासी वर्षों से इसमें हैं वे भी इस विषय में बात करने में संकोच करते हैं चाहे वह रिश्तेदारों से हो या मित्रगणों से या सहयात्रियों से, क्योंकि दूसरा व्यक्ति यह प्रश्न कहीं न कर बैठे, "तुम क्या थे और क्या हो ?" हमारे परिवर्तन के बावजूद यह संकोच जारी रहता है। क्योंकि मैं क्या था इस विषय में मैं नहीं बताना चाहता। अपने नव निर्माण के बावजूद अपने अतीत के विषय में बताते हुए हमें शर्म आती है। मुझे तो इस में शर्मनाक कुछ दिखाई नहीं देता है। अब जो हम बन गये हैं वह और भी सराहनीय हो जाता है जब हम बीती बुराइयों की चर्चा करते हैं। एक सेब अगर एक सेब बन गया है तो उसमें अचरज की कोई बात नहीं। परन्तु अगर तुम्हारे हाथ मे एक मिट्टी के ढेले ने सेब का रूप धारण कर लिया है-सुन्दर, स्वादिष्ट, पीला सेब तो उसमें अचरज की बात है। वास्तव में

अगर मुझे यह अवसर मिलता तो मैं इस की अवश्य डींग हाँकता कि देखो मेरे मित्र मैं कल मिट्टी था और आज मुझे देखो। यहाँ फिर यह आत्म सम्मान बीच में आ खड़ा होता है और हम यह भी स्वीकार करने को तैयार नहीं कि हम क्या थे। यही कारण है कि नये नये धनी लोग, जिन्होंने किसी भी पथभ्रष्ट व गैरजिम्मेदाराना ढंग से धन एकत्र किया है, सब से पहले अपना अपने पिता व दादा की बड़ी बड़ी फोटो बैठक में लगवाते हैं। यह एक महज दिखावा है कि वह आज से नहीं परन्तु परम्परा से सुसंस्कृत पुराने लखपति हैं। हम यह किस्सा गढ़ लेते हैं। कलाकार व चित्रकार आदि इसी प्रकार से तो जीविका कमाते हैं।

इस प्रकार कोई व्यक्ति लखपति बनने के बाद सुन्दर, सांस्कृतिक व परम्परागत अतीत का दिखावा करता है। वह सुन्दर मोटी मोटी चमड़े की जिल्द वाली पुस्तकें खरीदता है, जिसे वह कभी पढ़ता तो नहीं, परन्तु वह उसके खूब पढ़े लिखे होने का भ्रम अवश्य पैदा करती हैं। जब कोई उससे कहता है, "अरे हैरी, तुम्हारे पास तो बहुत सुन्दर पुस्तकें हैं।" तो वह कहता है, "हाँ इसके लिये मुझे ७७०,000 डॉलर खर्च करने पड़े, वह ज्ञान को भी पैसों के पलड़े में तौलता है, क्योंकि उसने उन्हें कभी पढ़ा ही नहीं। उसके बच्चे भी शायद उन्हें कभी न पढ़ें और किसी दिन वे पुस्तकें रौकफेलर या इसी प्रकार के किसी पुस्तकालय को दे दी जाती है, और वह मनुष्य मानव प्रेमी के रूप में जाना जाता है। उसने वे पुस्तकें दान की है। जिनको उसने कभी पढ़ा ही नहीं। यह सब केवल उस आत्म सम्मान की भावना को बढ़ावा देने के लिये ।

जब मैं अपने गुरुदेव के पास गया तो आश्चर्य करता और अक्सर सोचता—क्योंकि वहाँ पर न तो मुझे बड़ी बड़ी तसवीरें, दिखाई दीं और न ही कोई पुस्तकें। ऐनक भी जो वह पहनते थे ५० वर्ष पुरानी होगी, शायद जब से बनी थी। कहीं कोई दिखावा व प्रदर्शन नाम मात्र का भी नहीं। उनसे प्रश्न करने पर या तो वह कहते यह इसका उत्तर है, या कहते मुझे मालूम नहीं मैं लालाजी से इस विषय में पूछूँगा (लालाजी उनके गुरु थे)। भाइयों व बहनों, अगर हमें आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़ना है तो सब से पहली शर्त यह है कि हम इस आत्म-सम्मान रूपी जैकेट को हमेशा के लिये घर पर छोड़ आएँ। हमारा पूर्ण रूप से अपने साथ ईमानदार न होना हमारी उन्नति में बाधक है। जब तक हम यह सोचते है कि जो हमें होना चाहिए, हम वह हैं तब तक बदलाव हो ही नहीं सकता।

अगर एक मनुष्य यह सोचता है कि वह पढ़ा लिखा है, तो उसको स्कूल जाने से क्या लाभ। ज तक उसमें भावना है कि "मुझे सब पता है "कुछ सीख ही कहाँ सकता है। वह जैसा आया था उससे भी बदतर हो कर स्कूल से जायेगा। अगर एक जहाज चालक 'मिलवौकी'[1] के ऊपर उड़ रहा हो और वह सोचे कि मैं मौनटाना[2] के पास हूँ तो आप क्या कहेंगे, यही न कि उसकी जहाज की मशीन व सुइयों में खराबी हो गई होगी। आप उसको केवल चेतावनी दे सकते हैं कि इस रास्ते से हट जाओ दूधर एक बड़ा जहाज सीधा तुम्हारी ओर आ रहा है। फिर वह बिना जाने बूझे कि क्यों जा रहा है, कहाँ जा रहा है, तेजी से नीचे की ओर गोता लगायेगा क्योंकि उसकी सुइयाँ गलत दिशा दिखा रही हैं। इस कारण सब उथल पुथल मची है। इसी प्रकार हमारा आत्म- सम्मान भी उन गलत सुइयों की भाँति है जो हमें गलत दिशा दिखाती है, हमसे झूठ बोलती है, हमें कहती है कि तुम यह हो, तुम वह हो, तुम्हारी परम्परा व संस्कृति इतनी महान है, तुम दुनिया में सब से उत्तम हो।

इसी पर जोर देते हुए मैं एक किस्सा सुनाना चाहता हूँ। हो सकता है कि आपने पहले सुन रखा हो परन्तु वह अत्यधिक सुन्दर किस्सा है। एक युवा जैसे पीटर है, एक गुरु के पास गया और उससे कहा कि मुझे अपना शिष्य बना लीजिये। गुरु ने कहा गुरु दक्षिणा के रूप में मुझे क्या दोगे ? उसने उत्तर दिया जो भी आप माँगें। गुरु ने कहा मुझे संसार में सब से गिरी हुई व बदतरीन वस्तु ला कर दो। युवा ने सोचा यह तो सरल होगा और वह तलाश में चल दिया। वह देखता यह सबसे गन्दी चीज है, फिर और कुछ देख कर विचार आता यह तो उससे भी बदतर है। तलाश चलती रही और ३ वर्ष बीत गये ओर रोज उसे पहले से भी बुरी चीज दिखाई दे जाती। मुझे क्षमा कीजियेगा अब थोड़ा सा गन्दा वाकया आता है। एक दिन वह सुबह शौचालय गया तो उसे विचार आया—"अहा, यही दुनिया में सब से गन्दी चीज है। न तो इसे कोई देखना पसन्द करता है न सूँघना, आदि आदि।" उसने सोचा आज तो मेरा काम बन गया। मैं यही गुरुदेव के पास ले जाऊँगा। यह सोच कर उसने कल को पकड़ने के लिये हाथ बढ़ाया तो उसके अन्दर से एक आवाज आई, "यह क्या करते हो ?" उसने उत्तर दिया, "तुम्हीं दुनिया में सबसे गन्दी चीज हो। इसलिये गुरुदक्षिणा के रूप में मैं तुम्हें

---

१. अमरीका के विस्कांसिन प्रदेश में एक शहर जो मिशिगन झील पर बसा है।

२. अमरीका का एक दूसरा प्रदेश जो मिलवौकी से लगभग १००० मील दूर है।

गुरुदेव के पास ले जाऊँगा।" फिर उसके अन्दर से एक व्यंगात्मक हँसी की आवाज आई, "अहा कल मैं ही चारी के जन्मदिवस का केक था, वह सुन्दर सेब था, वह स्वादिष्ट सूप था जिस पर गाजर तैर रही थी। फिर तुमने मुझे छुआ और तुम्हारे सम्पर्क में आने से ही आज मैं यह बन गया हूँ। अब तुम ही फैसला कर कि दुनियाँ की बदतरे चीज क्या है ?" फिर उसके अन्दर आत्म-ज्ञान की जागृति हुई और वह गुरु के चरणों में जाकर गिर पड़ा। जब गुरु ने पूछा क्या तुम सब से बदतरीन चीज लाये हो ? तो उसने उत्तर दिया "मैं ही वह हूँ" और गुरु ने कहा तुम मेरे शिष्य हुए।

सो जब तक यह अहं, यह आत्म- सम्मान जिसको हम संसार में दर्शाते फिरते हैं और जिसके सहारे अपने आप को संसार में बहुत विशेष व बड़ा समझते हैं, जब तक इसका खात्मा नहीं होगा तब तक हमारी आत्मोन्नति की कोई सम्भावना नहीं। मैं कहूँगा कि हम में से अधिकतर के लिये ही नहीं, यह सब के लिए बहुत कठिन कार्य है। कठिन इसलिये नहीं कि सचमुच कठिन है, बल्कि इसलिये की हम सब ने जो अपने स्वयं के लिए अपनी एक कृत्रिम छवि बना रखी है उसी पर हमारी जिन्दगी निर्भर है। हम जो सोचते हैं कि हम हैं हम वास्तव में वह हैं नहीं। परन्तु हमने एक ऐसी कृत्रिम छवि का निर्माण किया है जो हमसे कहती है, "हम अच्छे हैं, महान हैं" और इसी के सहारे हम अपनी जिन्दगी का सफर तै करते हैं, चाहे वह बनावटी ही क्यों न हो। इसी कारण हम ऐसा कुछ भी नहीं पा सकते जो महत्वपूर्ण व स्थाई हो, चाहे हम लखपति बन जायें या विश्वविद्यालय में अध्यापक ही क्यों न बन जायें। यही कारण है कि कुछ समृद्ध समाजों में हम हिप्पी आदि देखते हैं जो नशीली दवाइयों का सेवन करते हैं, शराब पीते हैं और आत्म-हत्या की प्रवृत्ति रखते हैं। यह वह व्यक्ति है जो लोक से परे हट कर भटक गया है और वास्तविकता से दूर चला गया है। यह इतना भटक गया है क्योंकि वह कुछ और है और कुछ और दिखाना चाहता है। एक दिन इन दो छवियों का-जो वह वास्तव में है और जो वह दिखाना चाहता है-समन्वित करने का संघर्ष वह सहन नहीं कर पाता। उस सत्य व असत्य की दूरी के बीच जीना असम्भव हो जाता है और वह आत्म-हत्या कर लेता है।

जब हम आत्म- सम्मान को बिना सोचे समझे एक झूठे प्रदर्शन के रूप में अपनाते है तो सांसारिक रूप में हम चाहे कितने ही सफल क्यों न हों, हम विनाश की ओर बढ़ रहे हैं। यही कारण है कि देश के महान से महान लोग—जो हमारी नजरों में महान हैं, जिस प्रकार की महानता हम समझते

हैं, जैसे कि राजनीतिक महानता, भौतिक महानता, बौद्धिक महानता—इनमें ही अने विनाश की प्रवृत्ति अधिक होती है। एक प्रोफेसर का शराबी होना या एक राजनीतिज्ञ का छिपा हुआ चेहरा जो किसी भी प्रकार के सत्य का सामना नहीं कर पायेगा, इसका और कारण क्या है ? आजकल तो ऐसे घिनौने उदाहरण अक्सर मिलते हैं, और विचार आता है कि यह लोग सफलता की सीमा तक कैसे पहुँचे। यह लोग किसी भी तरीके से महान बनना चाहते थे-सचमुच महान नहीं थे जैसा कि एक सन्त होता है। परन्तु साधारणतया हम जो महानता का अर्थ समझते हैं। दुनिया की नजरों में महान बनने की इच्छा कि लोग कहें, "वाह ! वह कितना महान है।" ऐसे लोग खुद भी गिरते हैं और पूरे समाज को भी अपने साथ ले डूबते हैं। इसलिये आत्महत्या केवल एक व्यक्ति की आत्महत्या नहीं परन्तु पूरे समाज की आत्महत्या है।

भाइयों व बहनो, मेरे विचार में यह बहुत महत्वपूर्ण है कि हम अपने आप को दीनता से गुरुदेव के हवाले करें। अपने आत्म-निर्धारित मूल्यांकनों पर निर्भर न रहते हुए वास्तविकता को गुरुदेव के सामने खोल दें।" गुरुदेव मैं यह हूँ" और गुरुदेव कहेंगे, "हां पुत्र मुझे तो हमेशा ही पता था। जो तुम मुझे दिखा रहे हो वह मेरे लिये देखना आवश्यक भी नहीं था। परन्तु तुम्हारे लिये यह दिखाना आवश्यक था क्योंकि यह तुम्हारी विनम्रता का प्रतीक है, तुम्हारे सच्चे आत्म-सम्मान की इच्छा को दर्शाता है। सच्चे माने में तुम्हारे वह बनने की इच्छा का प्रतीक है जिस पर तुम नाज कर सको और इसी कारण इसे असलियत कहा जाता है।

सो, अगर आपको अपने आध्यात्मिक ज्ञान व अनुभूति की चरम सीमा पर पहुँच कर लगे कि आप कुछ भी नहीं तो आपको एहसास होगा कि आप आन्तरिक रूप से और बाह्य रूप से भी असलियत का सामना कर रहे हैं। अब न कोई अचेतन है न अतिचेतन हैं। मैं हर परिस्थिति में एक सा हूँ। मैं दोस्त व दुश्मन सब से एक सा हूँ। पुरुष-स्त्री सब से सम भाव हूँ। जगत मेरे लिये समान है। पशु, पक्षी, वनस्पति सभी के प्रति ऐसे व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई दो रूप नहीं होते, वह हमेशा एक ही रहता है। यह व्यक्तित्व का एकीकरण है और वास्तविकता को देखने की शक्ति है। उन सब नाटकीय विशेषताओं को जिन्हें मैंने अपने लिये रचा था उन सब को फेंककर मैंने अपने भीतर वास्तविकता की रचना की है। यही असली आध्यात्मिकता है।

आशा करता हूँ कि हम सभी में वह साहस होगा कि हम अपने आप को खुद के हवाले कर दें। वास्तव में यह सब कुछ इसी विषय पर है। अपनी उस झूठी व बेकार की छवि को गुरुदेव के समक्ष समर्पण करना और कहना "यह सब बेकार है, लो और अब जो भी मुझे बनाना चाहते हो बनाओ, ताकि एक दिन जब मैं इस अनुभूति की अन्तिम सीमा पर अपने आप को देखूँ तो तुम्हें पाऊँ। और वही मेरी यात्रा का अवसान होगा।"

15-9-95. धन्यवाद।

अवस्था व अनुभव

१० अगस्त १९८७

(1)

कल मुझ से अपेक्षा की गई थी कि मैं आध्यात्मिक अवस्थायें व अनुभव और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर आप से कुछ से वार्तालाप करूंगा, परन्तु मैं विषय से कुछ हट गया था, जो मेरे ख्याल में, आवश्यक था। आज मैं फिर (कुछ मुसकराते हुए) आध्यात्मिक अवस्था और अनुभव से आरम्भ करता हूं और देखते हैं कि कहां पहुंचते हैं (मुसकराते हुए)

जब हम ध्यान प्रारम्भ करते हैं या सत्संग और सहज मार्ग की प्रक्रिया आरम्भ करते हैं तो एक आवश्यकता व प्रवृत्ति होती है कि हम इस पर गौर करें कि ध्यान के दौरान हमने क्या अनुभव किया, अथवा दशा क्या थी। यह एक प्रारम्भिक समस्या भी है, क्योंकि एक प्रकार से ह में यह शिक्षा दी गई है कि हम कुछ अनुभव होने की आशा करें। परन्तु अनुभव क्या है ? मुझे नहीं पता कि अनुभव क्या है। हम या कम से कम मैं जितना जीवन काल से गुजरता जाता हूँ, उतना ही मुझे सन्देह होता है कि क्या अनुभव नाम की कोई चीज है। हम जो अनुभव करते हैं उसे हम अनुभव कहें या एक प्रकार की परिस्थिति—जैसे, यदि हम बाहर जायें तो ठन्ड लगेगी, क्या वह अनुभव है। साधारण भाषा में हम यही कहेंगे," मुझे बाहर ठन्ड का अनुभव हुआ।" परन्तु मेरे विचार में यह अनुभव बिलकुल नहीं है। जब मैं बाहर जाकर ठन्ड में खड़ा होता हूँ, ठन्ड का अनुभव करता हूँ। कमरे में वापस आने पर मैं गरम अनुभव करता हूँ। खाना भी एक अनुभव है या गाड़ी में सिएटल आना भी अनुभव है। आज तो सब कुछ एक अनुभव ही है। गहरी नींद में सोना एक अनुभव है, और नींद न आए तो यह दूसरा अनुभव है। मेरे विचार में ठीक ठीक कहें तो अनुभव कोई वह चीज है जो सामान्य घटना क्रम में हमें न होता हो। ऐसी कोई चीज जो किसी परिस्थिति से निकट रूप से सम्बद्ध न हो, जो उस परिस्थिति में होना स्वाभाविक न हो। ऐसा कुछ जो नहीं होना चाहिए था। मान लीजिए इस समय बाहर ठन्ड में पेड़ के नीचे खड़े होकर मुझे गरमी लगे, या नहर या तालाब में कूद जाऊँ और गरमी का

(1) Now I am feeling that master has made me capable to understand conditions and experiences.

(ती) हिंदी स्थान

अनुभव करूँ तो वह एक अनुभव होगा। जब हमें ठन्ड लगनी चाहिए उस समय ठन्ड का अनुभव करना कोई विशेष बात नहीं, उसे अनुभव नहीं कहा जा सकता। यह गलती हम सब करते हैं—कि आँख बन्द करने पर मुझे केवल अंधकार ही दिखाई देता है, इसे अनुभव नहीं कहा जा सकता। कल्पना कीजिए कि सब बत्तियाँ बन्द हों परन्तु मुझे ऐसा लगे कि जैसे गाड़ी की दोनों बत्तियाँ मेरे चेहरे पर केन्द्रित हैं तो यह उलटा होगा और इसे हम अनुभव कह सकते हैं। सर्वप्रथम क्या अनुभव है और क्या नहीं है इसमें भेद करना है। हममें से अधिकतर अनुभव करने की चिन्ता व आकांक्षा में हर चीज की अगर वह कुछ मतलब का समझ में आती है तो उसे अनुभव का नाम दे देते हैं। यह हर चीज को अनुभव में बदलने की प्रवृत्ति का सम्बन्ध हमारी उस भावना से है, जो हमें यह सोचने पर बाध्य करती है कि ध्यान करने पर हमें अनुभव होना चाहिए। यह वास्तविक अनुभव नहीं परन्तु एक अनुभव की आवश्यकता है। यह पहली बात है जो हमें विशेष रूप से समझती है।

दूसरी बात जो ध्यान देने की है, वह है कि हम वास्तविक अनुभवों को उन अनुभवों से कैसे अलग करें जो कि स्वभावतः परिस्थिति के परिणाम स्वरूप हैं। इसके लिए क्या स्वभाविक है और क्या नहीं इसका ज्ञान आवश्यक है। अब अगर मैं सेब खाऊँ और वह अचार की भाँति मेरी जबान को जलाए तो वह एक विचित्र सेब होगा—है न ? या मैं आम का मिर्ची भरा अचार खाऊँ और वह मीठा लगे तो यह विचित्र होगा और यह विचित्रता इस बात का मूल्यांकन करने में संकेत का काम करती है कि क्या अनुभव है और क्या नहीं विचित्रता का अर्थ है, कि उस क्रिया से सामान्यतया वह अनुभूति होनी चाहिए। इस प्रकार जब हम ध्यान में बैठते हैं, साधारणतः हम आशा करते हैं कि हम शांत होंगे, विचारों की क्रिया कुछ कम होगी या धीमी होगी, इसलिए इन्हें हम अनुभव नहीं परन्तु ध्यान का एक परिणाम कह सकते हैं। परनतु नया अभ्यासी अधिकतर कहेगा "श्रीमान्, आज मुझे आश्चर्यजनक अनुभव हुआ।" "क्या अनुभव हुआ ?" "आज मुझे कोई विचार नहीं आए". और प्रशिक्षक भी बहुत खुश होकर कहता है "बहुत अच्छा।" तकनीकी रूप से यह कोई अनुभव नहीं है परन्तु एक अवस्था है जो ध्यान के फलस्वरूप या सही ध्यान के फलस्वरूप पैदा हुई। अब जब हम डायरी लिखना आरम्भ करते हैं तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए। विचारहीन होना या उनमें कमी होना, अपने अन्दर व अपने वातावरण में शांति अनुभव करना वह

अवस्था है जो इस बात की सूचक है कि हमारा ध्यान सही है। इस प्रकार हमें अवस्था व अनुभव में भेद करना है। मेरे विचार में कल चिन्टू व लता मुझको शायद इसी बात को विस्तार से कहने के लिए कह रहे थे, उनका अभिप्राय इसी से था।

अब दूसरी चीज है कि जहां यह दोनों हैं इनके बीच की भिन्नता तो है ही, परन्तु साथ ही साथ इनके बीच की परस्पर प्रक्रिया भी है। यह इस अर्थ में होता है कि जब हमारी स्थिति स्थूल होती है, जैसा कि आध्यात्मिक जीवन की आरम्भिक स्थितियों में होता है, तो वह स्थूलता हमारे अनुभव को प्रभावित करती है, जैसे बुखार आने पर हमें खाने का स्वाद ठीक से पता नहीं च लता। सिगरेट पीने वाले को पता है कि बुखार होने पर वह सिगरेट का आनन्द नहीं ले सकता। अब सिगरेट के अन्दर तम्बाकू में तो कोई फरक नहीं हुआ। फरक तुम्हारे अन्दर है। बुखार के कारण तुम्हारे लिए उसे महसूस करना असम्भव है। सो हमारी आन्तरिक अवस्था हमारे अनुभवों को प्रभावित करती है। एक अत्यन्त साधारण उदाहरण है। हम बड़ी अच्छी गाड़ी में सुन्दर प्राकृतिक वातावरण से होकर गुजरते हैं, परन्तु यदि सफर करने वाला व्यक्ति सो जाता है तो वह कुछ अनुभव कैसे कर सकता है। सो यह जानने के लिए कि अनुभव क्या है और क्या वह सचमुच अनुभव है, हमें अपनी स्थिति के विषय में पता होना चाहिए और साथ ही साथ यह पहचानने की सतर्कता चाहिए कि क्या हो रहा है। एक निष्क्रिय स्थिति में जिसमें हम निद्रा की अवस्था में हैं, हमें चौधिया देने वाली बिजली या गरज की आवश्यकता होगी, यह जानने के लिए कि यह अनुभव है। जैसे कहते हैं कि अनुभव कराने के लिए उसे मुक्का लगाना पड़ेगा। सो अनुभव होना या अनुभव को अनुभव करना दो अलग अलग चीजें हैं। सफर करते हुए व्यक्ति के लिए रास्ता तो गुजर रहा है चाहे वह जाग रहा हो या सो रहा हो। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य तो दोनों ओर हैं परन्तु जो सो रहा है उसने तो कुछ देखा ही नहीं और उसके लिए तो कुछ हुआ ही नहीं। परन्तु जो जाग रहा है और उसमें सौन्दर्य को देखने व परखने की भावना है, रंगों व आकारों को परखने की भावना है वह हर दृश्य में सौन्दर्य देखता है। एक व्यापारी लकड़ी देख कर यही कहेगा कि कितनी सुन्दर लकड़ी है, इस प्रकार के एक एकड़ जंगल में मुझे कितने टन लकड़ी प्राप्त हो सकती है, और आगजनी करने वाला सोचेगा वाह, इसमें माचिस लगाने पर कितनी बढ़िया अग्नि प्रज्ज्वलित होगी इस प्रकार हम वही देखते हैं जो हमें दिखाई

पड़ता है, क्योंकि हम उसी प्रकार अनुकूलित हैं। दृश्य के विषय में जो मैं सोचता हूँ वही देखता हूँ। इसी प्रकार श्रव्य के विषय में जो मैं सोचता हूँ वही सुनता हूँ। इसका निर्णय आप उन चार व्यक्तियों की प्रतिक्रिया देख कर, कर सकते हैं जो एक ही व्यक्ति के इर्दगिर्द बैठ कर उसकी बात सुन रहे हैं। अगर आप उनसे पूछें कि क्या सुना तो आपको आश्चर्य होगा कि चारों व्यक्तियों ने एक ही समय में उसी व्यक्ति से भिन्न-भिन्न बातें सुनीं। वह कोई बात कहा रहा है और चारों सुन रहे हैं पर सब ने भिन्न-भिन्न सुना। ईसाई मत में कहा गया है, "तुम्हारी आँखें हैं परन्तु तुम्हें दिखाई नहीं देता, कान हैं पर सुनाई नहीं देता।" इसका अर्थ यह नहीं था कि तुम अन्धे या बहरे हो। उनका अर्थ था कि केवल आँखों का होना काफी नहीं, परन्तु तुम्हारे अन्दर अनुभूति की क्षमता भी होनी चाहिए। जो तुम देख रहे हो उसका मूल्यांकन करने की क्षमता भी होनी चाहिए कि क्या वह सत्य है या कल्पना की झलक है। धुँधले प्रकाश में निकल जाने पर चारों ओर भूत की कल्पना करना बड़ा सरल है। जरा सी हवा चलने पर कायर व्यक्ति के लिए यह सोचना कितना सरल है कि भूत है। मैं शायद सोचूँ कि भालू है, और कोई कुछ और सोचेगा। परन्तु वास्तव में क्या हो रहा है ? केवल आँखों का होना पर्याप्त नहीं है।

कितनी बार जब यहाँ मैं अपने कमरे में बैठा होता हूँ, तो पेड़ों के बीच हवा के चलने की आवाज सुन कर सोचता हूँ कि वर्षा हो रही है। जब बाहर निकल कर देखो तो पता चलता है कि साधारण से ज्यादा तेज हवा है जो वर्षा की आवाज पैदा कर रही है। अगर हम केवल इन्द्रियों पर, अपनी इन सुन्दर इन्द्रियों, आँख, कान, नाक, स्वाद आदि पर निर्भर रहें, कि संसार क्या है, तो जो विचार हमारे मन में होगा वह वास्तविकता से बिलकुल भिन्न होगा। केवल देखना, सुनना, छूना, चखना या उसका बोध होना पर्याप्त नहीं, इनका मूल्यांकन करना तथा जो वास्तविकता इन अनुभवों के पीछे से झाँक रही है उसकी अनुभूति भी आवश्यक है। इस अर्थ में अनुभव हमारी चेतना में झांकती हुई उस अनुभव की वास्तविकता का केवल तात्कालिक स्पर्श मात्र है जो हमारी प्रतीक्षा करती है कि हम अनुभव के पर्दे के पीछे उसे देख लें। अगर आप नहीं देख पाते तो वह शरमा कर पीछे हट जाती है। यही कारण है कि हमें अनुभव पर अनुभव होते हैं, परन्तु वे हमारी चेतनता में प्रवेश नहीं कर पाते और हमारी आत्मा पर कोई छाप नहीं छोड़ते। हम सूर्योदय के बाद सूर्योदय देखते जाते हैं, एक के बाद एक मृत्यु

देखते जाते हैं परन्तु वह कोई छाप नहीं छोड़ते और हम यही सोचते हैं कि हम सदैव जीवित रहेंगे। आप ध्यान कब आरम्भ करेंगे ? "ओह अभी बहुत समय है।" "परन्तु उस बेचारे की ३२ वर्ष की आयु में ही कल मृत्यु हो गई।" दूसरा कहेगा, "दुःखमय है परन्तु मैं तो अधिक शक्तिवान हूँ और मुझे ज्योतिषी ने कहा है कि मैं ८६ वर्ष तक जीवित रहूँगा।" सो हम अपना भाग्य ज्योतिषी व औषधि की पुस्तकों पर छोड़ देते हैं।

हम तर्क का विचित्र तरीका अपनाते हैं—"उसकी मृत्यु कैंसर से हुई है, और चूँकि मुझे कैंसर नहीं है इसलिए मैं नहीं मरूँगा।" मेरी मृत्यु का सम्बन्ध इस ब्रह्मांड में किसी अन्य मृत्यु से नहीं। मेरा जीवन भी संसार में किसी और से सम्बन्धित नहीं। मेरा जीवन, मेरा अस्तित्व मेरे संस्कारों के कारण बिलकुल स्वतन्त्र है। क्या सड़क पर एक गाड़ी इसलिए चलती है क्योंकि दूसरी गाड़ी उसके सामने जा रही है। यह समय और स्थान का महज इत्तफाक है कि वह एक दूसरे के पीछे हैं। फिर हम पागलों की भाँति एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ में रहते हैं। पहले बत्तियां झपकाना और यदि और वाला उसकी अनदेखी कर देता है तो धीमा सा हार्न और इतने पर भी अगर उसने ध्यान नहीं दिया तो हम बस पैडल दबाकर 'साँय से' आगे निकल जाते हैं। सबसे पीछे वाले को शैतान ले जाये। इस प्रकार भी एक तरह से सब जीवन सम्बन्धित हैं क्योंकि सभी एक ही अस्तित्व का अंश हैं। दूसरी तरफ, मैं इसलिए नहीं जीता या मरता हूँ क्योंकि कोई दूसरा जीवित है या मर रहा है।

आप सब को पता है कि ऐसी हृदय विदारक घटनाएँ होती हैं जिसमें हमारे बहुत प्रिय व सगे की मृत्यु हो जाती है और हम भी उसके साथ जाना चाहते हैं, और सोचते हैं कि मैं अकेला यहाँ क्या करूँगा ? मेरे अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं, मेरे जीवन में कोई लक्ष्य नहीं। परन्तु प्रकृति कहती है, "रुके रहो। मुझे पता है कि तुम्हें क्यों चलते रहना है।" और प्रभुकी कृपा से परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। अगले दिन तुम एक नये प्रभात में जागते हो, एक नए अस्तित्व का शुभागमन, और तुम सोच में पड़ जाते हो कि कल जीवन का अन्त करने जैसा निन्दनीय विचार तुम्हारे मन में कैसे आया। अगर आज अंधकारमय है तो कल अवश्य प्रकाशवान् होगा, एक नई सुबह, एक नया दिन जब कि जीवन के प्रति मेरा नजरिया फिर से बदल गया होगा। अगर अगले दिन इन सब का अनुभव करने के लिए मैं नहीं होता तो मैं सब से बड़ा मूर्ख हूँ।

इसी कारण आत्महत्या एक पाप है। सामाजिक व कानूनी पाप नहीं, परन्तु एक नैतिक पाप। जब आप अपने जीवन को समाप्त करने हेतु आत्महत्या करते हैं तो आप प्रकृति के पहले ही नियम का उल्लंघन करते हैं कि हर वस्तु करीब करीब लगातार बदलती रहती है। अपने अस्तित्व का अंत कर के आपने बदलाव की उस सम्भावना का भी अंत कर दिया। यह विकास के विरूद्ध है। इसलिए किसी भी पुरुष, स्त्री व बालक को अपने जीवन पर यह अधिकार नहीं और दूसरे के जीवन पर तो और भी कम। इसी कारण नैतिक नियम कहता है," तुम हत्या नहीं करोगे।" जब आपको अपने जीवन व अस्तित्व पर कोई अधिकार नहीं, क्योंकि प्रकृति अपनी असीम कृपा से आपके लिए जीवन के प्रत्येक पल में असीम सम्भावनाएं खोले हुए है तो मेरी सम्भावनाएं जो मेरे मुझमें विकसित हो रही हैं उसका आप कैसे अन्त कर सकते हैं। जो मैं अपने साथ नहीं कर सकता उसको दूसरों के साथ क्योंकर ?

इसी कारण हम आध्यात्मिक अस्तित्व से इस एक बात को जोड़ते हैं। एक तरफ तो मैं ध्यान में बैठता हूँ क्योंकि आँखें बन्द करते ही तत्काल बाकी सब से मेरा सम्पर्क कट जाता है। और शायद जीवन में पहली बार उस अकेलेपन का अनुभव करता हूँ। इसी कारण शायद पश्चिम में लोग पास पास बैठना पसन्द करते हैं, कभी कभी तो परस्पर हाथ पकड़ कर भी, जो कि निन्दनीय है। क्योंकि उस परिस्थिति में आपको निश्चय ही इस बात का अनुभव होना चाहिये कि इस अकल्पनीय विराट ब्रह्माण्ड में नितांत एकाकी होने पर कैसा लगता है। अकेला होना आखिर कैसा होता है और तब आप आश्चर्य जनक रूप से पाते हैं कि आप वस्तुतः अकेले नहीं हैं। यह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। यह कहना कि वह अनुभव तीव्र है एक निर्बल अभिव्यक्ति होग, यह कहना कि वह जोरदार है उससे भी कमजोर होगा।

वह उल्लासपूर्ण है। अपना सीना चौड़ा कर के और एक साँस भर के प्रकृति की महिमा और ईश्वर की कृतज्ञता में गीत गाने को जी चाहता है। और यह कहने का मन होता है कि "अहा पहली बार मुझे आभास हुआ कि अकेला होना क्या होता है। मैं अकेला हूँ परन्तु एकाकीपन नहीं है। मैं आँखें खोलता हूँ तो २०० लोग मेरे आस पास हैं परन्तु मैं पूरे समय अकेला था।" हमें इस अनुभव की आकांक्षा करनी चाहिए न कि साधारण अनुभव की कि "मेरे सिर में कीड़े मकोड़े चल रहे थे या किसी की सांस मेरी गरदन को छू रही थी।" हमें बहुत होशियारी से यह छाँटना है कि क्या अनुभव है और

क्या नहीं।

हमारी यह सोचने की प्रवृत्ति बन गई है, विशेषकर पश्चिम में, कि हर बात अनुभव है। जैसे कोई पहली बार सिगरेट पीने पर कहता है, "चोरी, यह अत्यनत आश्चर्य-जनक अनुभव था।" ऐसा कुछ भी नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति पहली बार काफी पीने पर कहता है कि बड़ा आश्चर्यजनक अनुभव था। आपको केवल यह कहने का अधिकार है कि मैंने पहली बार काफी पी और वह काफी रद्दी थी" (हास्य) (वह भी मुसकुराते हैं) सामान्यतः वह होती है। जब आप पहली बार पीते हैं तो मतली आती है, लगता है कि सब कुछ बाहर आ जायेगा फिर आप अपने आप को उसका अभ्यस्त कर लेते हैं और सोचते हैं कि सब बड़े और ऊँचे लोग पीते हैं। इसी प्रकार सिगरेट में आप केवल उसके ब्राण्ड पर पहुँच जाते हैं और इसमें सन्तुष्ट होते हैं कि मैंने एक डॉलर का सिगार पिया, फिर २ डॉलर, फिर ५। डॉलर तम्बाकू तो तम्बाकू है चाहे उसकी कुछ भी कीमत हो।

इस प्रकार आप देखते हैं कि एक साधारण प्रतिदिन होने वाली क्रिया जैसे कि काफी पीना, सिगरेट पीना आदि को हम अनुभव का दर्जा देते हैं और अपने अहं को बढ़ावा देने के लिए कहते हैं कि यह सत्य है। उसमें और पैसा लगाते जाते हैं यह सिद्ध करने के लिए कि यह एक मूल्यवान अनुभव है। अपने अनुभव की सत्यता को पहचानने के बजाए जिसे हम अनुभव सोचते हैं उस पर भरसक अपनी धारणाओं की अवास्तविकता थोपते जाते हैं और उसे ऐसे पेश करते हैं कि जैसे वह एकदम नयी अद्वितीय और कोई विचित्र वस्तु है। इस प्रवृत्ति को हमें ध्यान में नहीं घसीटना चाहिए क्योंकि ध्यान का एकमात्र ध्येय सत्यता को पहचानना है और उस सत्यता से एकीकरण है, और अन्त में उसी सत्यता में विलीन हो जाना है, ताकि हमारा अलग अस्तित्व समाप्त हो जाये।

इसमें हमें बहुत होशियारी व विवेक से काम लेना है क्योंकि योग में विवेक अत्यधिक महत्वपूर्ण है व आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द को विवेकानन्द इसलिए कहा गया क्योंकि उसका अर्थ है "विवेक से उत्पन्न होने वाला आनन्द", उनमें अत्यधिक विराट मानसिक क्षमता थी जो कि साधारणतः योगी माने जाने वालों में भी नहीं होती । भारत में हम बुद्धि को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, विचार करने पर संज्ञानात्मक संदेह करते हैं, क्योंकि जब कोई व्यक्ति विचारने की शक्ति रखता है तो वह विचारात्मक रूप से किसी भी चीज का, जिसका वह अपने लिये निर्माण करने की इच्छा

करता है उसके अस्तित्व का, विचार कर सकता है। वह बुद्धि की शक्ति द्वारा दुःखी होते हुए भी विचारात्मक रूप से अपने को सुखी समझ सकता है, या सचमुच सु खी होते हुए भी विचारात्मक रूप से दुःखी समझ सकता है इस कारण पारम्परिक हिन्दू योग परम्परा बुद्धि को सदैव संदेह की दृष्टि से देखती हूँ। बुद्धि की क्रिया, प्रतिदिन के जीवन में उसका स्थान, उसकी सम्मोहक क्षमता से सदैव आगाह किया गया है, क्योंकि अधिकतर वह हमें उन रास्तों पर ले जाती है जहां हमें नहीं होना चाहिए, हमें लुभाती है परन्तु सत्य के दर्शन नहीं कराती।

मानसिक आकर्षण एक अति प्रभावशाली शक्ति है, क्योंकि उसकी प्रकृति ही मोहित करने की है। अब हम योग में सम्मोहन के लिए नहीं हैं, चाहे वह ईश्वर का ही क्यों न हो। ईश्वर मोहित नहीं करता। यह कोई ६ फुट लम्बी सुनहरे बालों वाली, खिलती हुई सुन्दरी नहीं और न ही क्षितिज पर उगता हुआ सूर्य है। यह सब कवि की कल्पना पर छोड़ देना चाहिए। वास्तव में ईश्वर क्या है वह हमें खोजना है। हो सकता है कि वह हमें अपने ही प्रतिबिम्ब के रूप में शीशे से झांकता दिखाई दे (एक हास्यप्रद मुसकान) और नाक पर चश्मा टिकाए तुम्हारी ओर देख कर कहे "कहो पॉल" "आप पूछें" तुम कौन हो ?" और वह उत्तर दे, "तुम मुझे पूरा जीवन खोजते रहे हो !" "तुम्हें ?" और हम अचम्भित होकर कहें, "मैं तुम्हें संसार भर में, ब्रह्मांड में, चिर काल से खोज रहा हूँ और मैंने पाया स्वयं को।" योग का यह अत्यधिक शक्तिशाली सत्य है कि तुम ईश्वर को खोजो तो स्वयं के दर्शन होंगे। इ सी कारण हम अपने अन्दर देखते हैं। इसी कारण सब रहस्यवादी परम्पराओं में ईश्वर को कहीं दूर स्वर्ग में जाकर नहीं खोजते, जहाँ उन्हें किसी तीर्थयात्रा पर जाना पड़े-वह सब पढ़ने में अच्छा लगता है, क्योंकि मानव कठिनाइयों के बाद कुछ प्राप्त करना चाहता है। वह तब तक उपलब्धि का अनुभव नहीं करता जब तक वह कठिनाई व जोखिम से भरा न हो। जो कुछ भी आसानी व सरलता से उपलब्ध हो, हम उसकी अवज्ञा करके कहते हैं "वह अधिक मूल्यवान कैसे हो सकता है।"

यह अति लुभावना व अपूर्व अनुभव कि यात्रा के अन्त में जब मैं उस सर्वशक्तिमान को देखता हूँ तो अपने ही चेहरे को अपने सामने पाता हूँ। जैसे कि वह कह रहा हो" मूर्ख, मैं तो सदैव तुम्हारे ही अन्तः में था और तुम कब से, कितने विभिन्न जन्मों से उसका हम कुछ इस तरह मखौल उड़ाना चाहते हैं कि कितने विभिन्न रूपों में मेरी तलाश कर रहे थे ; सिंधुपंक से

जन्म लेकर प्रगति की विभिन्न सीढ़ियां चढ़ते हुए—जब कि तुम सीधे मेरे पास आ सकते थे। तुम्हें केवल अपने अन्दर झाँक कर ईश्वर को तलाश करने की आवश्यकता थी और मैं तुम्हें मिल जाता। मुझे पाने में तुम अपने आप को भी पा सकते थे। परन्तु याद रहे जब तुम अपनी खोज या तलाश करते हो तो तुम्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता ; परन्तु ईश्वर की तलाश करो तो स्वयं को भी तालाश कर पाओगे।" पुरानी परम्परा का यही संदेश है। एक को तुम स्वार्थ कहते हो और दूसरे को स्वयं की खोज या आत्म कल्याण की चिन्ता कह सकते हो। इस प्रकार हमें कई बार वाह्य रूप से दिखता है कि योगी कैसे अपने खाने पीने में होशियार रहता है, जंगल में भालू से, पानी की तेज धार से सचेत रहता है, क्योंकि अस्तित्व के उस स्तर पर उसे कोई अधिकार या अनुमति नहीं कि वह अपने जीवन को किसी प्रकार के जोखिम में डाले—जिसे हम पश्चिम में साहसपूर्ण कर्म कहेंगे। उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं है।

कई बार मैंने अपने गूरुदेव की आलोचना सुनी। वह अपने कदम बाहर निकालते थे फिर उसे जमीन पर रखते थे। कई लोग कहते थे "वह किस चीज से डरते हैं ?" वह किसी से नहीं डरते थे। जिसको हम संसार का निर्माता कहते थे वह अपने ही निर्माण से क्योंकर डरेगा ? यह तो ऐसा होगा कि जैसे कोई समुद्र के किनारे रेत का महल बनाये और फिर स्वयं डर कर भागे कि कहीं उसके अन्दर से कोई मुझ पर गोली न चला दे। उनके जीवन का नियम कहता है कि "तुम्हारा जीवन पवित्र है, करोड़ों दुःख भरे जीवनों के बाद तुम प्रगति के इस मुकाम पर पहुँचे हो, तुम्हें जोखिम उठाने का कोई अधिकार नहीं।" सम्भवतः अगर मुरुदेव ने अपने मुरुदेव से पूछा होता" मैं क्यों जिऊँ ?" तो उनका उत्र होता "क्योंकि तुम्हें कोई कार्य करना है।"

अब हम सब इस गोष्ठी को छोड़ कर जाते हैं, कोई शनिवार की रात में, कोई बुधवार की शाम को ; क्यों ? क्योंकि हमें काम करना है" ओ चारी, मुझे मंगल की सुबह काम करना है, मुझे क्षमा करना पर तुम्हें तो पता ही है कि अमरीका में कैसा है।" उनका काम कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है। अगर आप का काम कुछ डॉलर कमाना है और मशीनें द्वारा बार बार उन्हीं चीजों को बनाना है, जो कि एक ही तरह की है, चाहे वह पिजा हो या सेब या सन्तरा, उसमें कुछ नया नहीं। उबकाई पैदा कर देने वाला आवर्तन। देश के इस छोर से उस छोर तक चाहे वह पिजा हो या हैम्बर्गर सब कुछ एक सा ही है। इसके लिए हम काम करते है ; अपने डॉलर-

3/10.95.

सर्वशक्तिमान् डॉलर-कमाते हैं ; अपने घर बनाते है। और आध्यात्मिक रहस्य के अभियान पर निकलने के लिए एक दिन भी निकालने में डरते है ; जब कि उससे हमारा जीवन पहली बार ऐसा खिल जायेगा जो हमारी कल्पना से परे है।

परन्तु समाज इसी प्रकार चलता है। "मुझे मंगल की सुबह काम करना है।" आप देखें कि हम अपने लिए ऐसी स्थितियाँ बना लेते हैं जहाँ हमसे कितनी कठोर अपेक्षाएँ की जाती हैं। आध्यात्मिक नियम कहता है, "स्वतन्त्र रहो।" इसका अर्थ यह नहीं कि नौकरी छोड़ कर चीजें चुराते फिरें। इसका अर्थ केवल यह है कि प्राथमिकताएँ तय करें। तुम्हें जीने के लिए कितने धन की आवश्यकता है ? तीस हजार डॉलर ? ठीक है, तब इतना ही प्रति वर्ष कमा कर अपना बाकी समय आध्यात्मिकता में लगाओ। इसे चालीस, पचास, साठ, सत्तर करके चूहा-दौड़ में मत फँसा। या ऐसा चूहा मत बनो जो हवाई चक्की पर चढ़ तो गया पर उसे नहीं पता कि कूद कैसे। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यहाँ कोई ऐसा नहीं है जिसे यह पता हो कि अपनी अपनी चक्की जिसमें वह फँसे हैं उससे कैसे कूदें। और तब गुरु आकर कहता है "बैठो और ध्यान करो, सत्य तुम्हें प्रकट होगा।" परन्तु सत्य का जैसा दर्शन हो, उसे स्वीकार करो। यह मत कहो, "यह एक हास्यजनक भारतीय स्थिति है कि आँख बन्द करो और तुम्हें सत्य के दर्शन होंगे। हमें तो सदैव यही कहा गया है कि सत्य को आँखें खोल कर देखो।" फिर वह विभिन्न तर्क प्रस्तुत करेंगे : "चारी, आँखे बन्द करके तुम कैसे जान सकते हो कि यह लड़की सुन्दर है ?" अगर वह सचमुच सुन्दर है तो आँखें बन्द कर के भी तुम जान जाओगे, कोशिश कर के देखो। अगर एक सेब अच्छा है तो उसे आँखें खोल कर खाने की आवश्यकता नहीं।

आँखों से हम केवल उसका रंग व आकृति देख सकते हैं। कैलिफोर्निया के लोगों को सब से बड़ी चीज चाहिए, न कि सब से अच्छी। कैलिफोर्निया में अमरीका के सब से बड़े सन्तरे, सबसे बड़ी गाजर और कद्दू होते हैं, और सब से बड़े मूर्ख भी (हास्य)। बड़ेपन को महत्व देकर हम गुणों की ओर से विमुख हो गये हैं जो किसी भी चीज का मर्म है। हमने आकार पर एक कृत्रिम मूल्य आरोपित कर रखा है। वास्तविकता कहती है जो अच्छा है वह अच्छा है, छोटा हो या बड़ा। हीरा तो हीरा है, चाहे वह अणु के बराबर हो या करोड़ों कैरेट का हो।

जैसा कि मैंने कल कहा था, अधिकतर हीरे औद्योगिक औजारों के लिये

प्रयुक्त होते हैं। उसी तरह हम भी मामूली औजार ही हैं। अब हम मालिक के लिए मूल्यवान कब बन सकते हैं ? अब आप जानते हैं कि खान के मालिक, किम्बरले की खान से लेकर, किस प्रकार हीरों का वर्गीकरण करते हैं। छोटे हीरे बोरों में भर कर बेचे जाते हैं। औद्योगिक हीरों बड़े हीरों को कई बार सालों सम्भाल कर रखा जाता है—निखारने के लिए, बनाने के लिए—जैसे कि शराब को बोतल में भरने के पहले बड़ी बड़ी टंकियों में भर कर रखा जाता है। उसी प्रकार प्रकृति भी मनुष्यों का वर्गीकरण करती है।

यह साधारण मनुष्य है और यह सन्त है : इसका मुझे ध्यान रखना है, रक्षा करनी है, परवरिश करनी है क्योंकि मुझे इसके माध्यम से काम करना है।

प्रकृति को सन्तों की आवश्यकता होती है, क्योंकि प्रकृति अपने आप में एक नेत्ररहित शक्ति है, जिसमें न कोई विवेक शक्ति है न ही कोई मूल्यांकन की क्षमता, वह बिना देखे काम करती है। प्रकृति कुछ नियमों को चालू कर देती है—जैसे कि तापमान बढ़ने पर गरम हवा उपर उठती है और खाली जगह को भरने के लिए ठन्डी हवा बादलों के साथ उसका स्थान ले लेती है और बारिश होती है। अब उसको यह ज्ञान नहीं कि बारिश की आवश्यकता है या नहीं। उससे बाढ़ आकर फसलों को हानि होगी, सब ओर विनाश होगा, या भूमि को सींच कर खेतों को नया जीवन मिलेगा। उसको इन सब चीजों का पता नहीं संत मानवाकार प्रकृति है,

जिसमें दिल या दिमाग से काम करने की क्षमता है। वह जान सकता है कि कब बारिश की आवश्यकता है और पानी बरसता है, कब इसे बन्द करना है और वह बन्द हो जाता है। यह कोई अतिशयोक्ति या मजाक नहीं है। वह पूरे संसार व विश्व का इस प्रकार नियंत्रण कर सकता है। अब ईश्वर कौन है ? इस प्रकार का व्यक्ति कहेगा, "मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।" मेरे गुरुदेव सदैव कहते थे, "मैं लालाजी से प्रार्थना करूँगा" या "मैं आपके लिए ईश्वर से प्रार्थना करूँगा।" और अक्सर मेरे मन में विचार आता क्या यह झूठ कहते हैं, या धर्मनिष्ठ बन रहे हैं या मेरा ध्यान अपनी ओर से हटा कर दूसरी ओर कर रहे हैं। परन्तु अगर आपने उन्हें क्रियाशील देखा हो तो जानते होंगे कि परिस्थिति की माँग होने पर वह कभी कभी प्रार्थना भी करते थे। संसार की सब आवश्यक शक्तियों के होते हुए भी, वे अपनी नम्रता और सहृदयता के कारण यह आवश्यक समझते थे कि वे एक उच्चतर सत्ता का अपने अन्दर आह्वान करें जो इस कार्य को सम्पन्न

करे। वह उच्चतर सत्ता भी स्वयं वे ही थे।

यह एक मैराथन दौड़ में भाग लेने की भाँति है। छब्बीस मील की दौड़ में भाग लेने वाले किसी अनुभवी के लिए अठ्ठारहवाँ या उन्नीसवाँ मील काफी सरल है। उसके पश्चात् उसे थकान महसूस होती है और पचीसवें मील के अन्त तक वह गिरने की स्थिति में पहुँच जाता है। फिर शक्ति का एक दूसरा झोंका आता है।

वह कहाँ से आता है ? वह उसी के अन्दर से आता है। वह उसे अपने अन्दर छिपे हुए स्रोत से खींचता है जिसका उसको कोई एहसास नहीं था, जब तक कि वह उस चरम बिन्दु तक नहीं पहुँचा। इसी कारण आध्यात्मिकता कहती है, "मृत्यु से पहले मरो, फिर मृत्यु की महिमा को देखो कि वह किस प्रकार तुम्हारे लिए नए जीवन का द्वार खोल देती है जो सब से परे है— वह शाश्वत जीवन जिसका वचन दिया गया था। इसका अर्थ यह है कि वही करना है जो दौड़ने वाला कर रहा है । उस सीमा तक दौड़ो जब तक तुम गिरने की स्थिति में न पहुँच जाओ, फिर आश्चर्यजनक नई शक्तियों का अपने अन्दर अनुभव करोगे—वह आन्तरिक शक्ति जिसकी तुमने कभी कल्पना भी नहीं की थी, क्योंकि तुमने उस सीमा तक कभी प्रयास ही नहीं किया था। आध्यात्मिकता कहती है, "वह वाह्य संसार है, यहाँ इसे तुम अपने अन्तर में करो।" आँखें बन्द कर के ध्यान करो तो ऐसा लगता है जैसे मैं किसी अन्तहीन अत्यन्त अँधेर गह्वर में गोता लगा रहा हूँ। और तब यह प्रवृत्ति उठती है या कभी कभी इस आश्वासन की जरूरत महसूस होती है कि आँखें खोलकर देख लें कि मैं अभी जिन्दा हूँ। यही एक खतरा है।

यह उसी प्रकार है जैसे पंद्रहवें मील पर कोई दौड़ने वाला यह सोच कर रुक जाये, "ओ, चारी जिसके विषय में बात कर रहे थे क्या वह छिपी हुई शक्ति मुझ में है ?" आप उसका अनुभव नहीं कर पायेंगे, क्योंकि रुकने के साथ ही वह चली गई। यह उस पेट्रोल टंकी की भाँति है मुझे पता नहीं कि आपके यहाँ अभी भी होता है कि नहीं—एक आपात कालीन छोटी टंकी जिसे मुख्य टंकी के खाली होने पर खोलते थे। कई चालक लापरवाह होते थे और उसे हर समय खुला छोड़ देते थे। ऐसे में गाड़ी जब रुकती थी तो बिलकुल रुक जाती थी क्योंकि वह छोटी सुरक्षित टंकी पहले से खुली होती थी। उस सुरक्षित टंकी के पीछे धारणा यह है उसका उपयोग उस समय किया जाय जब पेट्रोल चुक जाये और निकट में कोई पेट्रोल भरने का अड्डा

न हो। तब आप उसे खोल कर पास के अड्डे तक जा सकें।

परन्तु यदि आपने हर समय उसे खुला छोड़ दिया है तो ऐसे में आपमें क्षमता नहीं रही कि उसे नियंत्रित कर सकें। हम अपनी शारीरिक शक्तियों के साथ भी ऐसा ही करते हैं। हम उन्हें उस अन्तिम सीमा तक निचोड़ लेते हैं कि जब आवश्यकता पड़ती है तो कुछ भी सुरक्षित नहीं बचा होता।

सो, बुद्धिमानी से जीने का तरीका यह नहीं है कि हम अपनी सारी आन्तरिक शक्तियों को किसी भी क्षेत्र में अनावश्यक रूप से समाप्त कर दें। नैतिकता व ब्रह्मचर्य का एक कारण यह भी है कि आप अपनी क्षमता को उस अन्तिम क्षण के लिए सुरक्षित रख छोड़ें। इस शक्ति को अपनी साधारण प्रतिदिन की क्रियाओं में व्यर्थ बरबाद मत करो, जैसे कि धीमी दौड़ या तैरने आदि में। कल मैंने नौ किया था आज दस और कल चौदह करूँगा। ऐसे में वह सुरक्षित टंकी बेमतलब हो जाती है और हमारे लिए उसका अस्तित्व नहीं जैसा है।

जब हम ध्यान में जाते हैं तो हम यह सब बातें सीखते हैं। कि मुझे ध्यान में मरना है, ताकि ध्यान में मेरा पुनर्जन्म हो सके और जब मैं उससे बाहर निकलूँ तो बाह्य रूप से वही पॉल या बिल होते हुए भी जीवन का एक भिन्न नजरिया लेकर निकलूँ, एक नए अन्तःकरण के साथ जो खुल चुका हो, भिन्न हो, बदला हुआ हो, साफ हो और एक आश्चर्यजनक रूप से पुनः दीप्त कर दिया गया हो। इसलिए हर बार जब हम ध्यान में बैठते हैं और उसमें गहराई में जाते हैं तो नए होकर निकलते हैं। इसी कारण ध्यान हमें ताजगी प्रदान करता है। उसमें कभी थकान नहीं होती ; हम चाहे कितनी ही गहराई में क्यों न जायें उससे ताजा होकर ही निकलते हैं। सब दर्द व चुभन गायब और एक बड़ा दिल लेकर निकलते हैं, जिसकी हमें अति आवश्यकता है। हमें अपने आप में, अपने ही अन्दर एक सान्त्वना मिलती है। एक अर्थ में हम संसार से मुक्त हो रहे हैं। परन्तु हम उसे अंतर से प्राप्त करते हैं। फिर हमें वह चरम अनुभव होता है कि ब्रह्मांड मेरे ही अन्दर है। यह वह ब्रह्मांड नहीं जो मुझे बाहर दिखता है चाहे वह कितना ही बड़ा व विस्तृत क्यों न हो—दस करोड़, दस अरब प्रकाश वर्ष बड़ा भी हो तो क्या हुआ ? वह फिर भी मेरे अन्तर्जगत की नकल भर है। यह निःसीम है और उसे हम प्रकाश वर्षों में माप सकते हैं। आप इसे किसी भाँति भी माप नहीं सकते क्योंकि यह वस्तुतः असीम है।

वस्तुतः असीम होने के कारण इसके साधन भी असीम हैं और

11.11.05

सम्भावनाएँ भी वास्तव में असीम हैं : इसी कारण आध्यात्मिक नियम कहता है कि तुम अन्तर में जाओ तो असीम की ओर जा रहे हो और बाह्य में जीने पर उसी अनुभव की पुनरावृत्ति मान होती है। उबाने की हद तक बार बार वही होता है और हम सोचते हैं कि हम प्रतिदिन एक नई चीज का आनन्द ले रहे हैं। इसलिए आध्यात्मिकता कहती है कि बाह्य जीवन से होशियार रहो वह शीशे में दिखाई देने वाले तुम्हारे प्रतिबिम्ब की भाँति है। जैसे कई शीशों वाले कमरे में खड़े होने पर अकेले होते हुए भी तुम्हें चारों ओर अपने सैकड़ों रूप दिखाई देते हैं। यहाँ आत्मा अपना प्रतिरूप विभिन्न अस्तित्वों में देखती है। वे सत्य हैं या नहीं यह कौन कह सकता है। तुम्हें लगता है कि मैं वास्तव में हूँ और मेरे विचार में तुम वस्तुतः हो। शायद हम दोनों का ही अस्तित्व नहीं है यह तो केवल स्वप्न द्रष्टा के मस्तिष्क में है, ब्रह्माण्डीय स्वप्न द्रष्टा के मन में। यह भयकारी है और साथ ही सम्मोहक भी ।

डराने वाला इसलिए कि यह कल्पना करना लगभग असम्भव है कि मेरा अस्तित्व नहीं है। हम हमेशा मृत्यु से डरते हैं जो कि एक स्वाभाविक डर है। परन्तु अगर कोई यह कहे, "मेरे दोस्त, तुम तो अब भी नहीं हो, "तो वह कितना भयानक होगा। परन्तु अगर गुरुदेव की कृपा से तुम ध्यान में अपने आप को ऐसा खो सको, अपने अनुभव की सौम्यता में उन आध्यात्मिक स्थितियों का अनुभव कर सको जहां पहले 'कुछ भी नहीं पाते हो फिर अपने आप को पाते हो एक दम एकाकी, और तब तुम्हें पता चलता है जिस ब्रह्मांड में तुम एकदम अकेले हो वही वस्तुतः तुम हो.... ।

ब्रह्माण्ड तुम ही हो। तुम वहाँ अपने ब्रह्माण्ड के स्वरूप में अपना ही अनुभव कर रहे हो। तभी वह सम्मोहक अनुभव आता है कि "मैं ही ब्रह्माण्ड हूँ।" इसका अर्थ है कि तुम मेरा अंश हो, हर कोई मेरा अंश है एक अर्थ में मैं ही तुम हूँ। फिर सच्चे प्रेम व सहानुभूति की सम्भावना आरम्भ होती है, इसलिए नहीं कि मेरे अन्दर कोई दया या भला करने की भावना जागृत होती है, परन्तु इसलिए क्योंकि तुम में मेरा भी अस्तित्व है और तुम्हें जीवित रखने में मैं अपने आप को जीवित रखता हूँ। तुम्हारे कल्याण में ही मेरा कल्याण है। एक अत्यंत हार्दिक अनुभूति के अर्थ में। कोई दया या भाईचारे की भावना से नहीं, परन्तु एक आत्यन्तिक आवश्यकता की भावना में—जैसे गाड़ी के एक पहिए के पंचर होने पर गाड़ी नहीं च ल सकती। जब हम रूक कर टायर ठीक करवाते हैं तो हम परोपकार नहीं करते हैं। अगर

स्पार्क प्लग गायब हो जाये या पेट्रोल का पाइप कट जाये तो गाड़ी आगे नहीं चल सकती। गाड़ी की कार्यशीलता उसमें लगे विभिन्न पुर्जों पर निर्भर करती है। कोई भी किसी से अधिक महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि गाड़ी के चलने के लिए सबका कार्य करना आवश्यक है।

इसी प्रकार अगर ईश्वर को मानसिक शांति, सन्तोष व खुशी चाहिए तो उसे सुनिश्चित करना होगा कि सारा संसार सन्तुष्ट, शांत व प्रसन्न है। हमें अपने अस्तित्व के स्तर पर भी यह देखना पड़ेगा। योग में भाईचारे की यह एक वास्तविक आवश्यकता है, न कि ईसाइयत का कोई कृत्रिम भाईचारा जहाँ हम एक दूसरे की पीठ थपथपा के कहते हैं, "वाह कितना सुन्दर व सुखद है कि तुम भी यहाँ हो और मैं भी हूँ, और हमें चाहिए क्या ?" वह अति कृत्रिम है और अपने ऊपर एक भार डालना है। परन्तु जब मैं अपने अन्दर देखता हूँ कि मैं ब्रह्मांड हूँ और तुम सब मेरा एक भाग हो और तुम्हारी देखभाल करना कोई अलग काम नहीं है। क्योंकि अगर मुझे अपनी देखभाल करनी है तो मुझे तुम्हारा ख्याल रखना ही पड़ेगा।

क्या तुम अपने पैर गीले किये बिना नहा सकते हो ? "अरे नहीं, मुझे अपने पैर पसन्द नहीं इसलिए मैं ऐसे ही नहाऊँगा।" यह सम्भव नहीं : पूरे को गीला करना पड़ेगा, पूरे पर पानी डालना पड़ेगा पूरे को पोंछना पड़ेगा। पूर्णता की उस चेतना में मेरा जागृत अस्तित्व उठ खड़ा होता है और हम इस अनन्त महिमा का दर्शन करते हैं कि हम सब एक हैं। इस भावना से नहीं कि हम एक है। क्योंकि हम इकट्ठे हैं। तुम कहीं भी हो मैं कहीं भी हूँ, मैं फिर भी एक हूँ।

अब यह स्थिति है या अनुभव है ? आपका अनुमान उतना ही ठीक होगा, जितना किसी भी अन्य का। मैं कहूँगा कि बिना उस स्थिति के आपको वह अनुभव हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिकता में मैं यह कहने की धृष्टता करूँगा, अनुभव के वास्तविक होने के पीछे वह स्थिति भी होनी चाहिए जो कि वास्तविक है, अस्तित्व की वह दशा जो वास्तविक हो। यह कोई रहस्य नहीं। खुशी का अनुभव करने के लिए मुझे पहले खुश होना पड़ेगा, दुःख का अनुभव करने के लिए पहले दर्द से गुजरना होगा, नहीं तो इन दशाओं को सम्मोहनकारी आत्म-सम्मोहनकारी या केवल विक्षिप्तता की दशा ही कहेंगे।

जब आप वह अनुभव करते हैं जो है ही नहीं, तो उसे विक्षिप्तता की दशा कहते हैं। आध्यात्मिकता में विक्षिप्त जनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार दशा पहले आती है और अनुभव उसके बाद। फिर उनको

अलग करने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि वह एक ही चीज के दो भाग हैं। मुझे चीज दिखाई देती है क्योंकि उसका अस्तित्व है। अगर उसका अस्तित्व न हो और दिखाई पड़े तो वह काल्पनिक है, मतिभ्रम मात्र है। इस आध्यात्मिक शब्दावली को समझने में कठिनाई क्या है। यह तो आप हर समय कर ही रहे हैं। आन्तरिक अस्तित्व आन्तरिक विश्व में स्थानान्तरित होने पर जो मैं ही हूँ यह समझने में कठिनाई होती है कि दशा और अनुभव एक कैसे हो सकते हैं।

यह सब चीजें मुझे कल कहनी चाहिए थीं, परन्तु मैंने एक छोटे रूप में दोनों का विश्लेषण कर के उनमें अन्तर करना चाहा है। अतः जब आप ध्यान में बैठे तो विवेकशील होने का प्रयत्न करें। यह कहना काफी नहीं कि "चारी, कल मुझे यहाँ दर्द का अनुभव हुआ। "अब अपने लाड़प्यार व विलासप्रिय जीवन में हमेशा गद्दियों पर बैठने की आदत है तो पहली बार जमीन पर बैठने पर दर्द व चुभन तो होगी ही पर उसे अनुभव नहीं कहा जा सकता। वह जमीन की सच्चाई है जिस पर हम पहले भी बैठे होंगे, अगर आप पहले ऐसे बैठे होते तो आज ऐसा अनुभव न होता। इस कारण विवेकशील होना अत्यावश्यक है, कि क्या यह अनुभव है या एक सांसारिक प्रक्रिया मात्र ? फिर अपनी डायरी लिखें। जैसा कि मैंने कल कहा था यह न भूलें कि अगर मैं ही ब्रह्माण्ड हूँ तो मुझे अनुभव हो न हो, दिखाई दे या न दे, हम, शरीर में पेट और आँत इत्यादि की भांति विभिन्न अवयवों से संयुक्त एक ही संघटित जीवन हैं। योग व ध्यान अन्तिम सत्य, जो मैं हूँ, उसे देखने की क्षमता देता है, न कि उसे जो मैं भविष्य में हो सकता हूँ। इस प्रकार मैं अपने विषय में कुछ बताना चाहूँ या नहीं, तुम्हें पहले ही मेरे बारे में कुछ मालूम है। इसके विपरीत तुम चाहो या न चाहो गुरु तुम्हारे विषय में सब कुछ जान सकता है। सब से उत्तम तरीका यह है कि पहले ध्यान में बैठो और बाद में उस पर मनन करो कि मैंने क्या अनुभव किया—क्या यह भावना थी, या अनुभव था ? खैर, अभी मैं उसमें फर्क नहीं कर पा रहा हूँ सो मैं इसे डायरी में लिख लूँ। क्योंकि लिखने से मेरी विवेक की क्षमता अपने आप बढ़ जायेगी और जैसे जैसे मैं आगे बढ़ूँगा धीरे धीरे और बढ़िया लिख पाऊँगा। गुरुदेव का शुभ आशीर्वाद आप के साथ हो।

धन्यवाद।

10.11.94.

प्रश्न और उत्तर*

११ अगस्त १९८७

प्रश्न—अभ्यासियों के मद्रास आने के सम्बन्ध में आपकी क्या भावना है ?

उत्तर—मुझे बहुत अच्छा लगता है। (हास्य)

प्रश्न—सतत स्मरण कैसे विकसित किया जाये कृपया इस पर परामर्श दीजिए।

उत्तर—पहले कभी-कभी स्मरण करना आरम्भ करें, कम से कम स्मरण तो करें। बाबूजी ने इस पर एक तकनीक बताई है कि जब भी सुबह कार्य आरम्भ करें तो विचार लें कि गुरुदेव कर रहे हैं, और जब समाप्त करें तो सोचें कि उन्होंने समाप्त कर दिया है। इससे हर समय गुरुदेव के बारे में विचार का एक अदृश्य प्रवाह बढ़ने लगेगा। यह सब से सरल तरीका है।

प्रश्न—मैं कभी ऐसा खुलकर नहीं हँसता या ऐसी खुशी से कभी नहीं रोता जैसा कि आपके सम्मुख होने पर होता है। मैं अपने ऊपर नियंत्रण खो बैठता हूँ और अपनी इस आन्तरिक प्रसन्नता व कृतज्ञता की भावना को दूर रखने का प्रयत्न करता हूँ। मेरा प्रश्न है कि इस पर नियंत्रण कैसे पाया जाये ?

उत्तर—(हास्य) मुझसे दूर रहो। (हास्य) मजाक छोड़ इसका अर्थ है कि तुम एक भावात्मक स्वतन्त्रता अनुभव करते हो ; इसका अर्थ है कि तुमने उनको कृत्रिम रूप से दबा रखा है। जब आप मेरे समीप होते हैं तो एक ऐसे वातावरण में होते हैं जहाँ कोई रोक नहीं, कुछ छिपाने का नहीं, और वह बाहर आ जाता है। मेरे विचार में यह अच्छा है। उसे और ज्यादा बाहर आना चाहिए। इससे हृदय को आसानी से खुलने की आदत पड़ जाती है और आप अधिक संतुलित हो जाते हैं—अपने साथ भी और वातावरण के साथ भी। इसलिये यह अच्छी प्रक्रिया है।

---

* प्रश्न गुरुदेव द्वारा प्रश्नों के डिब्बे से पढ़े गये

प्रश्न—क्या यह सत्य है कि जितना हमारा जीवन कठिनाइयों से भरा होगा, उतनी ही तीव्रता से हम आध्यात्मिकता में बढ़ेंगे ?

उत्तर—कठिन जीवन का अर्थ यह नहीं है। यह इस पर निर्भर करता है कि आप जीवन को कैसे लेते हैं। कठिन या सरल जीवन निर्भर करता है हमारे संस्कारों पर जो हमने भूतकाल में बनाये हैं। आप जो जीवन व्यतीत कर रहे हैं उसका प्रगति से कोई सम्बन्ध नहीं। आप की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि आप अब क्या कर रहे हैं, कैसे कर रहे हैं। इसलिए हम कहते हैं कि आप क्या करते हैं, किस देश के हैं, पुरुष हैं या स्त्री, इन सब से कोई फरक नहीं पड़ता। यहाँ सब का स्वागत है। जो मैं हूँ वह मेरे भूत का परिणाम है, मैं क्या बनूँगा इस पर निर्भर करता है कि मैं अब क्या करूँगा। सहज मार्ग में कठिन या सरल जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह अवश्य है कि जिनका जीवन कठिन होता है उनमें आध्यात्मिकता को खोजने की प्रवृत्ति उनसे अधिक होती है जिनका जीवन सरल है। इस कारण साधारणतः अमीर लोग सहज मार्ग में कम आते हैं ; क्योंकि वे सोचते हैं कि उन्हें जिस चीज की भी आवश्यकता है वह सब उनके पास है। केवल इस संदर्भ में कठिन जीवन आध्यात्मिक उन्नति में सहायक है अगर उसे सही ढंग से लिया जाए।

प्रश्न—मुझे टालने की आदत है और मैं आलसी हूँ। इन को कैसे समाप्त किया जाये ? अपनी कार्यकुशलता को सांसारिक व आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में कैसे बढ़ाया जाये ? इस के ऊपर कुछ बताइये।

उत्तर—टालने व आलस के ऊपर आपको स्वयं काबू पाना होगा। जब आपको पता है कि आप आलसी हैं तो आपको उसे छोड़ना चाहिए। बाबूजी ने मुझे बताया था कि उनके गुरुदेव लालाजी एक क्षण के लिए भी खाली नहीं रहते थे। अगर उनके पास कुछ काम नहीं होता था तो वे आध्यात्मिकता के ऊपर, वेदान्त के ऊपर, लेख लिखते थे, अपने आप को व्यस्त रखने के लिए। व्यस्त रहने की वृत्ति बनाने के लिए अपने आप को शिक्षा देनी पड़ती है, क्योंकि जब कुछ करने को नहीं होता तो आलस आना बहुत आसान है। "ओह मेरे पास कुछ करने को नहीं।" जब हमारे पास कुछ काम हो और हम कहें "मेरे पास बिलकुल समय नहीं।" इसको स्थगित करना या टालमटोल करना कहते हैं। यह टालमटोल समय का चोर है। ऐसा इसलिये कि ढेर सारा समय होते हुए भी हम कहते है कि मेरे पास समय नहीं। हम स्वयं ही चोर हैं। याद रखिये बाबूजी ने कहा है कि चरित्र निर्माण हमारा

स्वयं का काम है, आध्यात्मिक प्रगति वह देते हैं। अब यह टालमटोल, आलस हमारे चरित्र के अंग है और इन्हें हमें बदलना है।

प्रश्न—मुक्त आत्माएँ अन्त में लय कैसे प्राप्त करती हैं ?

उत्तर—उसी प्रकार जैसे हम प्राप्त करेंगे। हम अपनी वर्तमान अवस्था से बिना मुक्ति की स्थिति से गुजरे हुए सीधे लय की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु एक बार साक्षात्कार या लय अवस्था प्राप्त किये बगैर यदि कोई आत्मा मुक्ति प्राप्त कर लेती है तब लय अवस्था प्राप्त करने के पूर्व उसे अस्तित्व की सभी उच्चतर स्थितियों से गुजरना पड़ेगा। सो सब से उत्तम बात यह है कि इसका उपाय करें कि हम अभी कैसे लय हों। उसके लिए ध्यान, सतत स्मरण और सबसे ऊपर गुरु के प्रति प्रेम, येही उपाय हैं।

प्रश्न—आत्मसम्मान और अहं में क्या अन्तर है ?

उत्तर—मुझे नहीं पता। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। मेरे विचार में जब अपने सम्मान की भावना सत्य पर आधारित होती है तो उसे आत्मसम्मान कहते हैं, और जब उसकी पुष्टि करने के लिए कुछ नहीं होता तो हम उसे अहं कहते हैं। किन्तु यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है उसे मिटाना।

प्रश्न—मैंने कहीं पढ़ा था कि सोने के पहले हमें अपने गलत कर्मों पर पश्चाताप करते हुए यह निश्चय करना चाहिए कि हम इन्हें दुबारा नहीं करेंगे। हमें अपनी प्रार्थना भी उसी समय करनी होती है। इन दोनों में से पहले क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मेरे विचार में हमें परामर्श दिया जाता है कि उसी मुद्रा में बैठें जैसे ध्यान में बैठते हैं। दिन भर के कार्यों पर पश्चाताप करते हुए यह निश्चय करें कि उन्हें दुहरायेंगे नहीं। फिर मानसिक रूप से कुछ एक बार प्रार्थना दुहराते हुए उसके अर्थ पर मनन करें और फिर सो जायें।

प्रश्न—क्या सहज मार्ग कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास रखता है ? अगर हाँ, तो क्या उसकी वही मान्यताएँ हैं जो गीता में हैं कि हर कर्म में परिणाम स्वरूप उसका कोई फल होता है ?

उत्तर—हिन्दू धर्म के कर्म के सिद्धान्त और सहज मार्ग के संस्कारों के सिद्धान्त में बहुत बड़ा अन्तर है। कल शायद इसी कमरे में मैंने इसी विषय पर बात की थी। कर्म का सिद्धान्त कहता है कि जैसा तुम करोगे वैसा ही तुम बनोगे, क्योंकि तुम्हें अपने परिश्रम का पुरस्कार व दंड तो भुगतना ही पड़ेगा। कर्म का सिद्धान्त अच्छे व बुरे कर्म में फर्क करता है, अच्छे व बुरे

विचारों में फर्क करता है। अगर तुम अच्छा करोगे तो उसका परिणाम भी अच्छा होगा, बुरा करोगे तो उसका परिणाम बुरा होगा। यह तो जैसे को तैसा वाला कानून है जो कि व्यावहारिक स्तर पर असभ्य व निर्मम है। कल्पना करिए कि अगर आप ने करोड़ों मच्छर मार दिए तो उसकी सजा के रूप में आपको भी करोड़ों बार मरना पड़ेगा। इस सब का लेखा-जोखा कौन रखेगा और कैसे ? संस्कार का सिद्धान्त कहता है कि जो कुछ भी आपके ऊपर छाप छोड़ता है वह बुरा है। चाहे वह बुरा हो या अच्छा, इससे कोई फरक नहीं पड़ता। इस प्रकार सहज मार्ग कर्म के हिन्दू सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। अगर आपने दस नियमों का अध्ययन किया है तो वह अच्छे और बुरे, गुण व दुर्गुण में कोई अन्तर नहीं करता। वह केवल सकारात्मक निर्देश देता है, जैसे सूर्योदय के पूर्व उठ कर एक सकारात्मक वातावरण में पूजा करो, जो कुछ भी तुम्हारे सम्मुख रखा जाए उसे प्रेम से स्वीकार करो। सहज मार्ग में कोई प्रतिषेधात्मक प्रवृत्ति नहीं और न ही अनुमोदन की कोई प्रवृत्ति है। क्योंकि अगर तुम्हारे मन में कोई विचार आता है—संसार उसके विषय में कुछ भी सोचे, सांसारिक दृष्टि से चाहे वह कोई अच्छा विचार हो या बुरा, यदि वह तुम्हारे मन पर एक छाप छोड़ता है और वह संस्कार बन जाता है, तो उससे छुटकारा पाने के लिए तुम्हें पुनः यहाँ आना पड़ता है।

तकनीकी तौर पर सहज मार्ग गुण व अवगुण या अच्छे या बुरे विचार में कोई भेद नहीं करता, क्योंकि अगर वह छाप छोड़ते हैं, जो परिणामतः संस्कार का रूप ले लेते हैं, तो वह दोनों बुरे हैं। मैं कई बार यह उदाहरण देता हूँ कि अगर एक व्यक्ति किसी डब्बे से कोई सन्देहास्पद मछली खा लेता है जो खराब है और उसे दस्त लग जाते हैं और दूसरा व्यक्ति एक बढ़िया चाकलेट-बार खाता है और उसे भी दस्त लग जाते हैं, तो परिणाम तो दोनों का एक ही है। आप यह तो नहीं कहेंगे "मेरे दस्त चाकलेट के हैं उस पर मैंने साढ़े तीन डालर खर्च किये और तुम्हारे जहरीली मछली की वजह से हैं।" बाबूजी कहते थे कि एक चिड़िया पिंजरे में बन्द है, वह लकड़ी का बना हो या सोने का, उससे क्या फरक पड़ता है। शायद उसके मालिक को हो कि मेरी चिड़िया सोने के पिंजरे में है परन्तु चिड़िया के लिए कोई फरक नहीं, पिंजरा तो पिंजरा है।

इसका बहुत महत्वपूर्ण असर हमारी दैनिक दिनचर्या पर पड़ता है। सर्वप्रथम बुरे विचारों या कर्मों के कारण हमारे में अपराध की भावना नहीं होती और न ही कुछ अच्छा सोच कर या बढ़िया काम करके हम अपने आप

को शाबाशी देते हैं। क्योंकि जैसे ही आप सोचते हैं कि आपने कुछ किया उसकी एक छाप बन जाती है। जो हम स्वयं के लिए नहीं करते वह दूसरों के लिए कैसे कर सकते हैं ? हम किसी के लिए भी निन्दा या आलोचना की प्रवृत्ति नहीं रखते, उससे भी छाप पड़ती है। जैसा कि मैं सुबह इस नौजवान को समझा रहा था कि सहज मार्ग कहता है कि अच्छे या बुरे से ऊपर उठो। अपनी विचारधारा ऐसी रखो कि कोई भी छाप न रहे। दुनिया को इस तरीके से देखो कि कोई भी छाप न पड़े। तुम इसके बारे में ऐसे भी सोच सकते हो जैसे बिना फिल्म के कैमरे से फोटो खीचना। तुम पूरा जीवन कितने ही बटन दबाते रहो उस पर कोई फोटो नहीं आयेगी। हमें भी उसी प्रकार बिना छाप लिए सब कुछ देखना है, सब कुछ सुनना है। अब अगर मैं कहूँ कि "तुम बेवकूफ हो" तो उसमें तुरन्त प्रतिक्रिया होगी और नफरत की सम्भावना है और क्योंकि उसने कुछ स्वीकार कर लिया है, उसका संस्कार बना लेने दिया। इसी प्रकार अगर मैं कहूँ "तुम एक अच्छे और समझदार इन्सान हो" तो वह अपने आप को शाबाशी देना शुरू कर देगा और संस्कार बना लेगा। सहज मार्ग का कहना है कि संस्कार किसी भी प्रकार का बने इससे कोई फरक नहीं पड़ता, हमें दोनों से बचना है।

कर्म का सिद्धान्त कहता है कि अच्छे का परिणाम अच्छा होगा और बुरे का परिणाम बुरा होगा, परन्तु गीता वास्तव में यह नहीं कहती। मेरे विचार में यह प्रश्न किसी भारतीय द्वारा पूछा गया होगा। गीता कहती है अच्छे और बुरे को एक समान देखो, विजय और पराजय को सम दृष्टि से देखो। इसका अर्थ वास्तव में है कि अपना कर्त्तव्य करो और परिणाम को भूल जाओ। अगर तुम्हें युद्ध करना है तो करो, हार या जीत के विषय में मत सोचो। परिणाम तुम्हारे हाथ में नहीं है। तुम्हारा कर्तव्य केवल युद्ध करना है। बाबूजी का भी यही कहना है कि स्पार्टा के लोगों जैसे बनो जो युद्ध में जाने पर या तो ढाल लेकर (विजय होकर) आता है या ढाल पर (मुर्दा) आता है, और कोई तीसरा तरीका नहीं है। प्रारम्भिक वैदिक धर्म ने कहा है कि तुम त्याग करके देवताओं की शुभ कामनाएँ अर्जित करो, फिर तुम स्वर्ग में जाओगे। गीता ऐसा नहीं कहती। गीता कहती है कि दोनों से ऊपर अठो। सहज मार्ग और भी सरल तरीके से कहता है कि किसी भी प्रकार की छाप से बचो।

प्रश्न—मैं कभी-कभी मछली और अंडा खाता हूँ। क्या यह आध्यात्मिक प्रगति में बाधक है ?

उत्तर—ऐसा हो सकता है। अगर कभी-कभी खाते हो तो छोड़ भी सकते हो। जैसे-जैसे हम सूक्ष्म होते जाते हैं, वैसे-वैसे जो कुछ हम खाते हैं वह हमारी आन्तरिक सूक्ष्मता से मेल खाना चाहिए। जैसे आप एक बालक को केवल दूध देते हैं। परन्तु जब वह थोड़ा चबा सकता है तो उसे नर्म स्वादिष्ट पदार्थ देते हैं और जब उसके सब दाँत निकल आते हैं तब उसको ठोस खाना देते हैं। जब वह शक्तिशाली व बड़ा हो जाता है तो जो कुछ भी खाना चाहे खा सकता है। यह एक शारीरिक उदाहरण है। परन्तु यदि दार्शनिक आप हैं तो अपराध व यौन सम्बन्धी उपन्यास नहीं पढ़ते। आप अपनी उपलब्धियों के स्तर के अनुकूल ही पढ़ते हैं। आप अपनी आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करते हैं। ऐसा कुछ ग्रहण नहीं करते जो उसमें विरोधी तरंगे उत्पन्न करे।

प्रश्न—"मेरे गुरुदेव" में आपने कहा है कि बाबूजी कहते हैं कि तुम हर एक जीव को समर्पण कर दो चाहे वह जानवर हो या मूर्ख हो। इसके अर्थ को तनिक स्पष्ट कीजिए क्योंकि इसका मैं आसानी से गलत मतलब लगा सकता हूँ।

उत्तर—बाबूजी ने यह नहीं कहा कि किसी मूर्ख या जानवर को सीधा समर्पण कर दो। उन्होंने कहा है, "जिसने सर्वशक्तिमान परमात्मा के प्रति समर्पण कर दिया उसने पूरे संसार के प्रति समर्पण कर दिया।" मेरा अर्थ है कि जब मैंने सारे संसार पर राज्य करने वाले को समर्पण कर दिया तो परिणामतः मैंने सबको समर्पण कर दिया। संसार उसका एक अंश है और वही संसार है। वह उसके अन्दर भी है और बाहर भी। वह उसका निर्माता भी है। कौन जाने शायद वह स्वयं वही संसार भी है जिससे वह आया भी है। इस अर्थ में समर्पण का अर्थ है सबको समर्पण न कि एक वस्तु का नाम लेकर जैसे "मैंने भालू को समर्पण किया" "मैंने मछली को समर्पण किया" आदि-आदि। इस भाँति नहीं परन्तु एक धारणा कि हर वस्तु में मुझे दिव्यता का अंश दिखता है ; इस भाँति कि वही मेरे सम्मुख विद्यमान है चाहे वह किसी भी स्वरूप में हो, भालू या भेड़िया, दार्शनिक व वेश्या, वह फिर भी वही है क्योंकि बिना उस अस्तित्व व शक्ति के न तो वह हिल सकता था न जीवित रह सकता था और अगर मैंने उसे समर्पण किया है तो वह किसी भी रूप में प्रकट हो, मैंने उसे समर्पण किया है। इस तरह हम जीव-जन्तु, पक्षियों अथवा जंगली जानवरों को समर्पण नहीं करते बल्कि हम उन रूपों में अभिव्यक्त **उसको समर्पण** करते हैं। जैसे जब आप अपने बच्चे की फोटो

देखते हैं जब वह बच्चा था और जब वह ६० वर्ष का है। शारीरिक रूप से उसमें कोई तालमेल नहीं फिर भी वह वही है। आप सारा की फोटो देखते हैं जब वह १७ की थी और जब वह ४५ की है, वह फिर भी सारा है, जो उसे नहीं जानता पूछ सकता है—"यह बच्ची कौन है ;' या कि 'यह छोटी लड़की कौन है;' अतः इस सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति तो अस्तित्व की किस्मों में भेद करता है। किन्तु जिसने परमतत्व को जाना है इन विभिन्न किस्मों में भेद नहीं कर सकता। इसी कारण जिसने परमतत्व के प्रति समर्पण कर दिया उसने उस एक समर्पण की क्रिया से सब के समक्ष समर्पण कर दिया। इसलिए नहीं कि आप एक-एक चीज गिन कर बतायें मैंने इन-इन को समर्पण किया। मैंने ईश्वर को समर्पण किया और ईश्वर सब में है इसलिए मैंने सब कों समर्पण किया।

प्रश्न—अपने लेख "कर्म योग तथा कार्य का अर्थ" में अपने लिखा है कि मनुष्य को यह हिसाब नहीं लगाना चाहिए कि उसे अपने परिश्रम के लिए क्या मिलेगा, कितना मिलेगा। इसमें समय बेकार नहीं करना चाहिए क्योंकि केवल विधाता को पता है कि उसे क्या मिलना चाहिए और वह देता है। क्या आप यह बतायेंगे कि हम इसे अपने दैनिक जीवन में कैसे लागू करें, विशेषतः जब हम अपना स्वयं का व्यापार करें। यह निर्णय कि ग्राहकों से क्या कीमत लें या जो हमसे फायदा उठाना चाहते हैं और हमें कम देते हैं उनसे कैसे निपटें ?

उत्तर—अगर आप यह स्वीकार करते हैं कि मेरा वर्तमान मेरे भूत के कारण है, और जो कुछ भी मिलता है चाहे वह सुखद हो या दुःखद वह मेरे पिछले कर्मों का फल है न कि उसका जो मैं वर्तमान में कर रहा हूँ, तब इस सिद्धान्त को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसी कारण आप को विरोधाभास दिखाई देता है कि अच्छा मनुष्य दुःखी है जबकि माफिया के लीडर, ठग आदि सब कुछ करते हुए भी मजे करते हैं, लाखों रूपये कमाते हैं। इसलिए नहीं कि वह चालाकी व चोरी-चकारी की वजह से कमाते हैं परन्तु इसलिये कि कुछ पुराने अच्छे संस्कार जो उनके खाते में हैं या उन्होंने एकत्र किये हैं। जैसे कल मैंने कुछ खाया था और उस कारण आज मेरा पेट खराब है। आज जो मैं खाऊँगा उस पर कल की मेरी दशा निर्भर करेगी। सो यह कारण और फल को तत्काल तौलने की प्रवृत्ति से गलतफहमी होती है। अगर आप समझ लें कि कुछ कारणों का फल भविष्य में होगा तो इस सिद्धान्त को समझना सरल है। आपके पास विस्फोटक मशीन सी होती है

जो एकदम विस्फोट करती है या उसमें समय निर्धारित करने पर वह २ या ३ दिन बाद भी विस्फोट कर सकती है। सो यह समझने में क्या कठिनाई है कि जो मैं आज कर रहा हूँ उसका फल ३ साल बाद या १३ मिनट बाद मिल सकता है। आज जो हम हैं वह हमारे भूत का परिणाम है। इसलिए दार्शनिक लोग कहते हैं, "मेरे मित्र यह मत सोचो कि तुम जो आज कर रहे हो वही तुम्हें आज मिल रहा है। यह तुमने भूत में कमाया है। आज अगर सही जीवन जियोगे तो परिणामतः कल भी अच्छा होगा। भविष्य के लिये जियो क्योंकि वर्तमान को तो हम नहीं बदल सकते।" इसी कारण जो व्यापार में बेईमानी करते हैं वह लखपति बन जाते हैं और जो ईमानदारी से व्यापार करते हैं वह असफल हो जाते हैं ; और फिर हम इस आश्चर्यजनक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शायद ईमानदारी अच्छी नीति नहीं। यह फोटो खीचने की भाँति नहीं, खास कर पोलरौयड जैसे कैमरे से कि एक तरफ फोटो खींचो और दूसरी तरफ से तसवीर निकाल लो। कई चीजों का परिणाम तुरन्त होता है और कई चीजों का कई जन्मों के बाद।

प्रश्न—मेरा प्रश्न १०वें नियम के ऊपर है कि रात्रि को क्षमा माँगते............

उत्तर—इसका उत्तर मैं दे चुका हूँ।

प्रश्न—कई लोग अमरीका में माध्यम के विषय में बात करते हैं ; और वे करना आरम्भ कर देते हैं। इसके विषय में आप क्या कहेंगे ?

उत्तर—यह माध्यम की क्रिया क्या है ?

प्रश्न—(श्रोतागणों के मध्य से) एक रूह का किसी के शरीर में प्रवेश करना और अजीब आवाज में बोलना—मूल रूप से यही है—वह यह दावा करते हैं कि वह एक उच्चतर व्यक्ति है और लोगों से एकत्र होने को कहते हैं।

उत्तर—मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं कि हमें ऐसी चीजों से दूर रहना चाहिए। यह अधिकतर सुझावों का परिणाम है। हमें पूरी चौकसी बरतनी चाहिए कि हम ऐसी चीजों में न पड़ें।

प्रश्न—जहाँ पर ध्यान किया जाता है वहाँ पर पालतू जानवरों को ठीक से सम्भालने का कौन सा तरीका है ?

उत्तर—पालतू जानवरों का जो स्थान होना चाहिए उन्हें वहीं रखना चाहिए। अगर घर में दूध के लिए मेरे पास दो जर्सी गायें हैं तो ध्यान के समय मैं उन्हें कभी अपने बैठने के कमरे में लाने का विचार नहीं करूँगा। वह

पूरे समय हुँकारती रहेंगी। (हास्य)। तो कुत्तों और बिल्लियों के बारे में क्या आकर्षण है। मेरे विचार में यह भेद करना है और इससे बचना चाहिए (हास्य)।

प्रश्न—मैं कभी-कभी इन में उलझ जाता हूँ—विवेकयुक्त होने और भेददृष्टि वाला अथवा निर्णय करने और दूसरों के विषय में निष्कर्ष लेने वाला, इन दोनों में क्या अन्तर है कृपया स्पष्ट करें ताकि मैं एक को विकसित करूँ और दूसरे को नहीं।

उत्तर—मेरे विचार में एक के बिना दूसरे का होना कठिन है। विवेक का अर्थ है निर्णय। तुम्हें फैसला करना पड़ता है। जब एक न्यायाधीश अदालत में बैठता है तो वह फैसला करता है, परन्तु हम फैसला नहीं कर रहे हैं ; अच्छे और बुरे में अन्तर करते हैं। परन्तु यह क्रिया तुलनात्मक मूल्यों के बीच निर्णय करने की है। सो वास्तव में वह एक ही है। आलोचनात्मक होना वास्तव में वह है जब हम किसी दूसरे की परीक्षा कर निर्णय लेते हैं। 'निर्णय मत लो, ताकि कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा भी निर्णय किया जाय', यह किस पर लागू होती है ? दूसरे व्यक्ति पर जिस पर तुम निर्णय ले रहे हो। नहीं तो उसे यह न कहना पड़ता, "निर्णय मत लो कि तुम्हारे पर भी कोई निर्णय ले।" वह तो यह कहता कि परीक्षा लो और जितनी मर्जी हो लो, क्योंकि तुम अपनी ही परीक्षा ले रहे हो। यह बहुत अच्छी बात है। इस प्रक्रिया के साथ अलोकप्रियता जुड़ी है क्योंकि हम अपने ऊपर यह परीक्षात्मक निर्णय नहीं लेते, सदैव दूसरों पर लेने को तैयार रहते हैं। सो हमें इसको दूर रखना चाहिए। हाँ, विवेक का सदा प्रयोग करना चाहिए, अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न—प्रश्न नहीं एक प्रार्थना है, धरती माता के भाग्य और मानव का उससे सम्बन्ध इस विषय पर कुछ कहिए। मेरा काम धरती माँ की रक्षा करना है। मैं अपने इस कर्त्तव्य को समझता हूँ परन्तु इसकी गहराई जानना चाहता हूँ। आपके प्रेम के लिए आभार है।

उत्तर—एक कहानी है—सम्बन्धित व्यक्ति की भावनाओं को ठेस पहुँचाए बिना इसका सीधा उत्तर देना सम्भव नहीं। सर्वप्रथम तो जो हमारी रक्षा करती है हम उसकी रक्षा नहीं कर सकते। सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट है। बेटा कभी माँ का पिता नहीं बन सकता। भारतीय दर्शन में पृथ्वी को धरती व भूमि कहा गया है। धरती शब्द 'धृ' से बना है। यह वही मूल शब्द है जिससे संस्कृत में धर्म शब्द बना है—धर्म वह है जो हमें धारण करता है। इसी

प्रकार धरती भी हमें धारण करती है। वह हमें जन्म देती है, हमारा जीवन संरक्षण करती है और मरने पर हमें फिर अपने सीने में ले लेती है। तो ऐसे में हम उसकी रक्षा कैसे कर सकते हैं ? मेरे विचार में प्रश्न पूछने वाले के दिमाग में कुछ उलझन है, शायद उनका मतलब वातावरण के प्रदूषण से है और इस भाव में उसकी सुरक्षा करना है। आप अपना कर्त्तव्य करिए।

अब कहानी पर आते हैं जो कि बहुत सुन्दर है। एक बार धरती माँ हँस रही थी। हँसते हुए उसके पेट में बल पड़ रहे थे। उधर से शिव आये, उन्होंने कहा क्या बात है भूमा देवी (धरती को सदैव से स्त्री माना गया है) आप ऐसे पागलों की भाँति क्यों हँस रही हैं ? उसने कहा, "देखो, मैं अरबों वर्षों से यहीं हूँ। पीढ़ी दर पीढ़ी लोग जो आते हैं वह मुझसे अपना भोजन प्राप्त करते हैं, मुझ पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं और मरने पर फिर मुझ में ही समा जाते हैं। वे सोचते हैं कि मैं उनकी सम्पत्ति हूँ क्योंकि वे एक वर्ग फुट या एक वर्ग मील के मालिक हैं। परन्तु मैं उनकी मालिक हूँ क्योंकि वह मुझ से ही जन्मे हैं और जीवन के अन्त में मुझ में ही समाते हैं। "तुम मिट्टी हो और मिट्टी में ही वापस जाओगे।" अतः धरती माँ की सुरक्षा की हम क्या बात करते हैं ? हमें अपनी सुरक्षा धरती माँ पर छोड़ देनी चाहिए। हम देखते हैं कि अपने पुरखों की आरम्भिक पूजा में धरती को माँ की भाँति एक जीवित सत्य मान, पूजा जाता था। पेड़, पौधों व जानवरों को भी पूजा जाता था। आज हम उसे जादू टोना व वस्तु-पूजा कहते हैं क्योंकि हम बुद्धिवादी व कृत्रिम हो गये हैं। परन्तु यह उनकी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति थी। जो उन्हें पालता है, पौष्टिकता प्रदान करता है, पोषण करता है, उसके प्रति कृतज्ञता।

मुझे बताया गया है कि कुछ सभ्यताओं में जैसे कि तिब्बत में जहाँ धरती बहुत कठोर है और मुर्दे गाड़े नहीं जा सकते वहाँ उसके मांस के टुकड़े करके चीलों को डाल दिये जाते हैं, फिर हड्डियों का पाउडर बना कर हवा में फैला दिया जाता है—यह एक घिनौना उदाहरण है। तिब्बत में आपको कोई कब्र नहीं मिलेगी। हमें अपने देश में भी ऐसी परिस्थिति दिखाई देती है जहाँ अधिक जनसंख्या के कारण, कब्र बनाने के लिए स्थान की कमी हो जाती है। इस कारण बीच-बीच में वह पुरानी कब्र खोदकर पुनः जगह बनाते हैं। संसार की सारी म्यूनिसिपैलिटी ऐसा करती हैं। ऐसे में या तो पृथ्वी उन लाशों को अपने में समा लेती है या उनको किसी और तरह निपटाया जाता है। इस कारण हिन्दुओं में दाह संस्कार का विचित्र चलन है

ताकि हम माँ पृथ्वी को मृत शरीरों से प्रदूषित न करें। इस कारण हम उन्हें जलाते हैं। इस मातृ तत्व से प्रेम, उसकी पूजा, कदर करनी चाहिए न कि सुरक्षा।

प्रश्न—मैंने बहुत लोगों को कहते सुना है कि "जब मैं फलाँ-फलाँ काम दिन में करता हूँ तो यह विचार करता हूँ कि गुरुदेव कर रहे हैं।" क्या मैं यह विचार करूँ कि आप मेरे काम करते समय फोन उठा रहे हैं, किसी ग्राहक से बात कर रहे हैं या रिपोर्ट लिख रहे हैं ? क्या मैं अक्षरशः इस प्रकार विचार करूँ या इसमें कुछ और है ? क्या यह सतत स्मरण का एक अंग है या फिर हमारे कठिन क्षणों में सहायता का तरीका या वह जो हम हर समय करें ?

उत्तर—मैंने आरम्भ में भी कहा था—पहला प्रश्न मेरे विचार में सतत स्मरण के बारे में था—हम यह सोचें कि गुरुदेव कर रहे हैं और फिर भूल जायें। जैसे कि आप एक बार कार का इंजन चालू कर दें, जब वह चालू हो जाये तो फिर सब, आपको चलाना है। इसी प्रकार गुरुदेव के स्मरण की क्रिया है। एक बार जब आपने दिनचर्या आरम्भ की तो यह विचार लिया कि यह वह कर रहे हैं। इससे एक तरह की शायद उसे शक्ति कहना गलत होगा—परन्तु गुरुदेव के प्रति चेतनता का एक प्रवाह चालू हो जाता है। वह इंजन की भाँति है कि जब तक आप चलाते रहो, बन्द न करने तक, चलता रहेगा। और हम उसे बन्द करते हैं जब हम सोने के समय बिस्तर पर जाते हैं। उस समय हम प्रार्थना करते हैं और ध्यान के मूड में चले जाते हैं और प्रार्थना के अर्थ पर ध्यान करते हुए सो जाते हैं। यह निद्रावस्था में स्मरण का प्रवाह जारी रखता है। इस सब के पीछे भावना है कि हमारे अर्धचेतन मन में गुरुदेव के स्मरण का भाव सदा प्रवाहित रहे। फिर वह सतत स्मरण में परिवर्तित हो जाता है।

प्रश्न—बुद्ध, ईसा, मोहम्मद और कन्फ्यूशस जैसे महान धार्मिक व्यक्तियों पर तथा उनके द्वारा दी गई शिक्षा से हमें जो कुछ उपलब्ध होता है उसके विषय में बताइये। इन व्यक्तियों और उनके संदर्भ में उनकी शिक्षा का महत्व मुझे बताइये।

उत्तर—मुझे डर है कि यह बहुत बड़ी माँग है। मैं सुझाव दूँगा कि आप तुलनात्मक धर्मों पर कोई पुस्तक पढ़ें। मूलतः उन सब ने एक ही बात कही है। सब धर्म वही शिक्षा देते हैं—भाईचारा, प्रेम, दया, करुणा और सांसारिकता से ऊपर उठना। उन सब धर्मों ने एक ही बातें सिखाई हैं।

थोड़ी बहुत, छोटी-मोटी भिन्नता उनके व्यावहारिक पहलू में है जिससे हमें कोई फरक नहीं पड़ता।

प्रश्न—लत क्या है ? और इस लत के चक्कर से कैसे छुटकारा पाया जाये ?

उत्तर—मेरे विचार में अगर किसी को किसी भी तरह की बुरी लत पड़ी है तो वह डाक्टर से सलाह ले या किसी मनोवैज्ञानिक से।

प्रश्न—"राज योग का दिव्य दर्शन" बाबूजी ने कहा है कि 'बी' बिन्दु पर सफाई करने से विषयासक्ति (sensuality) में कमी होती है। क्या आप उस तरीके पर विस्तार से बता सकते हैं ?

उत्तर—इसका उपयोग केवल गुरुदेव की राय पर ही करना है। आप जो साधारण प्रतिदिन सफाई करते हैं वही करिये। बिन्दु अ तथा ब विशेषतः प्रशिक्षकों के कार्य करने के लिये हैं। जब तक अभ्यासी को विशेष रूप से इस तरीके को अपनाने को न कहा जाय उसे नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—मैं इस कार्यक्रम में नया हूँ और आप से इतना लगाव हो गया है कि सदैव आपके पास रहना चाहता हूँ ताकि मैं सीख सकूँ कि आपके समान कैसे बनूँ और साथ ही वह ठीक और अच्छा लगता है। घर वापस जाने पर इस सामीप्यत को कैसे बनाए रखूँ। मेरा जीवन और आवश्यकताएँ इतनी बदल गईं हैं कि मैं इस मार्ग पर टिका रह कर ईश्वर से एकीकरण चाहता हूँ।

उत्तर—बहुत अच्छा है। कोई समस्या ही नहीं। हम सतत स्मरण इसीलिए करते हैं, क्योंकि शारीरिक रूप से साथ रहना सदैव सम्भव नहीं—अपने बीबी और बच्चों के साथ भी नहीं। वे स्कूल जाते हैं, आप काम पर जाते हैं, परन्तु स्मरण की क्रिया से हम उन्हें अपने निकट ले आते हैं। मेरे गुरुदेव कहा करते थे "उसको स्मरण करो और वह वहाँ मौजूद है।"

अब यदि आप अपनी पत्नी को स्मरण करेंगे तो वह उस अर्थ में मौजूद नहीं होगी, परन्तु **वह** सदैव रहता है। सतत स्मरण वह अमोघ तरीका है जिसके द्वारा हम सदैव गुरुदेव के समीप हो सकते हैं। इसीलिए उसका प्रयोग करिए।

प्रश्न—क्या यह सम्भव है कि हम इस जीवन में उस परम सत्य तक पहुँच सकें ? बाबूजी ने कितनी ही पुस्तकों में लिखा है कि उच्च स्थितियों तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। यह केवल कुछ विशेष लोग ही कर पायेंगे। जो सब प्रयत्न कर रहे हैं उनका क्या होगा ?

उत्तर—यह तो साफ है कि उनका प्रयत्न बहुत बलवान नहीं है। यह सम्भव है, यह भी सही है। यह उसी प्रकार है, जैसे कहना कि ४ मिनट में १ मील दौड़ना सम्भव है। जब पहला मनुष्य, शायद रॉजर बैनिस्टर, ४ मिनट में एक मील दौड़ा तो इस सम्भावना का जन्म हुआ और यह सब के लिए सम्भव हुआ। परन्तु क्या मेरे लिए सम्भव है ? मेरी अपनी सीमाएं हैं। मैं सोलह मिनट में भी एक मील न दौड़ पाऊँ जब तक कि भालू मेरे पीछे न लगा हो (मुसकुराते हैं) (हास्य) अब इस उदाहरण का क्या अर्थ है ? हम उसकी ओर दौड़ने को अन्तःकरण से प्रेरित हों, जिसे हम ध्यान व साधन द्वारा पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम अन्तः- प्रेरित हों और कोई पीछे से धक्का दे। मैंने कहीं पर सुझाव दिया है कि प्रगति दो शक्तियों का परिणाम है—एक विकासात्मक बल जो हमें आगे खींचता है और दूसरा बल जो मुझे पीछे से धक्का लगाता है। आपको पता है कि अगर पीछे से कोई खतरा हो तो आप तेज भागते हैं और अगर कोई खतरा न हो तो आप टहलते हैं। अब एक अंग्रेज द्वारा लिखी गई एक छोटी कविता है 'भगवान का शिकारी कुत्ता' (The Hound of God)। यह शायद आठ पेज की कविता है और हर पेज पर शायद आठ दोहे हैं। यह एक लकड़हारे के बारे में है जो रोज अपनी जरूरत की लकड़ी काटकर बाजार में ले जाकर बेचता है। वह पूरा दिन जंगल में काम करके सूर्यास्त के समय लकड़ी का गट्ठा सिर पर रख कर घर की ओर चल पड़ता है और उसे पीछे किसी की पदचाप सुनाई देती है—पिट पैट, पिट पैट। वह डर जाता है और तेजी से चलना आरम्भ कर देता है और आवाज भी तेज हो जाती है। वह भागना शुरू कर देता है और पदचाप के भी भागने की आवाज आती है। आखिर वह थक कर गिर जाता है और गठ्ठे को भी फेंक देता है और डर कर पीछे घूम कर देखता है कि अब मेरा क्या होगा—और उसे दिखाई देती है प्रभु की महिमामय उपस्थिति। वह पूछता है, "तुम कौन हो ?" वह कहते हैं, "मैं भगवान हूँ।" लकड़हारा कहता है, "मैं सारा जीवन तुम्हें ढूँढ़ता रहा। तुम कहाँ थे ?" और प्रभु कहते हैं, "मेरे पुत्र, मैं पूरा जीवन तुम्हारे पीछे-पीछे था। मैं तुम्हारे पीछे भाग रहा था और तुम मुझसे दूर भाग रहे थे। क्या जीवन भर तुमने अपने पीछे मेरी पदचाप नहीं सुनी ?"

अब प्रश्न उठता है कि क्या हम उसकी ओर जा रहे हैं या वह हमारी ओर आ रहा है। बाबूजी ने गुरु के सम्बन्ध में कहा है कि अगर तुम बैठकर सीधे प्रभु से प्रार्थना करो कि "मुझे गुरु भेज दो", तो गुरु तुम्हारे द्वार पर

पहुँचेगा, वह तुम तक आयेगा।

अब मैं सोचता हूँ कि लक्ष्य तक पहुँचने में कठिनाई इसलिए होती है क्योंकि हम सोचते हैं कि "मैं" कर रहा हूँ। प्रशिक्षकों को सतर्क किया जाता है कि अगर वह पूजा देते समय यह सोचें कि मैं प्राणाहुति दे रहा हूँ, मैं सफाई कर रहा हूँ, तो कार्य उनकी कार्यक्षमता तक सीमित हो जाता है। अगर वह उस समय अपनी उपस्थिति को हटा दें और सोचें कि गुरुदेव कार्य कर रहे हैं, केवल मानसिक रूप से नहीं परन्तु हृदय से कि 'मैं नहीं परन्तु गुरुदेव यहाँ हैं और वह कार्य कर रहे हैं' तो वह काम गुरुदेव का हो जाता है। अब अगर मैं सतत स्मरण करूँ और सोचूँ कि वह ध्यान कर रहे हैं, वह ईश्वर तक पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं तो वह एक क्षण में मेरा हो सकता है। सो सब कुछ निर्भर करता है हमारी प्रवृत्ति पर—मेरा मतलब है कि हम सब व्यक्तिगत रूप से सोचते हैं कि मैं ईश्वर को पाने का प्रयास कर रहा हूँ मैं यह कर रहा हूँ, मैं वह कर रहा हूँ और वह "मैं" हमें सीमा में बाँध देता है और हमें लाखों करोड़ों वर्ष लग सकते हैं। बाबूजी ने शायद ऋत-वाणी में लिखा है कि ध्यान करने के तीन तरीके हैं। पहला, जब तुम अभ्यासी बन कर ध्यान में बैठते हो और दिव्य प्रकाश पर ध्यान करते हो। दूसरा, जो थोड़ा उस से उच्च अवस्था है, जब हम ध्यान में बैठे हैं तो हृदय में गुरु के रूप पर ध्यान करते हैं। एक तीसरी स्थिति भी है जिसके विषय में हमारे साहित्य में अधिक नहीं कहा गया है, मेरे विचार में शायद कुछ भी नहीं कहा गया। शायद किसी दिन मैं इस विषय में बताऊँगा।

प्रश्न—आज कैसा रहेगा ?

उत्तर—आज क्यों नहीं ? अच्छा (हास्य)। जब गुरु स्वयं अभ्यासी के ऊपर ध्यान करता है। क्योंकि ऐसा मनुष्य पैदा होना चाहिए और ऐसा गुरु होना चाहिए—यह कहना ईशनिन्दा नहीं होगी कि ऐसा गुरु खुशकिस्मत है जिसको ऐसा शिष्य मिल जाये जिस पर वह ध्यान कर सके।

इसमें स्थितियों पर स्थितियाँ हैं। हमें आरम्भ में ही अपने लक्ष्य और प्रयत्न को नहीं छोड़ना चाहिए कि "यह सब के लिए सम्भव है परन्तु पहुँच कोई एक ही सकता है।" हम एवरेस्ट पहाड़ पर चढ़ने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं जिसमें हमारी शारीरिक सीमायें आड़े आती हैं या हम पीएच०डी० डिग्री नहीं ले रहे हैं जिसमें हमारी मानसिक क्षमता की सीमायें आड़े आती हैं। आध्यात्मिकता में कोई सीमायें नहीं। परन्तु यदि आप अपने को सीमा में बाँध लें और कहें, "ओ चारी, मैं तो ईसाई हूँ।" तो आपने अपने को उसके

साथ बाँध दिया। इसी प्रकार दूसरा कहता है, ''मैं जर्मन हूँ'', तो आप ने अपने आप को जर्मनी की परम्पराओं के साथ बाँध दिया। एक तीसरी कहती है, ''मैं लड़की हूँ'', उसने अपने आप को स्त्रीत्व की सीमा में बाँध लिया। आप यह क्यों अनुभव करती हैं कि आप लड़की हैं। शायद मैं आपको लड़की होने के कारण पसन्द कर सकता हूँ, परन्तु आप क्यों सोचती हैं कि आप लड़की हैं। जैसा कि बाबूजी ने कहा है कि अगर आप कम्पनी के अधिकारी हैं तो आपके नीचे जो काम करते हैं आप उनके अधिकारी हैं, आप स्वयं अपने अधिकारी कैसे हो सकते हैं। एक पिता अपने बच्चों का पिता है, अपना पिता तो नहीं हो सकता। उसके बच्चे उसे पिता कहते हैं परन्तु क्या वह अपने आप को पिता कहता है ? तो हम दूसरों के लिए वह सब हैं परन्तु अपने लिए नहीं। तो मैं क्या कहूँ ? कौन हूँ ? जब आप कहते हैं कि मेरे अन्दर जो गुरु है वह मुझे चलाता है, सुलाता है, खींचता है, धक्का देता है, तब हम सत्य के अधिक निकट हैं।

इस कारण सतत स्मरण सब समस्यायों की अचूक दवा है। ध्यान व सफाई आरम्भ में आवश्यक हैं। जो सदैव सतत स्मरण कर सकता है उसके लिए ध्यान की आवश्यकता नहीं। सतत स्मरण भी एक प्रक्रिया है। किस लिए ? गुरु के प्रति प्रेम बढ़ाने के लिए एक तरीका है। जब हम प्रेम करते हैं तो उनका स्मरण करते हैं। इसका उलटा करें तो उनको स्मरण करने पर हम उनसे प्रेम करने लगते हैं। जब आप प्रेम करते हैं तो स्मरण स्वतः ही एक क्रिया के रूप में बन्द हो जाता है, क्योंकि प्रेम करने पर स्वतः ही याद आती है। क्या आपको अपने बीबी व बच्चों को याद करने के लिए कोई जोर लगाना पड़ता है ''नहीं-नहीं, मैं बीबी के सतत स्मरण का प्रयास कर रहा हूँ।'' (हास्य) क्या आपको इसे कहने की आवश्यकता है ? नहीं। क्योंकि आप उसे प्रेम करते हैं इसलिए सदैव स्मरण करते हैं। इस प्रकार सतत स्मरण भी एक प्रक्रिया है। ध्यान चला जाता है, सतत स्मरण चला जाता है, केवल प्रेम रह जाता है। जब केवल प्रेम रह जाता है फिर पाने या जुड़ने का प्रश्न क्या है। यह सब तो बेकार है। यह सब इसीलिए है कि हम उसे और अपने को अलग समझते हैं। विलय वह अन्तिम परिणाम है जहाँ उसके अस्तित्व में मैं अपने को भूल गया हूँ क्योंकि मैं नहीं **वह** है।

भागवत में एक बहुत सुन्दर कथा है जो कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित है। कृष्ण को राधा से प्रेम था। आपने राधा-कृष्ण के बारे में तो सुना होगा। यह एक आम कथा है। जब कृष्ण चले गये तो राधा अपने प्रभु की याद में,

अपने दिव्य प्रीतम की याद में कृष्ण, कृष्ण जपती, मेरा मतलब अपने हृदय में जपती रही, और कहा जाता है कि इस सतत स्मरण की प्रक्रिया से वह कृष्णा बन गई। फिर यह आश्चर्यजनक परिवर्तन आया कि उसने अपना नाम 'राधा, राधा' जपना शुरू कर दिया। चूँकि उसने कृष्ण के साथ एकात्मता स्थापित कर ली थी, अतः अब कृष्ण के भाव में वह अपनी प्रियतमा राधा की याद कर 'राधा, राधा' कहने लगी। सो उन्होंने 'कृष्ण, कृष्ण' जपना शुरू किया कि मैं तुम्हारे बिना क्या करूँ और 'राधा, राधा तुम कहाँ हो' पर समाप्त किया। राधा स्वयं राधा के लिए बिलख रही है ; यह कैसा चमत्कार है।

अतः सतत स्मरण की यह सम्भावना है, बल्कि मैं कहूँगा कि असीम सम्भावना है। यह आपके हृदय में उसके प्रति प्रेम पैदा करता है, जिसका आप स्मरण करते हैं। आपका सम्पूर्ण लक्ष्य आपके सामने है। आपको किसी भी चीज के लिए और कहीं तक पहुँचने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि बाबूजी ने कहा है "उसको इस तरह प्रेम करो कि आप का प्रेम उसके हृदय पर ऐसी दस्तक दे कि उसको दरवाजा खोल कर देखना ही पड़े कि बाहर कौन है, फिर आपका काम हो गया समझो।" जैसे आप किसी दोस्त के घर जाकर घंटी बजाते हैं और वह बाहर निकल कर आता है और कहता है, "अरे बिल ; आओ अन्दर आओ।" क्यों ठीक है न ? और फिर वह तुम्हारा हाथ खींच कर तुम्हें अन्दर ले जाता है। तुम्हारा वहाँ पहुँचना ही काफी है। इसी प्रकार हमें गुरुदेव के हृदय पर इस तरह से दस्तक देनी है कि वह हमें देखने के लिए आएँ—"यह कौन है जिसकी आवाज मुझे सुनाई दे रही है ? मैं जो असीमित हूँ, चरम हूँ, जिसको सृष्टि में कहीं कोई अशांत नहीं कर सकता, तब भी यह किसकी थपथपाहट मुझे सुनाई दे रही है ? अवश्य ही, कोई प्रेमी है।" यह उस फोन नम्बर की तरह है जो सूची में नहीं है और विरले ही किसी को इसका पता है, और जब यह बजता है तो तुम्हें पता हो जाता है कि कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति है और आप स्वयं उठते हैं। बाकी सूची वाले नम्बर आप स्वयं नहीं उठाते कोई नौकर या सेवक उठाता है। तुम्हें भी अपना बिना सूची का सम्पर्क गुरुदेव के साथ स्थापित करना है फिर तुम और वह एक हो।

'ऋत वाणी' में एक राज है जिसके बारे में मैंने कई बार चर्चा की है। यह मेरे लिए एक व्यक्तिगत रहस्योद्घाटन था जहाँ बाबूजी लिखते हैं, "मेरे मन में कभी भी यह विचार नहीं आया कि जो कुछ मेरे गुरुदेव का है वह मेरा

नहीं है।'' गुरुदेव की भाषा हमेशा उलट-फेर वाली रही है अगर उसे दूसरे शब्दों में कहा जाए तो वह कहते हैं—''मैंने सदैव यह अनुभव किया कि जो मेरे गुरुदेव का है वह मेरा है।'' अब हरएक बालक को यह पता है—यह घर किसका है ? मेरा। यह किसकी गाड़ी है ? मेरी। वह यह नहीं कहता कि मेरे पिता की। शायद अमरीकन समाज में यह कहें पर और कहीं नहीं। वह अपने आप को परिवार का एक हिस्सा समझता है जो कुछ भी वहाँ है उसका है। वह कहता है यह मेरा घर है, मेरी गाड़ी है, मेरी कुर्सी है, इसे मत छुओ। उसे एक गहरा अधिकार-बोध रहता है। अब अगर हम यह रवैया अपना सकें कि मेरे गुरुदेव सृष्टि के मालिक हैं, यह सब उनका है, मैं उनका पुत्र हूँ इस कारण पूरी सृष्टि पर मेरा राज्य है—तो हमारा काम बन गया समझो। गुरुदेव ने भी यही लिखा है।

जब मैं यह पुस्तक प्रकाशित करवा रहा था तो मैंने अपने आप को सिर पर ठोंका 'बेवकूफ, बेवकूफ'—इसी तरह (हास्य)। मैंने अपने आप से कहा, ''तुम कितने मूर्ख हो, बैठकर ध्यान, सफाई आदि कर रहे हो जब कि तुम्हें केवल यह अनुभव करना है कि वह मेरे गुरुदेव हैं, मालिक हैं और उसके बाद जो कुछ भी उनका है वह मेरा है।'' इसके कुछ महीने या कुछ सप्ताह बाद मैं शाहजहाँपुर गुरुदेव से मिलने गया और पहली चीज जो मैंने उनसे कही वह थी ''बाबूजी, आप ने ऋत वाणी में ऐसा रहस्य खोल दिया है, परन्तु वह किसी की समझ में नहीं आया।'' उन्होंने कहा, ''क्या रहस्य ?'' तो मैंने वह वाक्य दोहरा दिया। उन्होंने पूछा, ''क्या मैंने ऐसा कहा है ?'' मैंने कहा, ''हाँ।'' उन्होंने कहा, ''मैं खुश हूँ कि अब तक केवल तुम्हें समझ में आया है।'' (हास्य) मैंने पूछा, ''क्यों ?'' तो उन्होंने कहा, ''तुमने ध्यान, सफाई सब बन्द कर दी है। अगर सब कर दें तो क्या होगा।'' (हास्य) यह भावना अन्दर से आनी चाहिए, हृदय से आनी चाहिए। यह नहीं कि आप कहें कि चारी ने कहा है तो मैं भी क्यों न यही सोचूँ—तब काम नहीं चलेगा। यह भावना अपने अन्दर से, यहाँ से (हृदय की ओर इशारा करते हुए) आनी चाहिए। और सचमुच उस दिन से मेरी प्रगति आरम्भ हुई और समाप्त भी हुई, दोनों ही। हमें कम से कम अपना साहित्य ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए कि जब 'वह' यह सब कह रहे हैं तो क्या कहने का प्रयत्न कर रहे हैं।

प्रश्न—अगर किसी की मोक्ष पाने के पूर्व मृत्यु हो जाए तो क्या वह पुनर्जन्म लेगा ?

उत्तर—हमें निषेधात्मक विचार नहीं लाने चाहिए। गुरुदेव ने कहा है कि प्रत्येक निष्ठावान अभ्यासी मोक्ष की स्थिति तक पहुँच जायेगा। 'निष्ठावान' पर विशेष ध्यान दीजिये। सो हमें निष्ठावान अभ्यासी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। इतना वादा हमारे साथ किया गया है। अतः वापस आने के विषय में मत सोचिए।

प्रश्न—आप ने बाबूजी की तुलना एक मोमबत्ती से की है जो अपने आप को जला कर रोशनी देती है। अगर शक्ति का वह स्रोत कभी न समाप्त होने वाला है और गुरुदेव असीम स्रोत से शक्ति ले रहे हैं तो फिर उनको प्राणाहुति के समय अपने आप को देने के लिए जलने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—प्राणाहुति उनको खाली नहीं कर रही है। प्राणाहुति तो प्रेम की भाँति अन्तहीन है। जिन्होंने सचमुच प्रेम किया है वह जानते हैं कि प्रेमिका की मृत्यु के बाद भी प्रेम तो जिन्दा रहता है, है न ? भूतकाल में लोगों ने यह समझा है और अनुभव किया है। ट्रॉय की हेलेन का नाम लेकर रोते नहीं रहते। वे कहते हैं, "ओ चारी, वह सदैव मेरे साथ है, जीवन काल में उसने मुझे तंग किया और अब मृत्यु के पश्चात् भी वह मेरा पीछा कर रही है।" (हास्य) यह प्रेम दर्शाने का एक तरीका है क्योंकि प्रेम का खुला प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। यह एक पुरानी परम्परा थी और एक अच्छी परम्परा थी। सो हमें प्राणाहुति देने से वह अपने आप को नहीं जला रहे। अगर आपको प्राणाहुति के लिए अपने अन्दर से शक्ति खींच कर खाली करना पड़े तो आप अधिक कुछ नहीं कर पाएँगे। प्राणाहुति तो उस असीम भंडार से आती है। उनके अपने आप को मोमबत्ती की तरह जलाने से तात्पर्य उन शारीरिक क्रिया-कलापों से है जो कि उनको चुका रही हैं, जैसे कि समय पर खाने में असमर्थ, समय पर सोने में असमर्थ, आदि-आदि। वे पूरे समय वास्तविक रूप में हमारी सेवा में ही लगे हुए थे। उस अर्थ में वे मोमबत्ती की भाँति अपने आप को जला रहे थे।

प्रश्न—क्या प्रथम ५ वृत्तों में प्रवेश पाने से पहले हमें यह प्रतीक्षा करनी पड़ती है कि आत्मसम्मान आत्म-महत्व और आत्म-सहानुभूति घुल जाएँ या जैसे-जैसे हम हृदय क्षेत्र में अग्रसर होते हैं, ये अशुद्धियाँ समाप्त होती जाती हैं ?

उत्तर—आत्मसम्मान, आत्म-महत्व व आत्म-सहानुभूति सतही चीजें हैं। वृत्तों, चक्रों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। मैं एक हवाई जहाज में

बैठकर ३५ हजार फुट ऊपर भी आत्मसम्मान, आत्म-महत्व व आत्म-सहानुभूति का अनुभव कर सकता हूँ। जहाज हिलना शुरू होता है और मेरा जी मिचलाने लगता है तो मैं आत्म-सहानुभूति का अनुभव करता हूँ। मैं उन के विषय में सोचता हूँ जो भिन्न स्थानों पर जाने के लिए बसों में बैठे हैं और मैं आत्म-महत्व का अनुभव करता हूँ या दूसरे लोगों को देखकर अपनी नई जैकेट-पतलून-जूते के कारण आत्म-महत्व का अनुभव करता हूँ। इन सब का उड़ने से क्या सम्बन्ध ? सो मैं इन सब का अनुभव कभी भी, कहीं भी, किसी समय में भी कर सकता हूँ। ये चीजें हमें स्वयं समाप्त करनी है। जब आत्म-सम्मान में से सम्मान चला गया—तो केवल आत्म रह गया, आत्म-महत्व में से महत्व चला गया तो आत्म रह गया, आत्म-सहानुभूति में से सहानुभूति चली गयी तो केवल आत्म रह गया, और हम उसी के पीछे तो हैं। इसके साथ ही हम आखिरी प्रश्न पर आ गये। (टेप में रुकावट)।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि हमारे अधिकतर प्रश्न हमारी इच्छाओं पर आधारित होते हैं। यह मेरी धारणा है कि जब हम इच्छारहित हो जायेंगे तो हमारे पास कोई प्रश्न नहीं होंगे। मैंने कई बार लोगों को बाबूजी के पास आते देखा, "बाबूजी, हम सिगरेट पी सकते हैं ?" और बाबूजी कहते, "अगर आप न पियें तो बेहतर होगा क्योंकि आध्यात्मिक प्रगति रुक सकती है।" अब ऐसा प्रश्न पूछने वाला व्यक्ति अवश्य सिगरेट पीने वाला होगा। सिगरेट न पीने वाला ऐसा प्रश्न पूछने की सोच ही नहीं सकता—आखिर पूछे भी तो किसलिए ? इसी प्रकार के लोग पूछते थे, "मैं कभी-कभी मछली और अंडा खाता हूँ।" अब ऐसे प्रश्न से हम उत्तर नहीं माँग रहे, परन्तु जो हम छोड़ नहीं सकते उसके लिए अनुमति माँग रहे हैं, जैसे "गुरुदेव मैं सिगरेट पीता हूँ और मेरे विचार में मैं यह आदत छोड़ नहीं सकता इसलिए मुझे अनुमति दीजिए ताकि मैं पीता रहूँ और आप अपना काम करते रहिए।" (वह मुसकुराते हैं) (हास्य)। अगर आप इन प्रश्नों का विश्लेषण करिए तो आप देखेंगे इन में एक इच्छा का आधार छिपा है। अब कोई इच्छा न होने पर कोई प्रश्न भी नहीं हो सकता।

यह अच्छा रहेगा अगर भविष्य में आप अपने प्रश्न को लिख कर स्वयं उसका मूल्यांकन करें कि इस प्रश्न द्वारा आप क्या पाना चाहते हैं ? क्या आप उत्तर चाहते हैं ? आध्यात्मिकता में प्रगति चाहते हैं ? या बाबूजी से केवल प्रार्थना करना चाहते हैं कि मुझे यह करने की अनुमति दीजिए क्योंकि मैं कमजोर हूँ। अब सही तरीका क्या है ? आप बाबूजी के पास जायें और

कहें, ''मैं सिगरेट पीता हूँ, मुझे समझ में नहीं आता कि कैसे छोड़ूँ, इसमें मेरी सहायता कीजिए।'' ऐसे में आप उनकी सहायता चाहते हैं न कि उत्तर। अभी आप केवल उत्तर या कुछ करने की अनुमति चाहते हैं बिना उनकी सहायता माँगे। इसलिये इन प्रश्नों का महत्व खो जाता है और उनसे हमारा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। क्योंकि हम कानों से सुनते हैं न कि दिल से और इस प्रकार पूरा प्रयास व्यर्थ हो जाता है।

प्रतीक्षा

१२ अगस्त १९८७

प्रिय भाइयों व बहनों कुछ आखिरी शब्द। मैं क्या कहूँ—जब हम बहुत समय भूखे रहने के बाद खाते हैं तो पेट भर खाने के बाद हम सम्भवतः जो कर सकते हैं वह यह कि केवल आराम कुर्सी खींच कर उस पर आराम करें और सो जायें (हास्य)। मेरे विचार में अच्छे खाने का वही एक सही उतर है। कहा जाता है मौन सबसे बड़ी सराहना है, परन्तु पाश्चात्य जगत में ऐसा नहीं है, ज हाँ हम हर वस्तु की प्रशंसा करते हैं और उसके लिए धन्यवाद देते हैं, जैसे "स्वादिष्ट सलाद के लिए धन्यवाद।" मुझे यह देख कर हमेशा आश्चर्य होता है कि अमरीका में सलाद के ऊपर कितना बतंगड़ बनाते हैं। प्रकृति उसको पैदा करती और बढ़ाती है और आप तो केवल उसे काट कर सजा कर रखते हैं, जैसे कि कोई विशेष पकवान हो, फ्रांसीसी पकवान—यह तो साफ है। आपको पता है कि मैं यह अमरीकी लोगों की आलोचना की आदत नहीं छोड़ पा रहा (वह मुसकुराते हैं) (हास्य) (वह हँसते हैं)। तमिल में एक कहावत है कि जो हाथ पिटाई करता है वही प्यार भी करता है। जब आप बच्चे में रुचि रखते हैं तो उसे सही राह दिखाने के लिए कभी कभी पीटना भी पड़ता है। आप अपने पड़ोसी के बच्चे को तो नहीं पीटते। पड़ोसी का बच्चा कैसा भी निकले उसकी किसे परवाह है, क्योंकि कोई और उसका पालन पोषण कर रहा है, कोई और उसकी देख- रेख कर रहा है। परन्तु जब आपका अपना बच्चा होता है तो उसमें आपका हृदय अटका होता है, अगर आपको मारना पड़ता है तो आप मारते भी हैं चाहे इसके लिए आप बाद में स्वयं रोयें।

इसी कारण मैं भी अमरीकी लोगों की आलोचना करता हूँ—शायद मुझे स्वयं नहीं कहना चाहिए परन्तु यह दर्शाता है कि वह मुझे कितने प्रिय हैं—यह तो साफ है, नहीं तो मैं यहाँ नहीं होता। मैं उन्हें प्रेम करता हूँ और चाहता हूँ कि आध्यात्मिक रूप से वे और भी प्रेम के योग्य बनें। हमारा छोटा सा जो समुदाय है वह मूल नाभिक की भाँति है जिससे वह और बढ़ेगा।

इसी विचार के साथ हम यहाँ आते हैं गोष्ठी करते हैं और बैठकर बातचीत करते हैं, जैसा कि आज सुबह किसी ने अपने भाषण के दौरान कहा।

अब सामान्यतया हमारे इस जगत में प्रतीक्षा को बेकार समझा जाता है, वह जो विचारहीन है और पूर्व के निवासी करते हैं। वे केवल बैठकर प्रतीक्षा करते हैं क्योंकि उनके पास और कुछ करने को नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता में प्रतीक्षा को कुछ न करने के तुल्य माना जाता है। यह उस शब्द की एक दुखद भ्रांति है क्योंकि वास्तव में प्रतीक्षा का अर्थ है, किसी प्रक्रिया को पूरा होने का समय देना। आप कोई प्रक्रिया आरम्भ करते हैं, फिर प्रतीक्षा करते हैं जैसे कि एक बीज डाल कर फिर उसके निकलने की प्रतीक्षा करना, पौधे को पानी देकर उसके परिणाम की प्रतीक्षा। आलू को कूकर में उबालने के लिए डाल कर उसकी प्रतीक्षा करना, अपने पति को काम पर भेज कर उसकी प्रतीक्षा (हास्य)। अगर आप जीवन का इस ढंग से विश्लेषण करें तो देखेंगे कि सक्रियता के व्यस्त क्षणों के बीच में प्रतीक्षा की घड़ियाँ हैं। हमारे जीवन व अस्तित्व में क्रिया नहीं बल्कि प्रतीक्षा के क्षणों की ही अधिकता है। आप में से जो यह सोचते हैं कि वह गाड़ी चला रहे हैं—मैं तो पूरा समय चला रहा हूँ। घंटों चला रहा हूँ— वह भी अपने लक्ष्य तक पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। चलना भी ध्येय तक पहुँचने की प्रतीक्षा है, है न ? आप जहाज में उड़ें तब भी वही है, कुछ क्षणों बाद घड़ी की सुई देख लेते हैं कि मुझे पहुँचने में कितना समय है।

दार्शनिक रूप से कहा जाये या आप पर्याप्त समझदार हैं तो आप समझ सकते हैं कि प्रतीक्षा में कला है, काम तो कोई मूर्ख भी कर सकता है। जैसे कि कहते हैं कि धीमे गाड़ी चलाना एक कला है, कोई भी सनकी तेज गाड़ी नब्बे मील प्रति घंटा चला कर फिर टक्कर मार सकता है। आध्यात्मिकता में हमें लड़ाकू व्यक्ति नहीं चाहिए। हमें ऐसा व्यक्ति चाहिए जो सामंजस्य रख सके, जो आवश्यक हो उसे कर के प्रतीक्षा करे। आप पूछ सकते हैं कि प्रतीक्षा में ऐसा क्या विशेष है। उदाहरणार्थ काली हमेशा यह जानना चाहती है कि प्रतीक्षा में ऐसा क्या विशेष है ? यह बहुत कुछ समझने की शक्ति को दर्शाता है। पहला-किसी भी क्रिया के आरम्भ और अन्त के मध्य में एक प्रतीक्षा का समय होता है दूसरा जो व्यक्ति प्रतीक्षा कर सकता है उसमें विश्वास है और इस कारण उसमें प्रतीक्षा करने का धैर्य है। तीसरा उसमें विश्वास है कि जो आरम्भ हुआ है उसका अन्त भी होगा, वह रुक नहीं सकता-दुर्घटना व टक्कर को छोड़ कर। उसमें विश्वास का तत्व आ जाता

है। हम पूर्व वासियों के लिए हर बार जब हम हवाई जहाज में प्रवेश करते हैं तो वह विश्वास की एक प्रक्रिया है। वास्तविक रूप में किसको पता कि क्या होगा, खास कर लम्बी उड़ान में जो दस या ग्यारह घंटे की हो ? पुराने समय में हम आधे घंटे की उड़ान में कस कर हाथ पकड़ कर प्रार्थना करते थे। अब कितनी देर तक कोई प्रार्थना कर सकता है ? क्या हम आठ घंटे या ग्यारह घंटे प्रार्थना कर सकते हैं ? सो हम आरम्भ में प्रार्थना करते हैं और फिर उड़ान का मजा लेने का प्रयत्न करते हैं। हर बार जब कोई झटका या दिशा में बदलाव होता है तो लोग प्रार्थना करते हैं—अधिकतर करते हैं, जिनको सच कहने में शर्म आती है वह झूठ बोलते हैं। सो विश्वास न होने पर प्रतीक्षा भी पीड़ामय हो जाती है। यह विश्वास कि जो मेरे गुरुदेव ने आरम्भ किया है वह समाप्त भी होगा वह मेरी भलाई के लिए है और उसी में मेरा अन्तिम हित है। इसलिए जो प्रतीक्षा कर सकता है उसको गुरु में विश्वास है, प्रक्रिया में विश्वास है यही विश्वास हमें प्रतीक्षा करने की क्षमता देता है और इसी को धैर्य कहते हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति की कोई पहचान व विशेषता है तो वह है उसकी प्रतीक्षा करने की क्षमता।

इसका सम्पूर्ण उदाहरण मेरे गुरुदेव थे। वह अनन्त काल तक प्रतीक्षा कर सकते थे और वह कुछ और ही बात है। आप यह नहीं कह सकते कि मैंने पाँच मिनट प्रतीक्षा की है आप और कितनी प्रतीक्षा की आशा रखते हैं। प्रतीक्षा की कोई सीमा नहीं होती। जैसे आप किसी कुत्ते को सिखाते हैं और उसे कहते हैं "रूको" तो उसे वैसे ही रूकना पड़ता है जब तक आप आकर उस प्रतिबन्ध को हटाते नहीं। जो कुत्ते के लए है वही उसको सिखाने वाले के लिए है। आप भी बैठकर उस पर निगरानी रखते हैं और देखते हैं कि वह आज्ञापालन करता है या अवलेहना का प्रयत्न तो नहीं कर रहा। प्रतीक्षा की कोई सीमा नहीं, "मैंने बीस मिनट प्रतीक्षा की या चालीस मिनट प्रतीक्षा की या तीन दिन प्रतीक्षा की।" हमारी सीमा है परन्तु प्रतीक्षा की कोई सीमा नहीं। इस कारण प्रतीक्षा में अनन्त की विशेषता आ जाती है। कुछ करने में हम समय का अंशों में प्रयोग करते हैं, जिन्हें हम क्षण, मिनट या घंटें कहते हैं। परन्तु जो प्रतीक्षा करता है वह कुछ हद तक अनन्त में चला जाता है। इस कारण गुरुदेव अनन्त तक प्रतीक्षा कर सकते हैं।

एक बार मैंने बाबूजी से पूछा था, "आपके पास कई लोग आते हैं जो एक या दो सिटिंग लेकर चले जाते हैं। उनका क्या होगा ?" उन्होंने कहा, "उन्हें वापिस आना पड़ेगा, मैं प्रतीक्षा कर सता हूँ।" मैंने पूछा "कब

तक ?" उन्होंने कहा, "शायद इस जीवन में नहीं परन्तु अगले जीवन में उन्हें मेरे पास आना होगा। हो सकता है चार-पाँच जीवन के पश्चात मेरे पास आना पड़े।" इस प्रकार के विश्वास के साथ हमारा सम्पर्क है।

मैंने शायद यह घटना आपको बताई है कि एक बार बाबूजी हवाई जहाज में कुछ कार्य कर रहे थे और विचारमग्न थे। मैंने पूछा, "गुरुदेव आप क्या कर रहे हैं ?" उन्होंने कहा "तुम देख कर बतो ?" मैंने थोड़ा प्रयत्न किया तो देखा कि वह भविष्य में कुछ कार्य कर रहे थे। फिर उन्होंने मुझे समझाया कि वह उस व्यक्ति विशेष के लिए आधार निर्माण करने में कार्यरत थे जो महाप्रलय के समय आयेगा—महाप्रलय व सृष्टि का विलय जो भारतीय दर्शन के अनुसार तैतालीस लाख बीस हजार वर्ष पश्चात् भविष्य में होगा और इस व्यक्ति में धैर्य है कि उसके लिए आज कार्य आरम्भ करे। मैंने कहा, "आपको कैसे पता कि यह सफल होगा ?" उन्होंने कहा, "केवल एक मूर्ख यह प्रश्न पूछेगा ?" (हास्य)। मैंने कहा, "हो सकता है कि मैं मूर्ख हूँ पर कृपया मुझे बताइये कि आपको कैसे पता कि यह होगा" उन्होंने कहा, "जब मैंने संकल्प किया है तो अवश्य होगा, पृथ्वी व स्वर्ग पर कोई भी उसे रोक नहीं सकता।" तो यह विश्वास है। स्वयं में विश्वास जो उनको अपने गुरुदेव में विश्वास स्वरूप उत्पन्न हुआ। उन्होंने उन्हें शिक्षा दी। क्योंकि उनमें पूर्ण विश्वास था इस कारण उन्हें स्वयं में भी विश्वास था। अतः प्रतीक्षा करने की क्षमता हमारे धैर्य और विश्वास को प्रदर्शित करती है। देर तक प्रतीक्षा की क्षमता हमारे अधिक विश्वास को दर्शाती है। अनन्त तक प्रतीक्षा की क्षमता अनन्त विश्वास का प्रतीक है। यह क्षमता हमें प्राप्त करनी है। कई बार लोग हमारे पास एक, दो या तीन सिटिंग के लिये आते हैं और फिर कहते हैं, "चारी, कुछ भी नहीं हुआ, आप तो जानते हैं मैंने इसको उचित अवसर दिया, मुझे ढाई घंटे आने में लगते हैं ढाई घंटे जाने में एक घंटा आपके साथ। चौबीस घंटे में से छः घंटे तो ऐसे निकल जाते हैं।, मैं और समय नहीं दे सकता। केवल जो मृत्यु का सामना कर रहा हो वह समय की बात करता है। जो मोक्ष की कामना करता है वह अनन्त की बात करता है। इसलिए वह धैर्य, विश्वास और प्रतीक्षा की क्षमता की बात करता है। यह जीवन क्षणभंगुर है। हम तितलियों व मधुमक्खियों को भिनभिनाते देखते हैं, भालू को झूमते-झामते देखते हैं, "शहद शहद"। हम यह ढोंग करते हैं कि हम बहुत कुछ पा रहे हैं, बहुत व्यस्त हैं। "मेरा समय बहुत कीमती है, चारी मैं आपको केवल पाँच मिनट दे सकता हूँ, मुझे संक्षेप में सहज मार्ग के

विषय में तीन मिनट में बताइये, शायद मैं कुछ कर पाऊँ।" यह आलू या गोभी बेचने की भाँति तो है नहीं। यह सहज मार्ग है जिसमें ऐसा गुरु है जो असीमित क्षमताएँ रखता है, जो अनन्त धैर्य के साथ यह जानते हुए अनन्त समय तक प्रतीक्षा कर सकता हैं, कि तुम और मैं हम सब उससे बच नहीं सकते। तुम उससे कैसे बच सकते हो जो अनन्त तक यहाँ है। यह तालाब में मछली की भाँति है। अगर तुम तीन साल में एक बार जाओगे तो वह तुम से छिप सकती है, कह सकती है कि, "यह तो तीन साल में एक बार आता है, हम चट्टानों के पीछे छिप जायें।" परन्तु अगर आप हर दिन चौबीस घंटे मछली पकड़ रहे हों तो हर मछली कभी न कभी पकड़ी जायेगी, आज, कल, परसों, नरसों, जितनी देर वह बचेगी, उतनी ही बड़ी हो जायेगी मछुआरे के लिए (हास्य), और उतनी ही जन्दी पकड़ में आयेगी (हास्य)। समझदारी कहती हैं कि शीघ्र उसके पास जाओ ताकि पकड़ से बच सको, स्वयं जाओ।

एक बार मैंने एक पुस्तक पढ़ी थी, कुत्तों को पालतू बनाने व पालने के बारे में। उसमें प्रथम अध्याय था कि पिल्ले कैसे खरीदे जाएँ, और वह कहते हैं कि जब आप जायें तो थोड़ी देर इधर उधर खड़े रहें और जो पिल्ला स्वयं आप के पास चल कर आए वह आपका है, बाकी सब विशेषताएं भूल जायें जैसे कि खाल का रंग, बालों का रंग, नाखून आदि। जो आपके पास आया है वह आपका है यह चुनाव का समझदारी भरा तरीका है। इसलिए यदि आप गुरुदेव के बच्चे बनना चाहते हें ताकि वह तुम्हारी, प्रशंसा करें, तुम्हे प्यार करें, लाड़ दुलार करें और तुम्हें अनन्त तक ले जाएं तो उस पिल्ले की भाँति स्वयं उन तक जाओ। उस समय तक प्रतीक्षा मत करो जब वह तुम्हें गरदन से पकड़ कर तुम्हें डुबकी लगवाएं ताकि तुम्हारे कीड़े नष्ट हो सकें। क्योंकि जब तुम स्वयं उनके कदमों में जाकर रोते हो तो वह कीड़ों की परवाह न करते हुए तुम्हें उठा कर सीने से चिपका लेते हैं। परन्तु अगर तुम्हें गरदन से खीचंकर लाना पड़ता है तो तुम्हें तकलीफ होती है।

यही आध्यात्मिकता का रहस्य है कि वह अनन्त तक प्रतीक्षा कर सकता है, परन्तु मैं क्यों प्रतीक्षा करूँ। यह उस व्यक्ति की भाँति है जो सोचता है हर दस मिनट बाद बस जाती है। मैं अगली बस ले लूँगा और यही सोच कर वह आराम से बैठा सिगरेट फूँकता रहता है या मद्य पीता रहता है और एक के बाद एक बस निकलती चली जाती हैं, और आखिर में वह आधी रात के बाद बस पकड़ता है जो उसे २ बजे सुबह सीएटल पहुँचाती है, और सड़क पर उस पर हमला हो जाता है और वह अस्पताल

पहुँच जाता है। हम में फल की प्रतीक्षा की क्षमता होनी चाहिए, इस विश्वास में की वह अवश्य मिलेगा परन्तु उस प्रक्रिया को आरम्भ करने के लिए प्रतीक्षा में हमें समय नष्ट नहीं करना चाहिए। यह कुछ पकाने के समान है। जब तक हम कुछ पकाना आरम्भ नहीं करेंगे वह पकेगा कैसे ?" ओ प्रिय ! आलू पकने में तो केवल दो मिनट लगते हैं।" "हाँ हाँ, पर उन्हें आग पर कब रखोगी ? "(हास्य) "ओह, आग जलने में तो एक क्षण लगता है।" "हाँ परन्तु वह क्षण कब होगा ?" है न ? और फिर कई बार हमें दोपहर के खाने की जगह रात का खाना मिलता है।

यह एक महत्वपूर्ण संकेत किसी ने किया है। पता नहीं उसे ज्ञात है कि नहीं कि प्रतीक्षा की क्षमता के पीछे विश्वास है। विश्वास ही वह वस्तु है जो एक अंग्रेजी कहावत के अनुसार पहाड़ को हिला सकती है। मैंने कई बार यह अनुभव किया है कि गुरु वास्तव में उस अर्थ में कुछ भी नहीं करता। गुरु के प्रति मेरी अनौपचारिकता को क्षमा करें, परन्तु यह धारणा और भी बलवती होती जा रही है कि वह कुछ नहीं करता। फिर वह क्या है जो उसकी शक्ति को उसकी कृपा को मेरी ओर मोड़ती है ? मेरा विश्वास, जब मुझे उसमें विश्वास होता है तो उसकी शक्ति स्वयं बहती है, जैसे कि स्थान खाली होने पर वह शक्ति स्वयं मेरी ओर खिंचती है। जब मुझमें विश्वास नहीं होता और मैं भिखारी की भाँति उनके द्वार पर जाता हूँ, "बाबूजी, कृपया मुझे यह दे दो, मेरे लिये यह कर दो, मेरे लिए दक्षिणी फ्राँस जाना सम्भव कर दो।" जैसे हम भिखारी के सामने रोटी के टुकड़े फेंकते हैं वैसे बाबूजी भी हमें थोड़ा बहुत दे देते हैं। वह इसे पसन्द नहीं करते।

यह एक आध्यात्मिक रहस्य है कि गुरु के प्रति विश्वास न होने पर गुरु के भी हाथ बँधे होते हैं।" जिस को उस पर विश्वास नहीं गुरु उसकी सहायता कैसे कर सकता है।" ऐसी ही बात औषधि की है। यदि तुम में जीने की इच्छा न हो तो डाक्टर तुम्हें जीने में कैसे सहायता कर सकता है। तुम्हारे जीवित रहने की इच्छा डाक्टर की सहायता को सम्भव करती है। अगर तुममें जीवन का संघर्ष समाप्त है तो अन्त समझो। इसी कारण निराशा व आत्महत्या की प्रवृत्ति बुरी है और सीमा में बाँध देती है। जब हम में विश्वास है और हम गुरुदेव से प्रेम करते हैं तो हमें उनमें विश्वास हो जाता है, जैसे कि एक बालक को तुममें विश्वास होता है। तुम्हारे बालक को तुममें विश्वास है। तुम उसे ऊपर कमरे में बन्द कर क्यों नहीं छोड़ देते कि उसका कुछ भी हो। मुझे क्या ? क्योंकि वह तुम्हारा बालक है और तुम उसे

प्रेम करते हो, जब भी वह कुछ माँग लेकर तुम्हारे पास आता है" पापा मुझे लौलीपॉप चाहिए" । तुम उसकी प्रतीक्षा करते रहते हो। तुम्हारे पास पैसे हों या नहीं तुम उसे वह देते हो। उसका प्रेम व विश्वास जो तुम में है कि मुझे जो भी चाहिए वह ये देंगें। वही प्रेम तुम्हारे बटुवे को खोल देता है। अगर तुम और तुम्हारे बच्चों के बीच यह सम्बन्ध है तो 'उसके' और बालकों के बीच क्या होगा ?

आध्यात्मिकता में अभ्यास तो है ही—पर मैं अभ्यास को दिन प्रतिदिन कम महत्व देता जा रहा हूँ, "बैठो और अभ्यास करो, "और हम ध्यान करते हैं। वह कहते हैं, 'दस नियमों का पालन करो," और हम उसका अभ्यास करते हैं। वह कहते हैं, "सफाई करो" और हम सफाई करते हैं। अगर हम केवल अभ्यास से लक्ष्य तक पहुँच सकते तो हमें गुरु की कोई आवश्यकता नहीं होती। अभ्यास के विषय में तो पुस्तकों में दिया हुआ है। जैसे तुरन्त सिलाई का दर्जी का या रेडियो मकैनिक का कोर्स है—किताब खोलो, पढ़ो और सीख जाओ, बस।

इसी प्रकार अभ्यास में अगर प्रक्रिया सम्पूर्ण है और मुझे लक्ष्य तक ले जायेगी तो फिर प्रक्रिया आरम्भ करने के पश्चात् मुझे गुरु की क्या आवश्यकता है।

सहज मार्ग में आरम्भ में गुरु की सहायता अत्यावश्यक है। आगे चलने पर यह आवश्यकता बढ़ती जाती है, और अन्त में तो समग्र हो जाती है। यह एक प्रकार से विपरीत धारणा है। एक ओर तो यह व्यावहारिक पद्धति है जो प्रभावकारी है, उपयोगी है। हम राजयोग पद्धति में सहजमार्ग की प्रभावकारिता की बात करते हैं और दूसरी ओर हमारी निर्भरता गुरु के ऊपर बढ़ती जाती है जब तक वह बढ़ते बढ़ते पूर्ण निर्भरता की स्थिति तक नहीं पहुँच जाती। तो आप इन दोनों का समन्वय कैसे करेंगे ? मेरी बढ़ती हुई धारणा है कि यह प्रक्रिया हमें अनुशासित करने के लिए, हमें आज्ञाकारी बनाने के लिए दी गई है। हमारी बढ़ती हुई आज्ञाकारिता हमारा गुरु के प्रति बढ़ता हुआ प्रेम दर्शाती है। हम उनकी आज्ञा का पालन किसी अधिकारबादी प्रभुत्व के कारण नहीं करते, बल्कि हम उस वृद्ध से प्रेम करते हैं, इसलिए करते हैं। जब हम उनसे पूर्ण प्रेम करते हैं तो पूर्ण रूप से आज्ञा का पालन करते हैं।

गुरु के प्रति तुम्हारी आज्ञाकारिता का परिमाण उनके प्रति तुम्हारे प्रेम का निश्चित सूचक है। बिना आज्ञाकारिता के प्रेम नहीं हो सकता। पूर्ण

आज्ञाकारिता के पीछे पूर्ण प्रेम है और पूर्ण प्रेम के पीछे पूर्ण निर्भरता पूर्ण निर्भरता के पीछे पूर्ण समर्पण है। फिर 'वे' उस व्यक्ति के साथ क्या करें यह उनकी समस्या है क्योंकि 'वे' उसे अकेला नहीं छोड़ेंगे।

यह तरीका है ; ध्यान की प्रक्रिया हमें आकर्षित करने के लिए है और यह दिखाती है कि हमें कुछ करना है। विशेष रूप से पश्चिम में यह धारणा कि कुछ पाने के लिए हमें कुछ करना पड़ेगा हमारे मानस में ऐसी गहराई से अंकित है कि जब तक हमसे कुछ करने को न कहा जाय हम किसी पद्धति को मानते ही नहीं, विश्वास की बात छोड़ो। इस कारण कुछ करना आवश्यक है और इसके लिए है यह पद्धति—वह कहते हैं, "बैठो और ध्यान करो।" अब यह ध्यान क्या है ? इसकी परिभाषा उन्होंने दी है कि यह विचार लो कि हृदय में दिव्य प्रकाश है और फिर प्रतीक्षा करो। मेरी मान्यता है कि यह प्रक्रिया हमारे अन्दर प्रतीक्षा की क्षमता पैदा करती है, जो गुरुदेव में हमारी वर्धमान निष्ठा प्रदर्शित करती है, बाकी सब बेकार का है। अतः जितनी देर में ध्यान कर सकता हूँ जितनी देर में प्रतीक्षा कर सकता हूँ उतना ही अधिक विश्वास मुझे गुरुदेव में है और वह मेरे अन्दर बढ़ता जाता है। और अन्ततः वह इस हदतक सम्पूर्ण हो जाती है कि जब तुम उनकी याद करो उन्हें उपस्थित होना पड़ता है। सतत स्मरण के विषय में बात करना अति सरल है। जिसे आप स्मरण करते हैं उसे आपके पास होना पड़ेगा। जैसा कि मैं कहीं कह रहा था मैं अपनी पत्नी का स्मरण करता हूँ परन्तु वह मेरे पास नहीं होती। मैं अपने पुत्र का स्मरण करता हूँ वह मेरे पास नहीं होता। तो कौन ऐसा है जो मेरे स्मरण करने पर मेरे पास हो सकता है। वह एक ही समय में सर्वत्र उपस्थित रह सकता है। अब अगर ऐलन लेसरसन को पिता स्मरण करे तो उसे दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ेगा, अगर उसकी मित्र स्मरण करे तो उसे बेस्टन जाना पड़ेगा, अगर गुरुदेव स्मरण करें तो उसे शाहजहांपुर जाना पड़ेगा। इसके लिए उसे ऐसा बनना पड़ेगा जो अपने आप को अनेक भागों में बाँट सके और हर टुकड़ा पूर्ण हो।, यही ईश्वर की परिभाषा है।

अब, वह केवल ईश्वर है जिसे तुम स्मरण कर सकते हो। हम सब पूरे विश्व में कहीं भी स्मरण कर सकते हैं और वह उस स्मरण की पुकार का तुरन्त उत्तर देगा क्योंकि वह वहाँ भी है, जहाँ कहीं भी तुम हो, बैठे हो। इसी कारण ईश्वर को प्रेम करने की, गुरु को प्रेम करने की आवश्यकता है, क्योंकि नहीं तो अगर आप किसी को प्रेम करते हैं तो वह एक बार तुम्हारे

पास आ सकता है दो बार आ सकता है पर अगर वह तुम्हारे पास आये तो तुम्हारे पति से बात नहीं कर सकता, उनसे बात करें तो टेलीफोन पर बात नहीं कर कसता। वह मानवीय सीमाएं है इसलिए नहीं कि मानव सीमित है, परन्तु इसलिए कि मानव सीमाएं स्वीकार की हैं।

अब इन सीमाओं के ऊपर कैसे उठें ? गुरुदेव की भाँति बनो। बढ़ते हुए विश्वास के साथ उनसे प्रेम कर के उनपर निर्भर होकर, समर्पण करके एक दिन हम उन्हीं की भाँति हो जाते हैं, अगर तुममें इतनी क्षमता है कि याद करके तुम उन्हें अपने पास बुला सको। तब तुम्हारी क्या क्षमता होनी चाहिये। जब गुरुदेव हमें बुलाते हैं तो हम उनके पास जाते हैं, यह कोई खास बात नहीं, हम समझते हैं कि हमें कुछ करना है और उसे पूरा करते हैं। एक जनरल अपने अधीनस्थ कर्मचारी को बुलाता है तो वह उसके पास भागा जाता है "जी सर" परन्तु अगर एक कर्मचारी अपने जनरल को बुलाए और वह भागता हुआ उसके पास आए तो यह एक अजीब मामला होगा। यहां वही आश्चर्य होता है, हम गुरुदेव की याद करते हैं और वह वहां होते हैं। अब अगर आप में यह क्षमता हैकि आप के असीम प्रेम, पूर्ण निर्भरता व समर्पण के कारण जब आप उन्हें याद करते हैं और वह आकर कहते हैं, मेरे पुत्र (या पुत्री) तुम्हें क्या चाहिए ?" तो हमारे गुरुदेव के उपर हमारा क्या अधिकार होगा इसके ऊपर आप गौर से विचार करिए और फैसला करिए कि क्या वह पाने योग्य है ? क्या वह काम की है ? क्या वह मुझे किसी विशेष दिशा में ले जाती है ? अगर ईश्वर हमारे पुकारने पर हमारे पास आता है तो मुझे नहीं पता कि पाने को क्या बचा ? या बढ़ने या बनाने को क्या शेष है। यह सब बातचीत केन्द्रीय क्षेत्र, मन-क्षेत्र, व हृदय क्षेत्र की, यह सब तकनीकी है, पद्धति में हमारा विश्वास बढ़ाने के लिए। "अहा बइसमें कुछ तकनीकी व वैज्ञानिक है......." यह सब मेरे विचार में पश्चिमी बुद्धि वालों के लिए है। यही बातें सब है।

मैं कहना चाहूँगा कि हमें सदैव प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जैसे कि दो गोष्ठियों के बीच में, सुबह के सत्संग व शाम के सत्संग के बीच में, दिन और रात के बीच में। हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती है, पानी गरम होकर आलू उबलने, खाना बनने व उसके पचने के बीच। कृपया स्मरण रखिए और यह समझ लीजिए और अच्छी तरह जान लीजिए इस वास्तविक सत्य को कि जीवन प्रतीक्षा है, उन क्षणों के मध्य प्रतीक्षा जब हम कुछ पलों के लिए क्रियारत व व्यस्त होते हैं। अ गर हम उन कार्यशील क्षणों को ही जीवन

समझ लें तो हम जानवरों से भी मूर्ख हैं। इसी कारण जानवर शान्तिपूर्ण शीतनिष्क्रिय (Hibernate) स्थिति में चले जाते हैं। किसी मानव में यह क्षमता नहीं। भालू पहाड़ पर जाकर छः महीने किसी गुफा में सो जाता है और जब वसन्त आता है तो झूमता-झामता शहद या आपके पास जो कुछ है उसे ढूंढने आता है। वह अपने आप में शान्त है और यह नहीं कहता "ओह, मेरे छः महीने बेकार हो गये। अब मैं उन्हें कैसे पूरा करूँगा। यह प्रकृति का नियम है। प्रतीक्षा नियम है। कुछ पाना तुम्हारे वश में नहीं। जब हम प्रतीक्षा करते हैं—तो वह देता है।

मॉण्ट्रियल, कैनाडा

१४—१८ अगस्त १९८७

कुत्ते का जीवन

१४ अगस्त १९८७

कनाडा के भाइयों व बहनों, जो यहां स्वागत के लिए एकत्र हुए हैं उनका धन्यवाद। मैं आशा कर रहा था कि क्यूबेक के कुछ और अभ्यासी दिखाई देंगे किन्तु शायद वह कल यहां होंगे। आज मैं अपने भाई ल्यूक के प्रति प्रशंसा व्यक्त करते हुए कुछ शब्द कहना चाहूँगा। क्योंकि मुझे पता है कि यहाँ पर थोड़े से अभ्यासियों को लेकर कुछ प्रबन्ध करना कितना कठिन है। आज हमारा यहाँ होना उनके कार्य का प्रमाण है। यह आवश्यक है कि हमारी मुलाकात अक्सर हुआ करे। कम से कम प्रत्यक्षतः ऐसा ही लगता है। मेरे गुरुदेव, बाबूजी कहा करते थे कि जब हम आग जलाते हैं तो वह कुछ समय बाद बुझने लगती है, तब उसे छेड़ कर फिर से फूँकना पड़ता है। इन मुलाकातों में हम भी यही करते हैं क्योंकि समय गुजरने पर अवश्यभावी रूप में हमारा जोश व रुचि भी समाप्त होने लगते हैं। हम आशा करते हैं कि ऐसी गोष्ठी और जल्दी जल्दी करना सम्भव होगा। मैं समझ नहीं पाता कि ऐसी प्रेरणा आपके अपने ही समूह में से क्यों नहीं पैदा होती। शायद इसका कारण यह है कि जैसे लकड़ी की बुझती हुई आग व राख को फिर से सुलगाने के लिए हमें लोहे की छड़ का प्रयोग करना पड़ता है उसी प्रकार यहाँ पर भी कुछ ऐसे ही तत्व की आवश्यकता है जो उस प्रक्रिया के दौरान स्वयं न बुझ जाए। मैं बड़ी उत्सुकता से अपने स्थानीय गुटों में ऐसी सलाखों के बनने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ क्योंकि मुझे पता है कि ऐसा कच्चा माल (raw material) यहाँ है। अधिकतर लोग आगे आने में शरमाते हैं। और उनमें यह नम्रता आदि का अजीब विचार है। इस संदर्भ में याद रखिए कि मेरे गुरुदेव सदैव कहते थे कि "नम्रता की आन्तरिक प्रवृत्ति, अपने कार्य में सशक्त और गुरु में विश्वास।" हमारे कार्य में इन तीनों का संमिश्रण होना चाहिए।

नम्रता का अर्थ शरमाना या अपने आप को तुच्छ समझना नहीं है। भारत में हमें ऐसे पुराने घर मिलते हैं जिनके दरवाजे चार फुट के होते थे

और अन्दर जाने के लिए झुकना पड़ता था और उसे नम्रता माना जाता था। परन्तु मेरे गुरुदेव कहा करते थे, अगर तुम्हारे अन्दर उसमें विश्वास है, स्वयं में साहस है, काम पर भरोसा है और पूर्ण, अटल संकल्प है तो यह सब हमारे हाथ की चारों उँगलियों की भाँति काम करते हैं, पाँचवा अंगूठा स्वयं गुरुदेव है। फिर हममें प्रवृत्ति होती है कि हम अकड़कर सिर ऊँचा कर के एक अर्थ में गर्व के साथ चल सकते हैं झूठी नम्रता से झुके बगैर। और वह वास्तविक आन्तरिक नम्र प्रवृत्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है। मेरे विचार में सब धर्मों ने मिल कर हमें नम्रता का एक गलत विचार दिया है। मुझे ऐसा दिखाई नहीं देता कि एक काम करने वाला कैसे अपने आप को मिटा सकता है। वह केवल यह प्रयत्न कर सकता है कि हर कार्य को गुरुदेव का समझे, ऐसे में उसका कोई अस्तित्व नहीं। नम्रता का सार यही है कि हम जो कुछ भी कार्य करें इस चेतना में करें कि गुरुदेव कर रहे हैं, ऐसे में हमारा अस्तित्व ही नहीं, कोई अहंकार नहीं होगा, कोई गर्व नहीं होगा, "हम" कुछ भीख नहीं। अगर हम इस चेतना में कार्य करें तो हममें न अंहकार होगा न नम्रता और हम उस स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ दोनों विरोधात्मक चीजों से ऊपर उठ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं कह सकते कि वह गर्वीला है या नम्र है। वह जो है सो है, और उसके गुरुदेव ने उसे वैसा बनाया है। मैं चाहूँगा कि आप यह सोचें और गुरुदेव के कार्य के लिए आगे बढ़ें। गुरुदेव के लिए किया गया काम हमें कभी हानि नहीं पहुँचा सकता। गुरुदेव का काम, उन्हीं की स्मृति में किया गया काम, हमारे चरित्र को किसी प्रकार भी बिगाड़ नहीं सकता। गुरुदेव का काम, गुरुदेव में विश्वास रखते किया हुआ काम कभी असफल नहीं होगा। उनका कार्य जो उनके संकल्प द्वारा हमारे माध्यम से हो रहा है उसका वही परिणाम होगा जो वह चाहेंगे।

इस तरीके से हम गुरुदेव के दक्ष कार्यकर्ता बन जाते हैं और बिना इस चेतना के कि हम कुछ कर रहे हैं या कुछ पा रहे हैं, मानवता के लिए कार्य करके पूर्ण फल प्राप्त कर सकते है। मेरे विचार में इसका सबसे बड़ा फायदा है कि सफलता या असफलता का डर हम पर कोई प्रभाव नहीं डालता। क्योंकि मुझे सन्देह है कि इस आधुनिक कार्य करने के लिए आगे आने की इस आधुनिक अनिच्छा व झिझक में नम्रता का तत्व उतना नहीं होता जितना असफलता का भय होता है। यह कहने के लिए मुझे क्षमा करें परन्तु यह भय हमें रोके रखता है और यह नम्रता के एकदम विपरीत अहं है जो हमें आगे आने से रोकता है। फ्रांसीसी भाषा में अहं का अर्थ है

स्वार्थ-परन्तु यहां इसका अथा अपना महत्व प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति से है। सो आप देखें कि हम कैसे इन धारणाओं की आड़ लेते हैं। जब हम उन लोगों के पास जाते हैं जिनके पास कार्य करने की योग्यता भी है और क्षमता भी और समय भी तो, अनिवार्यतः वह यही कहते हैं "ओ चारी, मुझे क्षमा करना, इन सब में सम्मिलित होने के लिए मैं बहुत नम्र व्यक्ति हूँ।

अब आप सब ने अधिकतर ने बाबूजी को देखा है। अगर आप उनके जीवन का अध्ययन करें तो आप यह नहीं कह सकते कि वह नम्र थे या अंह-कारी थे, अकड़बाज थे या उसके विपरीत थे, मेरे विचार में उनमें यह कुछ भी नहीं था। एक चीज जो मुझे दिखाई दी वह था उनका अत्यधिक साहस जो उन्हें अपनी क्षमता से उपलब्ध था, जो उनके गुरुदेव द्वारा उन्हें दी गई थी। एक पूर्ण विश्वास अपने गुरु में, एक अटल संकल्प ; ताकि नम्र होते हुए भी, एक अति साधारण भारतीय होते हुए भी वह पश्चिम में कदम रख सके और यहाँ कई केन्द्र स्थापित किये। अगर वह अपने विषय में, सफलता के विषय में या असफलता की सम्भावना के विषय में —जो कि अत्यधिक थी सोचते तो कभी भी शाहजहाँपुर न छोड़ते। यह हमारा सौभाग्य है। हमारा अति सौभाग्य है कि उस क्षीण दुर्बल, साधारण व्यक्ति को अपने गुरु में अत्यधिक विश्वास व साहस था। इसी कारण आज हम सब यहाँ एकत्रित हैं। क्या हमें उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए ? उनकी नकल नहीं करनी चाहिए ? इस प्रयत्न से जो चीज हमें रोकती है वह है हमारी शिक्षा। हम मूर्खतापूर्ण बातें कह कर कोई जोखिम नहीं उठाना चाहते। हमारा बुद्धिमान होने का विचार हमें कोई मूर्खतापूर्ण बात कहने से रोकता है। हमारी भौतिक सफलता का विचार हमें इस क्षेत्र में असफलता का जोखिम उठाने से रोकता है। हमारे बड़प्पन का विचार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश लेकर किसी असफलता का जोखिम नहीं उठायेगा।

इसी कारण मेरे गुरुदेव बाबूजी सदैव कहते थे "सरल बनो और प्रकृति के साथ मिलकर रहो।" फिर कोई जोखिम नहीं, कोई खोने का खतरा नहीं। जो कुछ भी तुम करोगे वह वह केवल लाभ ही होगा। मेरे विचार में इसी कारण हमारी प्राचीन हिन्दू परम्परा में भिक्षु के लिए, अपने जीवन के लिए भिक्षा माँगना अनिवार्य था, लोगों से खाने के लिए भिक्षा माँगना अनिवार्य था। शायद इसका एक लक्ष्य व्यक्ति के अहं को समाप्त करना था। और दूसरा शायद उसे सिखाना था कि वह कभी असफल नहीं हो सकता क्योंकि अगर भिक्षा माँगने पर चावल का एक दाना भी मिल गया तो वह लाभ ही

था। और तीसरा कि तुम भिक्षा नहीं माँग रहे हो परन्तु अपने भगवान या गुरु के विश्वास में माँग रहे हो। क्योंकि वही देता है न कि लोग जो चारों ओर हैं। यह आवश्यक था। आपको पता है कि महान स्वामी विवेकानन्द भी इसी तरह सब ओर जाते थे। इसको परिव्राजक का जीवन कहते थे। परिव्राजक का जीवन जिसमें आप पैदल पूरे देश का भ्रमण करते हैं, जो मिल जाता है खाते हैं, पेड़ के नीचे सोते हैं, कोई लगाव नहीं। उसे कहीं भी तीन रातों से ज्यादा रुकने की आज्ञा नहीं, क्योंकि लोगों को सन्यासियों से भी लगाव हो जाता है और अगर तुम तीन दिन से ज्यादा रुको तो तुम्हें लगाव हो जाता है और उन्हें तुम से लगाव हो जाता है और जीवन फिर से इस अर्थ में निश्चित हो जाता है कि तुम्हारे पास सोने का स्थान है और हर प्रातः भोजन तुम्हारी दहर्लीज पर होता है। अगर आप इस पर गौर करें तो वास्तव में हमें यह शिक्षा दी जाती है कि जिसे निश्चय-पूर्वक पहले से कहा जा सके ऐसे जीवन के विचार को हम भूल जायें वस्तुतः हमें यह शिक्षा दी जाती है कि हम अपने अन्दर वह क्षमता उत्पन्न करें कि किसी भी अनजानी स्थिति का सामना कर सकें। और पूर्ण अज्ञात तो ईश्वर है सो यह तो अपने अस्तित्व के हर दिन हर समय में ईश्वर से सामना करनेकी तकनीक है।

आधुनिक शिक्षा ने हमें मानव से सामना करने में पूर्ण बना दिया है परन्तु इस प्रक्रिया ने हमारी ईश्वर से सामना करने की क्षमता को हटा दिया है। अब हमें इस प्रक्रिया को उल्टा करना हैं। इनसान को भूल जाओ। अपने जीवन के हर क्षण में '**उसका**' सामना करो। अब किसी का सामना कैसे करते हैं ? हम सब किसी न किसी के लिए काम करते हैं। अब जब हम कुछ ऐसा काम करते हैं जिसका हमें स्वयं खेद हो तो एक साधारण विचार आता, "मैं अपने मालिक का सामना कैसे करूँगा"? एक अर्थ में मालिक का सामना करने का डर हमारे इस बोध का परिणाम है कि मैंने अच्छा नहीं किया। जब हम ईश्वर का सामना करने से डरते हैं इसका अर्थ है कि एक मानव के रूप में मैं अधिक सफल नहीं रहा। अब शाहजहाँपुर से गुरुदेव आते हैं और कहते हैं, इस डर को हटाने का एक ही रास्ता है, वैसा जीवन जियो जैसा उसने जीने की आज्ञा दी है। उनकी सन्तान बनो, इस चेतना में जिये कि तुम उनके अंश हो और अगर तुम यह करने में सफल हो गये तो धीरे धीरे प्रगति-स्वरूप दिव्य हो जाओ। एक एक चरण करते हुए तुम दिव्य होते जाओगे और फिर अपने पिता व ईश्वर का सामना करने में कोई डर नहीं क्योंकि वह एक ही है। जैसा कि मेरे गुरुदेव ने कई बार कहा

था, इसका सबसे सरल तरीका है उसके कार्य में संलग्न हो जाओ।

उनकी शिक्षा में हम उनका कार्य करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। हर कोने पर रास्ता दिखाने के लिए वह उपस्थित होते हैं, उनकी शिक्षा से, सहायता से, प्रेम से हम उनका काम करने में सक्षम होते जाते हैं, फिर हमें पता चलता है कि कोई डर नहीं। यह उसी भाँति है जैसे सडक पर एक कुत्ता मालिक के आगे आगे भागता है परन्तु बार बार पीछे मुड़ कर मालिक को देखता है रास्ता जानने के लिये। आपने यह देखा होगा कि वह कुछ कदम ही आगे रहता है, इधर उधर देखता है, भौंकता है और दुम हिलाता है हमें भी मालिक के कुत्तों की भाँति आगे जाना है, इसमें कुछ बुरा या अवांछनीय नहीं है। कहीं लड़कियाँ यह न सोचे "यह क्या ? हमें कुत्ता बनाना चाहते हैं। (मुसकुराते हैं) (हास्य) मैं तुम्हें कुत्तों की कितनी ही कहानियाँ बता सकता हूँ। उदाहरण के तौर पर गुरुदेव स्वयं कहते थे d-o-g (कुत्ता) को उलटा कर लो तो God (ईश्वर) बन जाता है। तो हमारी प्रवृत्ति भी कुत्ते की भाँति होनी चाहिए, मालिक के प्रति प्रेम, मालिक में विश्वास और मालिक की आज्ञा का पालन। एक अभ्यासी से यही आशा की जाती है।

आपको पता है कि बाबूजी ने कहा है कि एक अभ्यासीके लिए तीन चीजें अनिवार्य हैं, गुरुदेव से प्रेम, गुरुदेव के साथ सत्संग और गुरुदेव की आज्ञा का पालन। यह सब वही है इनमें क्या फर्क है। हमें भी मालिक के एक आदर्श कुत्ते की भाँति बनना है। एक आदर्श कुत्ता केवल मालिक के खिलाने पर खाता है। कोई अनजान व्यक्ति कुछ आकर दे तो नहीं लेता। अगर मालिक कहे बैठो तो बैठ जाता है और वह कहीं चला जाए और तीन दिन बाद लौटे तो वहीं बैठा मिलेगा। जब वह कहता है "आओ" तो वह पीछे हो लेता है। वह यह नहीं पूछता तुम कहाँ जा रहे हो ? क्यों जा रहे हो ? कब लौटोगे। एक अजीव बात है, हमारी पौराणिक कथा-महाभारत में भी एक कहानी है। युद्ध समाप्त हो चुका है और पाँचों भाई स्वर्ग जा रहे हैं और केवल सब से बड़ा भाई धर्मपुत्र बचता है, धर्म का बेटा-धर्म को फ्रांसीसी में क्या कहेंगे "सदाचारिता" वह अकेला स्वर्ग की ओर जा रहा है और एक कुत्ता उसके पीछे पीछे हो लेता है। जब वह स्वर्ग के द्वार पर पहुँचता है तो द्वारपाल उससे कहता है, "तुम अन्दर आ सकते हो पर यह कुत्ता नहीं।" धर्म पुत्र उससे कहते हैं, कि "बिना कुत्ते के मैं भी नहीं अन्दर आऊँगा।" और तब आश्चर्यजनक रूप से वह कुत्ता स्वयं उनका पिता धर्म बनकर प्रकट हो जाता है, धर्म का देवता जो कि हिन्दूशास्त्र में मृत्यु का

देवता भी है। और वह अपने पुत्र की प्रशंसा करता है जो एक कुत्ते को, जो उसके पीछे हो लिया, उसको भी अकेला नहीं छोड़ता। हमारे मालिक भी ऐसे हैं, अगर हम उनके पीछे चलें तो वह हमें पीछे नहीं छोड़ सकते। सो आप देखते हैं कुत्ता बनने में बहुत फायदा है। हम सब कुत्तों को उसी कारण पसन्द करते हैं क्योंकि वह हमसे प्रेम करते हैं, बिना कुछ माँग किये। यह एक और संकेत है कि अभ्यासी गुरुदेव से बिना माँग के प्रेम करें। कुत्ता इस विश्वास में बैठा रहता है कि उसका मालिक उसे आवश्यक खाना देगा। इसकी कोई लिखित गारण्टी नहीं है। क्या हमें अपने मालिक में इससे कम विश्वास है ? हम गुरुदेव के प्रेम व महानता, उनकी दिव्यता के विषय में इतनी बातें करते हैं और जरा सी भी कुछ गड़बड़ हमारी नौकरी या पैसे या व्यवसाय में होती है, तो हम तुरन्त सहज मार्ग छोड़ देते हैं, और कहते हैं, "नहीं नहीं, आप देखिए मैंने सहज मार्ग शुरू किया और मेरे साथ सब उलटा हो रहा है।" यह बहुत दुःख की बात है, इसलिए नहीं कि ऐसे लोगों ने सहज मार्ग छोड़ दिया परन्तु इसलिए कि यह दर्शाता है कि गुरुदेव के प्रति उनकी धारणा कितनी छोटी है। जब सब कुछ ठीक है, हम स्वस्थ हैं, हमारा व्यापार लाभप्रद है, हमारी पत्नी हम से प्रेम करती है और हमारे बच्चे आज्ञा पालन करते हैं तो ठीक है। परन्तु अगर एक दिन हमारा हवाई जहाज चार घंटे शिकागो में रुक जाता है तो हम कहते हैं, "गुरुदेव कहाँ हैं ?" सो हम सचमुच कुत्ते नहीं हैं। मुझे क्षमा करिए, पर हम कुत्तों से भी कम हैं।

सो, अभ्यासियों की यह दुर्भाग्यपूर्ण दशा है, जो पद्धति की कार्यकुशलता का मूँल्यांकन इस आधार पर करते हैं कि उन्हें क्या मिलता है न कि इस बात से कि वह उनके लिए क्या करती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हम क्या पाते हैं कमाते हैं, इससे मूल्यांकन करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि भौतिक जीवन में हमारा मालिक नाप तौल कर बराबर का या उससे कुछ कम देता है और हमारा दिव्य मालिक दोनों हाथों से लुटाता है "तुम्हें जो चाहिए और जो ले सकते हो ले लो। फिर भी यह दुःखद है कि हम भौतिक मालिक को चाहते हैं और दिव्य मालिक को छोड़ देते हैं। सो आप के लिए यही संदेश है जो आपको स्वयं के लिए सदैव अवश्य ही स्मरण रखने योग्य है। जो भी शिक्षा है उसे अपने हृदय में अपने लिए ग्रहण करो। जब तक हम अपने विचार में दृढ़ नहीं होते और गुरुदेव पर निर्भर नहीं होते, तब तक हम दूसरों को कुछ नहीं सिखा सकते। यह सदैव याद रखो। मैं आशा करता हूँ

कि हम वह आन्तरिक निर्भरता, आन्तरिक विश्वास, और आन्तरिक साहस अपने अन्दर बढ़ायेंगे ताकि हम साहस के साथ उसके कार्य में आगे बढ़ते जायें, क्योंकि हम उन्हीं का कार्य कर रहे हैं। यह उन्हीं का संकल्प काम कर रहा है और जो फल उन्होंने निश्चित किया है, हो नहीं सकता कि वह प्राप्त न हो। तो तुम्हें किस चीज की चिन्ता करनी है ?

धन्यवाद।

परिवर्तन

१६ अगस्त १९८७

आज सुबह जो हमारे वक्ताओं ने कुछ बातें कही हैं मैं उन पर चर्चा करना चाहता हूँ और शायद उन्हीं के विचारों को कुछ और विस्तृत रूप में कहना चाहता हूँ। जिम ने परिवर्तन के विषय में भाषण दिया—एक बहुत अच्छी वार्ता थी। मैं इसी परिवर्तन के विचार पर पहले कुछ चर्चा करना चाहूँगा। जो मैंने जिम से कहा कि हमें जबरदस्ती परिवर्तन को नहीं लाना है परन्तु परिवर्तन की प्रतीक्षा करनी चाहिए, यह बाबूजी ने मुझे स्वयं बताया था। अब यहाँ एक समस्या आती है, एक तरफ तो हम सदैव परिवर्तन की बात करते हैं और दूसरी ओर हमें परिवर्तन की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अब सही रूप में हमसे क्या आशा की जाती है, क्योंकि सहज मार्ग में हम जो कुछ करते हैं परिवर्तन लाने के लिए ही करते हैं। एक रात कँपकपाती सर्दी में मैंने बाबूजी के कमरे में उनसे इस समस्या पर चर्चा की और जो उन्होंने परिवर्तन के विषय में कहा वह बहुत ही मोहक था। वह एक कली को फूल बनते हुए देखने की भाँति था, एक स्तर से दूसरे स्तर एक पंखुड़ी से दूसरी पंखुड़ी खुलते हुए। समझने की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह एक समेकित विचार है—वह विचार कि थोड़े से परिवर्तन के पीछे कुछ और परिवर्तन और कि कुछ और परिवर्तन, इसी भाँति और परिवर्तन जब तक हम परिवर्तनहीन स्थिति में न पहुँच जायें। इसको समझना आवश्यक है ताकि हम परिवर्तन को एक प्रक्रिया के रूप में समझ सकें। परिवर्तन एक प्रक्रिया है जो समय के घटनाक्रम में लिपटी है।

बाद में बाबूजी से और चर्चा के दौरान मैंने जाना कि परिवर्तन के भी विभिन्न स्तर हैं। एक स्तर ऐसा है जिसमें हम कुछ भी नहीं बदल सकते जैसे कि सृष्टि। हम दिन या रात की लम्बाई नहीं बदल सकते, हम ग्रहों के पथ नहीं बदल सकते, यानी कि हम प्रकृति में कुछ नहीं बदल सकते।

अब जब मैं कहता हूँ तो उसमें ईश्वर या गुरुदेव सम्लित नहीं। इस विषय पर मैं शायद बाद में बात करूँगा। जब हम अपनी कोशिश बाह्य जगत

को बदलने में करते हैं तो साधारणतः वह प्रक्रिया निष्फल होती है। जैसा कि मैंने जिम से कहा। जब हम अपने साधारण जीवन से, भौतिक जीवन से सम्बन्धित बात करते हैं तो उस में हमें जबरदस्ती परिवर्तन नहीं करना चाहिए बल्कि परिवर्तन की प्रतीक्षा करनी चाहिए। चाहे हमें कितनी ही नींद न आये, हम सुबह की प्रतीक्षा करते हैं और सुबह तो जब आना है उससे पहले तो आयेगी नहीं। इस अर्थ में हमें परिवर्तन के आने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यह भौतिक संसार से सम्बन्धित है।

आगे हम आते हैं मानसिक या मानसिक बौद्धिक संसार पर। यहाँ परिवर्तन सम्भव है। शिक्षा द्वारा यही होता है। एक व्यक्ति मूर्ख पैदा हो सकता है और यह अत्यधिक बुद्धिमान बन सकता है। यह सम्भव है। इस क्षेत्र में बहुत परिवर्तन हो सकता है। इस क्षेत्र में हमें परिवर्तन की प्रतीक्षा में बैठे नहीं रहना चाहिए। हमसे परिवर्तन लाने की आशा की जाती है। हम स्कूल जाते है ; अपने आप को शिक्षित करते हैं, अपने अध्यापकों की सहायता लेते हैं ताकि हम परिवर्तन ला सकें। अगर यह सब केवल ज्ञान अर्जन पर ही रुक जाता है तो उससे हम एक अच्छी जीविका कमा सकते हैं ; रहने का एक उच्च स्तर बना सकते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह हमें बुद्धिमान बना दे। इस ज्ञान को हमें अपने ऊपर लागू करना चाहिए ताकि वह हमारे अस्तित्व की गहराई में एक गम्भीर परिवर्तन ला सके।

जब हम आध्यात्मिक अस्तित्व पर आते हैं तो परिवर्तन अनिवार्य है। और इस परिवर्तन के लिए हमें कार्य करना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन में हम परिवर्तन की प्रतीक्षा नहीं करते परन्तु उसे जबरन लाते हैं। बाबूजी वही करते हैं। वह हमारे लिए उस लक्ष्य को आज पाना सम्भव कर देते हैं जो हम पारलौकिक जीवन के अंत में पाते। इस प्रकार हम मोटे तौर पर विस्तृत वर्गीकरण कर सकते हैं। भौतिक जगत में परिवर्तन असम्भव है। मानसिक जगत में परिवर्तन सम्भव है और उसके लिए उद्यम करना चाहिए, चाहे वह हमारे जीवन के लिए उतना अनिवार्य न भी हो। परन्तु आध्यात्मिक जगत में परिवर्तन के लिए उद्यम करना पड़ता है और अवश्य करना चाहिए। हम सदैव इसी परिवर्तन के विषय में बात करते हैं।

अब कोई पूछ सकता है कि भौतिक संसार में यह परिवर्तन कैसे होता है जब कि आप कहते हैं कि यह सम्भव नहीं। इसके दो तरीके हैं। एक भौतिक जगत में क्रियाशील प्रकृति के नियम जैसे गुरुत्वाकर्षण, प्रकाश की गति आदि। यह विज्ञान के नियम हैं जो अनिवार्यतः कार्य करते हैं। एक

दूसरी प्रक्रिया है जो हमारे संस्कारों के फलस्वरूप आती है यह भी एक साधारण व्यक्ति के नियंत्रण के परे है जो अपने परिवर्तन की प्रक्रिया के हेतु सक्रिय रूप से नहीं लगा है। हमारा सांस्कारिक खाका एक प्रकार से उस प्रोग्राम के रूप में कार्य करता है जो स्वतः ही परिवर्तन लाता है जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता। इसी कारण हम विशेष समय पर नौकरियाँ बदलते हैं। इतने परिवर्तन हमारे जीवन में होते रहते हैं, और अधिकतर वह अरुचिकर होते हैं, अरुचिकर इसलिए क्योंकि अधिकतर हम परिवर्तन नहीं चाहते। अब दो दिशाओं में हमारी अजीब मानसिक प्रवृत्ति है। एक तो हम सुरक्षा चाहते हैं जिसका अर्थ है कोई परिवर्तन नहीं। सुरक्षा क्या है ? स्थिरता। मैं उसी स्थान पर रहूँ, मेरी सम्पत्ति कम न हो, मेरी पत्नी बीमार न पड़े, हम चाहते हैं एक स्थिर परिस्थिति।

दूसरी ओर यह मानसिक प्रवृत्ति है कि हम उन्नति के विचार से परिवर्तन चाहते हैं, जैसे मैं अधिक बुद्धिमान बन जाऊँ, अधिक धनवान बन जाऊँ, समाज में मान्यता हो, आदि-आदि। अब बाबूजी ने कहा है, "यदि तुम परिवर्तनशील परिस्थिति में रह रहे हो और उसका नियंत्रण तुम्हारे संस्कार कर रहे हैं तो तुम्हारा उस पर कोई नियंत्रण नहीं। तुम वास्तव में अपने भूतकाल के गुलाम हो।" अब उसे कैसे परिवर्तित करें ? भौतिक धरातल के कार्य करके नहीं, परन्तु ऐसी उच्च शक्ति को लाकर, जो उसे प्रभावित कर सके। और वह उच्च शक्ति आध्यात्मिक प्रणाली की सफाई के अतिरिक्त और क्या है ? जब संस्कारों को हटा देते हैं तो उनकी प्रक्रिया भी बन्द हो जाती है और हमें अपने भूतकाल की गुलामी से छुटकारा मिल जाता है।

इससे एक बड़ा सत्य हमारी समझ में आ जाता है कि एक स्तर पर परिवर्तन लाने के लिए उससे उच्च स्तर की प्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है। हमें सदैव उच्च स्तर से सहायता माँगनी पड़ती है। जब तक मनुष्य साधारण स्तर पर एक साधारण स्तर से ही परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है तब तक उसका प्रयत्न निष्फल ही होगा। इस कारण हम आध्यात्मिकता के मार्ग में आने पर आध्यात्मिक गुरु को स्वीकार करते हैं और उनकी सहायता अस्तित्व के उच्चतम स्तर पर पाना चाहते हैं—किसी मध्य स्तर पर नहीं, क्योंकि उच्चतम स्तर ही, जो कुछ भी उसके नीचे है, उसमें परिवर्तन ला सकता है। और यहाँ हमारे पास वह गुरुदेव हैं जो उस उच्चतम अस्तित्व के गुरुदेव हैं। इसलिए मैंने कितने ही अवसरों पर कहा है कि वह परिवर्तन के गुरु हैं, क्योंकि उनमें वह क्षमता है कि किसी स्तर पर

भी कोई भी परिवर्तन ला सकते हैं। जब बाबूजी ने कहा था कि वह संसार को एक लट्टू की भाँति घुमा सकते हैं तो यह कोई मजाक नहीं था। न वे मजाक कर रहे थे और न ज्ञान बघार रहे थे, वे केवल वह बता रहे थे जो वह कर सकते थे। वह केवल भौतिक स्तर पर ही परिवर्तन का कार्य नहीं कर सकते थे—जैसे शायद धातुओं में कायाकल्प, मैंने कभी होते हुए तो नहीं देखा परन्तु वह कर सकते थे—वह पूरी सृष्टि के ऊपर एक इकाई के रूप में कार्य कर सकते थे।

अब अगर मानवीय क्रियाओं के विषय में अध्ययन करें तो हममें यह क्षमता है कि विज्ञान और तकनीक की सहायता से हम छोटी चीजों में परिवर्तन ला सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि अस्तित्व के भौतिक स्तर पर कुछ परिवर्तन लाने के लिए हमें मानसिक स्तर की क्रिया का उपयोग करना होता है। परन्तु उच्च स्तर हमारी पहुँच के बाहर है। अगर आप अध्ययन करें कि क्या करिश्मे किये गये हैं और विज्ञान तथा तकनीक के तत्वावधान में क्या करिश्मे हुए हैं तो समझ में आता है कि किसी एक उच्चतर स्तर का अपने से निम्नतर स्तर पर कार्य करने का यह केवल एक उदाहरण है। अब अगर हम उच्चतम स्तर से निम्न स्तरों पर कार्य करना शुरू करें तो हम और कितनी आशा कर सकते हैं ? दुर्भाग्य वश जैसे एक मधुमक्खी अपने ही एकत्र किये हुए शहद से नशे में आ जाती है वैसे ही मानव भी जो थोड़ा सा ज्ञान अर्जित करता है उसके नशे में डूब जाता है। भौतिक जगत के ऊपर उसका बहुत कम नियंत्रण है और वह नशे में झूमता है कि मैं अणु बदल सकता हूँ या आनुवंशिक खोज द्वारा सब देख सकता हूँ। यह एक बालक के खिलौनों जैसा है। एक वास्तविक व्यक्ति के लिए यह सब बचपना है। अच्छा होगा अगर पाश्चात्य बुद्धिवादी समाज इस बचपने को देख सके और आनुवंशिकी और परमाणु से खिलवाड़ करना बन्द कर दे। क्योंकि एक अर्थ में वे उन चीजों के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं जिनके विषय में वे कुछ भी नहीं समझते। और होता क्या है ? जैसे एक बालक बिल्डिंग ब्लाक्स से घर बना कर उसे तोड़ देता है, हमारा पाश्चात्य तकनीकी, वैज्ञानिक, बौद्धिक समाज अपनी ही बनाई हुई चीजों को नष्ट करने का जोखिम उठा रहा है।

अब मेरा यह सुझाव नहीं है कि हम विज्ञान और तकनीकी ज्ञान को छोड़ दें—यह मूर्खता होगी। समय की माँग क्या है ? कि हम एक उच्चतर स्तर पर उठ कर वहाँ से देखें कि हम कर क्या रहे हैं। जितना तुम ऊपर उठते हो उतना ही तुम्हारी नजर की दौड़ान बढ़ती जाती है। तुम धरती के

स्तर से देखो तो तुम्हें कुछ दिखाई देता है। जरा सा ऊपर पहली मंजिल पर चले जाओ तो और दिखाई देता है। बिल्कुल ऊपर चले जाओ तो सब दिखाई देता है। फिर भौतिक जगत में मौलिक रूप से चीजों को बदलने की क्षमता प्राप्त कर लेने पर यह आवश्यक हो जाता है कि हम अगले स्तर पर जाकर जो कुछ हम कर रहे हैं उसके परिणामों का गहरा अध्ययन करें।

एक छोटे रूप में हम सब यही कर रहे हैं। तुम्हारे सम्मुख खाने के लिए कुछ बहुत अच्छी चीज रखी जाती है। तुम उसे एक उच्चतर स्तर से देखते हो ; क्या यह अच्छा है ? क्या मैं इसे खाऊँ ? क्या यह मुझे लाभ पहुँचायेगा ? जानवर यही प्रक्रिया चाट कर और चखकर करते हैं—और कई बार चखकर परीक्षण करने की यह क्रिया उन्हें मार डालती है। यह जहर चखने के तुल्य है, यह देखने के लिए कि वह मार सकता है या नहीं। परन्तु जो उसे एक उच्चतर स्तर से देखता है कि इसमें यह चीजें शामिल है और उनसे यह समस्या है, और परिणामतः यह मुझे मार सकता है, वह उसे कभी नहीं खायेगा।

प्रयोग के विषय में अब यह एक गूढ़ तत्व है कि बिना प्रयोग करे हम कुछ नहीं जान सकते। खोज का यह एक मूल तत्व है कि तुम वही खोज सकते हो जिसके विषय में तुम्हें कुछ न ज्ञात हो। इस अर्थ में सभी खोजें, वैज्ञानिक खोजें संयोगवश भी होती हैं। कोई यह नहीं यह सकता था कि "मैं अमरीका खोजने जा रहा हूँ" और फिर उसे खोजने निकल पड़ता, या "मैं रेडियम खोजने जा रहा हूँ" और फिर खोजने निकल पड़ता क्योंकि वह प्रत्यक्ष ही शब्दों के अर्थ का विरोध होगा। जो तुम खोज चुके हो उसको कैसे खोज सकते हो। कितनी ही ऐसी वैज्ञानिक खोजें जैसे मैडम क्यूरी द्वारा रेडियम की खोज—यह सब संयोगवश हुए। उनके अन्दर वह सृजनात्मक क्षमता थी कि उस संयोग को अपने लाभ हेतु रूपान्तरित कर सकीं—जो कुछ उनके मेज की दराज के अन्दर घटित हुआ उससे कुछ नई खोज कर सकीं, जिसे हम न खोज पाते। मैडम क्यूरी में क्या मौलिकता थी जो हम में नहीं है ?एक न समाप्त होने वाली उत्सुकता थी कि यह कैसे हुआ। वह आगे चलती गईं कि यह हो नहीं सकता था, परन्तु इसका कुछ कारण अवश्य रहा होगा, और उन्होंने उस कारण को खोज निकाला।

वैज्ञानिक खोज एक संयोग के साथ-साथ एक लक्ष्यपूर्ण अन्वेषण भी है। हम उसका सामान्यीकरण करते हुए कह सकते हैं कि यह एक बौद्धिक क्रिया है।

अब जब हम आध्यात्मिक स्तर पर आते हैं तो संयोग की क्रिया से परे हो जाते हैं, संयोग का अंश उस से हट जाता है। जो गुरुदेव बात करते हैं वह संयोग नहीं, जो वह खोजते हैं वह संयोग नहीं, जो वह सृजन करते हैं वह संयोग नहीं। क्योंकि वह उस पूर्ण स्तर से कार्य क़र रहे हैं जहाँ परिवर्तन सम्भव नहीं—वह परिवर्तनहीन स्थिति है। इसलिए उनके लिए सब परिवर्तन समय की सब क्रियाओं—भूत, वर्तमान, भविष्य— द्वारा प्रकट होता केवल उसी स्तर पर कुछ संयोग नहीं, कुछ अप्रत्याशित नहीं, कुछ संकटमय नहीं ; सब कुछ सुनियोजित व इच्छित है। इस कारण हम अपने अपको ऐसे व्यक्ति जो इस स्तर पर कार्य कर रहा है के अधीन कर सकते हैं, उच्चतम व्यक्ति जो उच्चतम स्तर पर कार्य कर रहा है—जो स्वयं भी अपरिवर्तनशील है और उस परिवर्तनहीन स्थिति से कार्य कर रहा है, हम अपने आप को उस के हवाले कर देते हैं ताकि वह हमारे अन्दर वह संयोगरहित परिवर्तन ला सके।

अब यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि कई लोग सहज मार्ग आरम्भ करते हैं और जरा सा भी कुछ गड़बड़ हो जाता है तो उनकी तत्कालीन प्रतिक्रिया सहज मार्ग को दोषी ठहराने की होती है। एक व्यक्ति ध्यान आरम्भ करता है और दो सप्ताह पश्चात् उसे हृदय का दौरा पड़ जाता है और वह कहता है, "ओह यह ध्यान का असर है, देखो।" दूसरा व्यक्ति ध्यान आरम्भ करता है और तीन सप्ताह पश्चात उसकी पत्नी उसे छोड़ जाती है और वह कहता है, "सब ध्यान के कारण है।" परन्तु दुर्भाग्यवश अगर कोई ध्यान के दो सप्ताह बाद लखपति बन जाता है तो वह सोचता है यह उसकी अपनी प्रवीणता, बड़प्पन व व्यापार- कुशाग्रता का परिणाम है। और अगर उसे एक सुन्दर पत्नी मिल जाती है तो यह उसकी आँख ने खोजा और हृदय ने जीता। तो हम इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में आते हैं जहाँ कुछ भी गड़बड़ होने पर गुरु को व पद्धति को दोषी ठहराते हैं। जब कुछ अच्छा होता है तो गुरु व पद्धति भूल जाता है और उसको कोई श्रेय नहीं। ऐसी परिस्थिति में आप यह कैसे कह सकते हैं कि आप शिष्य या अभ्यासी हैं।

हमें उच्चतर पहलू के भी विषय में सोचना चाहिए। अगर सहज मार्ग में आने के पश्चात मुझमें परिवर्तन आ रहे हैं तो क्या मैं इसीलिए उनके पास नहीं आया था। अगर मैं यह भविष्यवाणी कर सकता कि मुझमें क्या परिवर्तन होंगे तो मुझे गुरु की क्या आवश्यकता थी। जब हम बीमार होते हैं तो डाक्टर

के पास जाते हैं। वह हमें दवा देता है। हो सकता है कि बुखार बढ़ जाये, पेट ज्यादा खराब हो जाये। जब हम डाक्टर को फोन करते हैं तो वह कहता है, "कोई बात नहीं मुझे पता है मैंने क्या दवा दी है और उससे क्या होना चाहिए, धैर्य से प्रतीक्षा करो। किन्तु गुरुदेव के साथ हम ऐसा नहीं करते। बल्कि, हम तुरन्त जादू-टोना, मन्दिर या ईसा मसीह की ओर रुख कर लेते हैं और मौका निकल जाता है।

तो आप देखते हैं कि यह आवश्यक है कि हम इस उलटफेर को समझें। जब हम स्वयं भौतिक जगत में कार्य करते हैं तो काफी हद तक हम बता सकते हैं कि क्या होगा। आधुनिक विज्ञान व तकनीक द्वारा यह और भी विश्वसनीय हो जाता है। जब हम मानसिक स्तर पर कार्य करते हैं तो यह सम्भावना कम हो जाती है। और इसी में उसका आकर्षण है। उदाहरण स्वरूप, मीमांसात्मक दर्शन या विज्ञान का सम्मोहन इस बात का पता लगाने में है कि आखिर मेरा मानस मुझे कहाँ तक ले जा सकता है जिसका मुझे अभी तक ज्ञान नहीं है। हम उस क्षेत्र में काम कर रहे हैं जहाँ अधिक नियंत्रण नहीं—इस अर्थ में कि हमें नहीं पता कि वह कहाँ पहुँचेगा।

आध्यात्मिकता के उच्चतम स्तर पर बिना कुछ जाने हमारा काम चल सकता है। कार्य करना हमारा काम है और जानना उसका। जब हम इस परिस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं और गुरुदेव से कहते हैं, "जो तुमने कहा था मैं वह कर रहा हूँ और बाकी तुम जानों," तो वह समर्पण है—समर्पण का एक ढंग। यह परिवर्तन का विचार दूरगामी है। हमें जीवन के विभिन्न परिवर्तन- स्तरों के नियमों को समझना चाहिए। एक स्तर पर प्रकृति के नियम दृढ़ व परिवर्तनहीन हैं, उच्चतम स्तर पर प्रकृति का कोई कार्य नहीं, सब नियंत्रण '**उसके**' हाथ में है, और बीच की स्थितियों में अनेक सम्भावनाएँ हैं—कुछ परिवर्तनशील, कुछ परिवर्तनहीन। और अगर हम इस विचार के नशे में फँस जायें कि "मैंने यह किया है इसलिए मैं इस परिस्थिति का मालिक हूँ ; मैं जो कुछ चाहूँ कर सकता हूँ ;" इनमें से पहले दो तो चल भी सकते हैं परन्तु यह विचार कि मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ विनाशकारी है। यह अहंवादिता को उसके सबसे रद्दी क्रियाशील स्तर पर गरिमामण्डित करना है।

हमें जीवन के इन भिन्न स्तरों को मिलाना नहीं चाहिए क्योंकि लोग इनको मनमाने ढंग से लागू करते हैं। अगर वहाँ परिवर्तन हो सकता है तो यहाँ क्यों नहीं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिकता में हम

अस्तित्व के निम्नतम से उच्चतम तक विभिन्न स्तरों पर बात कर रहे हैं।

दूसरी बात जो हमें समझनी है वह यह कि मध्य स्तर से हम निम्न स्तरों का नियंत्रण कर सकते हैं परन्तु उससे उच्चतर का नहीं। अगर तुम पूर्ण नियंत्रण व निश्चितता चाहते हो, पूर्ण नियंत्रण तथा मार्गदर्शन चाहते हो तो तुम्हें उच्चतम स्तर तक जाना होगा। अब यह आध्यात्मिकता का आकर्षण है कि भौतिक व मानसिक परिवर्तन लाने के लिए भी हमें आध्यात्मिकता में जाना पड़ता है।

यही मेरे गुरुदेव जैसे व्यक्ति के विषय में समझा जा सकता है। शारीरिक रूप से कुछ भी न होते हुए वे सब कुछ थे। आप ने विरोधी तत्वों को उनमें एकसाथ देखा है—सदैव बीमार—पर हमेशा स्वस्थ। हमेशा गरीब परन्तु सदैव अमीर, कोई शक्ति नहीं परन्तु सर्वशक्तिमान। हम इसकी व्याख्या कैसे कर सकते हैं ? मानसिक स्तर पर अधिक शिक्षित नहीं परन्तु सर्व बुद्धिमान। मैंने कभी भी उनको किसी प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ नहीं पाया चाहे वह अत्यधिक वैज्ञानिक व तकनीकी ही क्यों न हो। वह भौतिक जगत के भी गुरु थे, मैंने उन्हें २५-३० वर्ष की बीमारी से ग्रस्त व्यक्तियों की बीमारी भी ठीक करते देखा है, केवल उनकी ओर देखने मात्र से। वह मानसिक व बौद्धिक स्तर पर भी गुरु थे क्योंकि वह जड़ वस्तु में झाँक सकते थे, उसका सृजन कर सकते थे, उससे ऊपर जा सकते थे ; जबकि बड़े-बड़े वैज्ञानिक जो अब तक पैदा हुए हैं, जड़ वस्तु के विषय में केवल थोड़ी दूर तक जा सकते थे—जैसे एक संतरे का छिलका छूने के बराबर।

आध्यात्मिकता के गुरु तो वह थे ही। इससे उनका पूर्ण गुरुत्व समझ में आ जाता है। यही उनका सम्मोहन था कि उनमें सारे विरोधी तत्व एकसाथ थे। शारीरिक कमजोरी, अदम्य शक्ति ; सांसारिक गरीबी, पूर्ण धनाढ्यता, कोई शिक्षा नहीं परन्तु पूर्ण बुद्धिमत्ता, पूर्ण उपेक्षणीय व्यक्ति जिसकी ओर शायद आप दोबारा न देखें—और वह उच्चतम व्यक्तित्व थे जो इस संसार में जन्मे।

अब हमारे साधारण जीवन में क्या होता है ? हम एक चीज रखना चाहते हैं परन्तु दूसरी को फेंक देना चाहते हैं। हम बीमारी हटा कर केवल स्वास्थ्य चाहते हैं ; गरीबी हटाकर केवल अमीरी चाहते हैं। नियम कहता है कि यह विरोधी हैं जो सदैव साथ रहते हैं। रोशनी और अँधेरा, स्वास्थ्य और बीमारी, मूर्खता और बुद्धिमत्ता, गुण व अवगुण, वे एक ही सिक्के के दो

पहलू हैं। तुम एक को रख कर दूसरे को हटा नहीं सकते। वह निरर्थक प्रकिया होगी। तुम गुरुदेव के पास जाकर कहते हो, "बाबूजी मुझे यह चाहिए पर यह नहीं" वह करुणा के साथ मुसकुराते हैं परन्तु कोई उत्तर नहीं देते क्योंकि वह जानते हैं कि यह असम्भव है—उनके लिए भी। पर वे आपके लिए वह कर सकते हैं जो उन्होंने अपने लिए किया है। इन परस्पर दूरस्थ, विरोधी तत्वों को अधिकाधिक पास ला सकते हैं ता कि तुम्हारे अन्तःकरण में वे संतुलित और एक हो कर मिल जायें। अब वह तुम्हारे अन्दर हैं और बाहर तुम्हें दुःखी नहीं कर सकते। जैसे परमाणु के अन्दर एक नाभिक होता है और उसके चारों ओर चक्कर काटते इलेक्ट्रान होते हैं, वैसे ही उनके भीतर एक शक्ति का नाभिक जिसके साथ शायद बीमारी के विद्युदणु भी हैं। आपको पता है कि वह क्या चीज है जो इन इलेक्ट्रानों को केन्द्र के इर्द-गिर्द घूमाती रहती है, उनकी ध्रुवता में अन्तर। जब आप उन्हें अपने अन्दर मिला लेते हैं यह स्वीकार करते हुए कि जीवन में दो विरोधी तत्व होते हैं—उनसे अपने से बाहर निपटने की आवश्यकता नहीं। जैसे बाहर से अपना कूड़ादान साफ करना या गुसलखाना साफ करना, सुन्दर कपड़े पहनना इसका हल नहीं। क्योंकि एक तुम्हारे अन्दर है और दूसरा तुम्हारे बाहर। जब आप यह स्वीकार कर लेते हैं कि वे सदैव अटल रूप में एकसाथ रहेंगे तो आप कहते हैं, "आओ मेरे अन्दर आओ," और उन्हें अपने में समेट लेते हैं। वह आपस में लिपटे रहते हैं और मुझे कोई कष्ट नहीं देते। मेरा स्वस्थ्य और बीमारी मेरे ही अन्दर है परन्तु मैं दोनों से मुक्त हूँ। मेरी पूर्ण अमीरी, गरीबी के कुछ इलेक्ट्रानों के साथ, मेरे में विद्यमान हैं और मैं दोनों से मुक्त हूँ। इसी कारण उन्हें गुरु कहते हैं क्योंकि उन्होंने सब विरोधी तत्वों को समेट कर अपने में जज्ब कर लिया है और उन्हें निष्क्रिय कर दिया है। उन्हें नकारते हुए नहीं—बीमारी को नकारते हुए, मूर्खता, गरीबी आदि को नकारते हुए नहीं। परन्तु एक महान संश्लेषण में सब स्वीकार करते हुए, और उनको समन्वित करने का कार्य मालिक पर छोड़ देते हैं और वह ऐसे हानिरहित अणु हो जाते हैं जो चारों ओर हैं और अपना-अपना काम करते हैं और मैं जीवित रहता हूँ।

मुझे नहीं पता कि मेरे अन्दर परमाणुओं में क्या हो रहा है, हो सकता है मेरे विद्युदणु अपनी कक्षा बदल रहे हैं, पर मुझे क्या फरक पड़ता है। हो सकता है रेडियम का एक अणु प्लूटोनियम का अणु बन गया हो, उससे मुझे क्या फरक पड़ता है। क्योंकि सब कुछ मेरे अन्दर निहित है इसलिए मुझे

किसी चीज से फरक नहीं पड़ता। अगर एक अणु मेरे अन्दर फट भी जाए तो उतना ही असर होगा जितना सृष्टि में एक बड़े तारे के टूटने से होगा जो उसी में है। हमारे कष्ट दूर हो सकते हैं प्रसन्नता स्वीकार की जा सकती है, केवल तब जब हम दोनों का निषेध कर देते हैं ; दोनों को स्वीकार करते हैं और दोनों को अपने में समेट कर भूल जाते हैं। यह समर्पण का एक दूसरा पहलू है।

परिवर्तन के विषय में मैं यही चर्चा करना चाहता था। क्षमा कीजिए मैंने ज्यादा समय ले लिया (हास्य)। यह सिद्ध करता है कि परिवर्तन में समय लगता है। (हास्य)।

कैनाडा के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की बैठक में भाषण

१६ अगस्त १९८७

यह कोई भाषण नहीं होगा, केवल कुछ टिप्पणियाँ होंगी। बहुत पहले जब मै एक छोटा लड़का था तो एक चीज मेरे ध्यान में आई जो कि अति साधारण है। मेरे पिताजी के कई सहयोगी जमीन खरीदते थे, छोटी सम्पत्ति हो या बड़ी, बच्चे उन पर खेला करते थे। चाहे वह दस एकड़ या हेक्टर भी हो, उस के चारों ओर भागने में कोई झंझट नहीं होती थी। सव कुछ खुला और अच्छा था, कोई डर नहीं था और न ही कोई फरक था कि कौन सा टुकड़ा किसका है। पर जैसे ही कुछ घर बनने शुरू हुए वह मेरा घर, तेरा घर, उस का घर बन गया और बच्चों में एक अन्तर्बाधा पैदा हो गई कि इस घर में जा सकते हैं, इस में नहीं, और परिणामस्वरूप मित्रता, बैर आदि पैदा होने लगा। और भी आश्चर्यजनक है कि एक ही घर में बच्चा एक कमरे में आयेगा और दूसरे में नहीं। एक और रहस्यमय, जिज्ञासामय व आश्चर्यजनक बात है कि अगर अन्धेरा हो तो उसमें जाने के लिए मोमबत्ती की आवश्यकता होती है। जब वही जगह खुली थी तो कोई अलगाव या डर नहीं था। जैसे ही हम उस को बन्द कर के कमरों में विभाजित कर देते हैं उस में एक स्वामित्व की भावना ही नहीं, उससे सम्बन्धित अमैत्री और डर की भावना भी आ जाती है।

मेरी चिन्ता है कि मिशन में ऐसा न हो। हम अक्सर सुनते हैं अमरीकन मिशन, कैनाडा का मिशन, भारतीय मिशन, क्योंकि कानूनी तौर पर वे अपने अपने देश में अलग इकाईयाँ हैं। वह नियम की पूर्ति व मिशन की पूर्ति के लिए हैं। परन्तु यह बहुत महत्वपूर्ण है कि इस कानूनी विच्छेद के कारण सदस्यों में कोई अलगाव न आए। अलग अलग भाषा, धर्म, संस्कृति व परम्परा को लेकर पहले ही काफी समस्याएँ हैं। सदस्यों में अब इस कारण अलगाव नहीं आना चाहिए कि मैं कैनेडियन मिशन का हूँ, तुम अमरीकन मिशन के या फ्रॉंसीसी मिशन के हो, आदि आदि। सो घर बनाने की यह

समस्या है। हमें सुरक्षा तो मिलती है परन्तु एकता व सद्भावना के बलिदान से।

अब हमारे लिए एक खतरा है। हम ने गत काल में इसे कैनेडा में मिशन में देखा है जब दूसरे देश के कुछ लोगों ने यहाँ हक जताना शुरू कर दिया क्योंकि वे वही भाषा बोलते थे जो कि यहाँ के देशवासी बोलते हैं। अब यह भाषा के आधार पर धावा करने के तुल्य होगा। हम जो मिशन के सदस्य हैं उनमें यह सब फूट न डाल सकें। हम तो एकता, भाईचारे व एकीकरण की बात कर रहे हैं, केवल कैनेडियन भाईचारे की नहीं जिसमें फ्रॉसीसी रहें और अंग्रेजी बोलने वाले कैनेडियन अंग्रेज रहें, परन्तु जहाँ सम्पूर्ण मानवता इकाई हो। जैसा डॉन ने कहा, याद रखिए हमारी सांसारिक धर्म सम्बन्धी जो समस्याएँ हैं, उनसे हमारी आध्यात्मिक एकता में अलगाव नहीं आना चाहिए। हमारी एकता व सद्भावना को ठेस नहीं लगनी चाहिए। सो एक अर्थ में हमें बिना दीवारों के घर बनाना है। यह कैसे सम्भव होगा तुम्हें ढूढ़ना है।

मैं यह कहने को बाध्य हूँ (मुसकराते हैं) क्योंकि जब हमने यूरोप में आश्रम की बात चलाई तो कितनी समस्यायें उठ खड़ी हुईं आप जानते हैं। फौरन हर एक देश वाले चाहने लगे कि वह उनके देश में बने।
अब इस प्रकार की समस्या को मिशन में बिलकुल प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। ऐसी चीजें जो हमें विभाजित करती हैं, उनके बजाय तो मैं आम सड़क पर बैठ कर ध्यान कर लूँगा। तो कृपया यह बात ध्यान में रखिये कि आप सब जो विभिन्न देशों, विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं व परिस्थितियों से यहाँ आये है, सहज मार्ग में हम केवल इस लक्ष्य को समर्पित हैं कि मानव से मानव का व्यवहार करो और उसे एक दिव्य मानव बनने में सहायता दो। इस उद्देश्य में कुछ भी बाधक नहीं होना चाहिए।

कृपया अपनी भाषा व दूसरे भेदों को भूल कर उन आदर्शों तक पहुँचने का प्रयास करिये जिनकी हम बार बार बात करते हैं-कि सहज मार्ग सबका स्वागत करता है चाहे वह किसी भी रंग, जाति व लिंग का हो। केवल अध्यक्ष व प्रशिक्षकों का यह कहना काफी नहीं। अभ्यासियों को अपने आप में यह अनुभव करना चाहिए और उनके व्यवहार में यह दिखाई भी देना चाहिए। मैं उस दिन का स्वप्न भी देखता हूँ जब कोई मजाक में ही कहे, "सब फ्रांसीसी भाषा बोलने वाले अभ्यासी अपना हाथ उठायें," और कोई हाथ न उठे। क्योंकि हम गुरुदेव के स्मरण की चेतना में ऐसे डूबे हों, कि

अपनी भाषा, अपनी राष्ट्रीयता, यहाँ तक की अपना अस्तित्व भी भूल गये हो। यह हमारी प्रगति व विकास की सच्ची परीक्षा होगी। इसी उद्देश्य के लिए गुरुदेव ने इस मिशन का निर्माण किया है और इसी उद्देश्य के लिए अध्यक्ष, सचिव, सह सचिव, प्रशिक्षक सब को कार्य करना है। और यही सब अभ्यासियों को तलाश करना है—पाना है, और संभाले रखना है। कई बार जब हम मिशन में आते हैं तो बहुत महान और पवित्र विचार लेकर आते हैं परन्तु जैसे परमाणु अवकिरण होता है, वैसे ही हमारे आर्दशों में भी विकृति या अवकिरण आ जाता है। कैनेडियन फिर कैनेडियन बन जाते हैं, अमरीकन फिर अमरीकन बन जाते हैं। फिर कैनेडियन पुनः दो में विभाजित हो जाते हैं— फ्राँसीसी अँग्रेज। यह वैसे है जैसे कि अमीबा अपने आप को अलग अलग भागों में विभाजित कर सकता है। एकीकरण विखण्डन व विभाजन के लिए होता है। तुम्हें पता है कि हर कोशिका दो भागों में विभाजित होती है। यहाँ हम एकीकरण उस एकीकरण को बनाए रखने के लिए करते हैं। जब तक पूरी मानवता एक नहीं हो जाती है हम यह नहीं कह सकते कि सहज मार्ग का उद्देश्य या मेरे गुरुदेव का सपना पूरा हुआ।

मेरी आप सब से गम्भीर प्रार्थना है कि सांसारिक चीजों का काम अपने आप हो जायेगा, उसके लिए सरकार है और हम उनके प्रति अपना दायित्व निभाते हैं। परन्तु आप अपने आध्यात्मिक स्तर पर रहिए। जैसे पासपोर्ट है, मेरे पास भारत का, किसी और के पास जर्मनी का-यह हमारे एक साथ सफर करने में बाधक नहीं। एक अर्थ में हमारे अस्तित्व की पहचान उस पासपोर्ट की भाँति है, एक सुरक्षात्मक यंत्र जो एक छोटे भूमि के टुकड़े को घुसपैठ से बचाता है। आज हर देश आपने आप को बचाने का प्रयत्न कर रहा है। इसी कारण यह सब-,जैसे कि रात को चोरी के डर से एक आदमी अपने घर की खिड़कियों, दरवाजों में ताला बन्द करता है-पासपोर्ट, वीजा, आवास आदि की रुकावटें हैं। विभिन्न देशों का अपनी सीमाओं को बन्द करना, इस डर से कि उन की सम्पत्ति बाहर न जाए। यह देखते हुए कि आज संसार में क्या हो रहा है, सब से शक्तिशाली सरकारें इन चीजों में सब से सख्त कदम उठा रही हैं। इन सब से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि प्रगति हमारे अन्दर भय पैदा करती है।

जितना तुम्हारे पास अधिक होगा उतना ही तुम्हें चोरी का डर होगा। इसी कारण सब से धनवान देश के सुरक्षा-नियन्त्रण सब से सख्त हैं। मुझे साधारणतः यह कहना नहीं चाहिए और न ही इस में कोई राजनीतिक

आलोचना का इरादा है, परन्तु वह मानवता के विरुद्ध पाप कर रहे हैं क्योंकि ईश्वर ने अरब में तेल केवल अरबी लोगों के लिए नहीं पैदा किया या मेपल सिरप कैनेडा में केवल उनके लिए, या आम भारत में केवल भारतीयों के मजे के लिए पैदा नहीं किये। हमारे साधारण मानवीय सम्पर्क में शक्तिवान से अपेक्षा की जाती है कि वह कमजोर की सहायता करें, नेत्रवान से अपेक्षा की जाती है कि वह नेत्रहीन को रास्ता दिखाएँ, जिन के पास भोजन है उन्हें चाहिए कि जिनके पास नहीं है उन्हें दें। बुद्धिमान को चाहिए कि जिसके पास शिक्षा या बुद्धिमत्ता नहीं उसे सिखायें। और एक आध्यात्मिक गुरु से अपेक्षा की जाती है कि हो सके तो एक पापी को भी उठा कर उच्चतम स्तर के सन्तपन तक पहुँचायें। तअगर मैं इसे साधारण मानवीय नियम कहूँ तो यह गलत नहीं होगा। और इस मानवीय नियम का उल्लंघन आज सारी सरकारें कर रही हैं। अब मैं यह सब इसलिए कह रहा हूँ कि हम, इन ऐसे देशों के देशवासी, इस फन्दे में न पड़ें। सरकार को अपना उद्देश्य पूरा करना है, वह करे। इस से हमारे रिश्तों में रुकावट नहीं आनी चाहिए। हम एक दूसरे के साथ अपना उपहार बाँट सकते हैं। अपनी खुशी, अपनी प्रगति, अपना आध्यात्मिक-भाईचारा व प्रेम बाँट सकते हैं। यह आज भी सम्भव है और अगर हम इस का प्रयोग करें तो यह भविष्य के लिये एक आश्वासन भी है।

इस सब का प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह निकलता है कि इस राजनीतिक, जातीय व आर्थिक घृणा व हिंसा का अंत तभी हो सकता है जब सब मानव प्रेम व भाईचारे की भावना में एक हो जायें। अगर मानवता की उन्नति व विकास की किसी भी स्थिति पर हमें यह सदैव वांछित लक्ष्य पाना है कि पूरे ग्रह पर एक सरकार, एक अनुशासन हो तो वह केवल मानवीय एकीकरण से हो सकता है ; जब सब अपने रंग, जाति व भाषा आदि के भेद भूल कर एक इकाई के रूप, में इस पृथ्वी पर दिखाई दें। यह हमारे मानवीय भाईचारे का अन्तिम लक्ष्य है और ये छोटे-छोटे समुदाय जो हम जगह-जगह बनाते हैं नाभिक हैं। किन्तु इन विभिन्न नाभिकों को परस्पर निकट आना और फैलते जाना चाहिये जबतक कि वे इस पूरी पृथ्वी को छेंक न लें।

तो हम दो उद्देश्यों से काम कर रहे हैं-एक तो अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लक्ष्य को ले कर, ताकि हम आध्यात्मिक प्रगति के चरमतम सम्भव स्तर तक पहुँच सकें और दूसरे पूरी मानवता को एक करने की सम्भावना से। पहली के विषय में हम सब समझते हैं, जानते हैं, सराहना करते हैं और

उसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु अपने आप को केवल पहले तक सीमित करके और दूसरे को भुला कर हम अपने हित के विरुद्ध कार्य करते हैं। कृपया ध्यान रखिये कि आध्यात्मिक नियम आपको अपने कार्य तब तक में उस समग्र सम्भावना तक नहीं पहुँचने देगा जब तक आप मानवता को अपने दोनों बाहों में समेटकर गले नहीं लगा लेते। आप छोटी-मोटी उन्नति पा सकते हैं परन्तु उच्चतम नहीं। मैं आशा करता हूँ कि आप सब इस लक्ष्य के लिए कार्य करेंगे और मैं मालिक से प्रार्थना करता हूँ कि आप के प्रयत्नों को आशीर्वाद दें।

यदि आवश्यक हो

१७ अगस्त १९८७

मैंने परिवर्तन के विषय में कल जो कहा था उसमें कुछ और जोड़ना चाहूँगा। हमने देखा था कि भौतिक स्तर पर परिवर्तन कैसे लगभग असम्भव है, बौद्धिक व मानसिक स्तर पर वह उससे सरल है, और एक योग्य गुरु मिलने पर आध्यात्मिक स्तर पर यह परिवर्तन बहुत सरल हो जाता है।

यह कैसे सम्भव है, इस पर कई प्रश्न उठे हैं। अब आप में से कई लोगों ने मेरे गुरुदेव, बाबूजी महाराज को देखा है, मैंने कई बार दोहराया है कि बाह्य रूप से वह कुछ भी नहीं थे। हम सब जानते हैं कि शारीरिक रूप से वह कितने कमजोर थे, सदैव स्वास्थ और बीमारी की सीमा रेखा पर, और ऐसे कि एक मक्खी भी न मार पाते। इसी भाँति शिक्षा सम्बन्धी कुछ भी अधिक कहने लायक नहीं, उन्होंने शायद स्कूल की पढ़ाई भी पूरी समाप्त नहीं की थी। धन उनके पास अधिक नहीं था। मेरे विचार में अवकाश ग्रहण करने के बाद उनकी पेंशन लगभग १३५ रू० प्रति माह थी। फिर भी हम उन्हें गुरुदेव कहते हैं, और उन्हं गुरु के रूप में स्वीकार किया। हममें से कई लोगों को इस विषय में व्यक्तिगत अनुभव भी हुए कि वह क्या कर सकते हैं और वह केवल आध्यात्मिक जगत के अनुभव ही नहीं थे।

मेरे पास व्यक्तिगत उदाहरण हैं कि कैसे वह व्यक्ति में शारीरिक परिवर्तन भी ला सकते थे जैसे न ठीक होने वाली बीमारी को ठीक करना। इसका सबसे सम्मोहक उदाहरण एक स्त्री अभ्यासी का है जिसका मुँह सदैव खुला रहता था। उसके अभ्यासी बनने के पश्चात उसके पति उसे बाबूजी के पास लेकर आए और किसी विचित्र तरीके से उन्होंने उसे ठीक कर दिया। हाँ उन्होंने कुछ अगड़म-बगड़म अवश्य किया। उसे खड़ा कर के सर से पाँव तक सुतली से नापा और फिर उसे अपनी उँगली के गिर्द पहनने को कहा और उसका जबड़ा अपनी जगह सही बैठ गया।

अब उस सुतली या नापने का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था। नहीं तो आप और मैं भी यह सब कर लें।इसी भाँति मेरे सामने भाई डान साबूरियन

बैठे हैं। हम योरोप से भारत वापिस आए थे और फिर बाबूजी मेरे साथ मद्रास होकर दिल्ली वापिस आए। वहाँ उन्होंने बिना किसी के जाने, बिना किसी की नजर में आए, न भूलने वाला-क्योंकि कुछ भूलने लायक था ही वहीं-चमत्कार किया। बाबूजी लॉन में बैठे थे और वहाँ एक बड़ा स्टैन्ड वाला पंखा था। डॉन ने उसको पकड़ा और उसक एक बड़ा झटका लगा, उसे भी विश्वास है और मुझे भी विश्वास है कि वह समाप्त हो गया था। उसी दिन सायंकाल उसे कैनाडा वापिस जाना था। जैसे कि आप देख रहे हैं वह चेहरे पर एक चौड़ी मुसकुराहट लिए सामने बैठे हैं।

अब ईसामसीह द्वारा लाजरस को जीवित करने के विषय में कितनी चर्चा की जाती है। परन्तु हम इन चमत्कारों का विज्ञापन नहीं करते और वह समय की धारा में कहीं खो जाते हैं। बहुत कम लोगों को इनका ज्ञान है और उससे भी कम इस विषय में चर्चा करते हैं क्योंकि सहज मार्ग में हम इन चमत्कारों के विषय में चर्चा नहीं करना चाहते—इस कारण कि फिर लोग आध्यात्मिकता के लिए नहीं परन्तु चमत्कारों के लिए आने लगते हैं।

मैं आपको एक और घटना बता सकता हूँ जब एक और व्यक्ति बाबूजी से मिलने शाहजहाँपुर आया और वह घर में ताला नहीं लगा कर आया। वह तीन दिन के लिए आया था। परन्तु १२, १३ दिन रुक गया। उसने और रुकने की बाबूजी से इजाजत माँगी तो बाबूजी मुसकुराये और बोले, "आप मैसूर से आ रहे हैं न ?" (जो कि शाहजहाँपुर से २५00 किलोमीटर है) अभ्यासी ने कहा "जी, गुरुदेव।" जब उन्होंने कहा," मैं आप से प्रार्थना करूँगा कि आप आज चले जाइये। आप अपना घर खुला छोड़ आए हैं और मैंने १४ दिन तक उसकी रखवाली की है। अब और नहीं कर सकता।" और निश्चित रूप से जब वह वापिस गया तो उसने देखा कि उसने दरवाजा तो बन्द किया था, कुन्डी भी लगाई परन्तु ताला कुण्डे के ऊपर लगाने के बजाय नीचे लगा दिया था ।

इन सबसे पता चलता है कि उनकी क्या दृष्टि थी। एक अभ्यासी २५00 किलोमीटर से आता है, और वे शाहजहाँपुर में बैठकर केवल उस अभ्यासी को ही नहीं देखते परन्तु उसके घर को भी देख सकते हैं कि वह बन्द है या नहीं। जब वह मद्रास आते और मेरे घर में रहते, अचानक पचास, साठ, अस्सी लोग बिना बताए किसी भी स मय आ जाते, और हैरानी की बात यह है कि घर में कुछ न होने पर भी हम उन सब को खिला पाते और मैं यथार्थ बयान कर रहा हूँ। यह मजाक नहीं है कि हमारे पास दो

रोटी और पाँच भेली गुड़ हो और हम उससे पूरी भीड़ को भोजन करा सकते थे। यह सब इस बात का प्रमाण है कि वह भौतिक जगत के साथ भी अपने छोटे कम्प्यूटर के खेल खेल सकते थे। अगर आप भौतिकता में रुचि रखते हैं। तो वह तो समाप्त हो चुका।

अब मानसिक व बौद्धिक क्षेत्र में भी मैंने लोगों को उनके पास अपने बच्चों की पढ़ाई सम्बन्धी समस्या लेकर आते देखा है। वह केवल कहते, "फिकर मत करें," और बच्चा बौद्धिक प्रतिभा में खिल जाता। दूसरों से अधिक मैं अपने बारे में कह सकता हूँ। जब मैं १९६७ में गुरुदेव के पास आया (सिर की ओर इशारा कर) मेरे यहाँ कुछ नहीं था, ऐसा नहीं कि आज कुछ है। मैं बोल नहीं पाता था। आश्चर्य की बात है कि १९६७ में मुझे यूरोप आना था, उन्होंने कुछ समय पहले ही मुझे प्रशिक्षक बनाया था उन्होंने मुझसे कहा," जब तुम यूरोप जाओगे तो वहाँ के लोग बुद्धिवादी हैं, वे तुमसे प्राणाहुति नहीं माँगेंगे बल्कि तुम पर प्रश्नों की बौछार करेंगे और चाहेंगे कि तुम घंटों बोलो, तुमसे वार्तालाप या भाषण सुनना चाहेंगे। क्या तुमने कभी जनता के समक्ष कुछ कहा है ?" मैंने उनसे कहा, "वही एक ऐसी चीज है जो मैं नहीं कर सकता।" उन्होंने मुसकुराते हुए कहा, "देखो मैं तुमसे कह रहा हूँ कि यह आवश्यक है कि तुम बोलो। इस बार जब तुम मद्रास जाओ तो सत्संग में कुछ बोलो क्योंकि वे तुम्हारे भाई बहन हैं, तुम उनके सामने घबराओगे नहीं।"

आप तो जानते ही हैं कि जब लोगों के समक्ष बोलना पड़ता है तो लगता है कि सब तुम्हारे खिलाफ हैं, आलोचनात्मक दृष्टि से देख रहे हैं। ऐसे में बिना घबराहट के बोलना असम्भव हो जाता है चाहे वह अपने ही भाई बहन क्यों न हों। अब यूरोप जाने के पूर्व मेरे पास चार रविवार थे। पहले रविवार तो मैंने प्रयत्न ही नहीं किया। सोचा यह बुढ़ऊ तो हवा में बातें कर रहे हैं, मैं कैसे बोल सकता हूँ। दूसरे रविवार मैं अपने को अपराधी अनुभव कर रहा था। मैं इरादा कर के गया था कि बोलूँगा परन्तु मेरा साहस नहीं हुआ और सत्संग समाप्त होने पर मैं उठा और घर चला आया। तीसरे रविवार मैं दृढ़ निश्चय कर के गया। बिना बताए, बिना किसी अग्रिम सूचना के, मैं बोलने के इरादे से खड़ा हुआ। सहसा मेरा मुँह सूख गया जुबान भी सूख गई। मैं कुछ नहीं बोल पाया और दुम दबा कर चला आया।

गुरुदेव की आज्ञा थी कि मैं बोलूँ। केवल एक रविवार बचा था। मैं उनकी आज्ञा कर उल्लंघन नहीं कर सकता था। मैं पहले तीन रविवार नहीं

बोला, तो आखिरी रविवार तो मुझे बोलना ही था। सत्संग के लिये गया तो, पर ध्यान में नहीं बैठा और चारों ओर घूमता रहा, कोई अन्य सत्संग करा रहा था। अब जैसे ही सत्संग समाप्त हुआ। मैं सीधा वहाँ पहुँचा और बोलना शुरू कर दिया। किसी को नहीं पता था कि मैं बोलने वाला हूँ। इससे पहले मैंने कभी भाषण नहीं दिया था। अब सब से आश्चर्यजनक बात थी कि मैं ४० मिनट तक बोला। मुझे समय की कोई चेतना नहीं थी, न ही मैंने किसी विषय पर तैयारी की थी और आज भी मैं सोचता हूँ कि वह मेरे अच्छे भाषणों में था। बाद में वह "साधना" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित भी हुआ। साधना का अर्थ है आध्यात्मिक अभ्यास।

सो आप देखते हैं कि यह चमत्कार उन्होंने मेरे अन्दर किया। आज भी जब मुझे बोलना होता है तो मुझे घबराहट होती है। मुझे नहीं पता होता है कि मैं क्या कहूँगा। परन्तु कुछ न कुछ आ जाता है और लोग कहते हैं कि अच्छा है। मुझे नहीं पता कि अच्छा है या बुरा है परन्तु मुझे पता है कि यह आवश्यक है।

यह आवश्यक शब्द हमारे आध्यात्मिक कार्य की कुन्जी है। आप जानते हैं कि जब आप खाना बनाते हैं तो बहुत कुछ आलमारी में पड़ा होता है परन्तु आज आवश्यक क्या है। अगर मैं आलू पकाता हूँ तो उसमें शहद नहीं डालूँगा। मुझे तेल, नमक, मिर्च आदि की आवश्यकता होगी, शहद की नहीं। हमारे भाषण व वार्ताओं में, सत्संग में हम जो भाई बहनों से कहते हैं, उसमें भी एक रहस्य है—जो अपने आप को छोड देता है, अपने अस्तित्व को भूलकर कुछ कहने के लिए खड़ा होता है तो उसके मुख से वहीं निकलता है जो आवश्यक है।

यहाँ प्रश्न अच्छे या बुरे व प्रशंसनीय का नहीं या बौद्धिक व दार्शनिक तत्व का नहीं। यहाँ उसका कोई फरक नहीं पड़ता। यह औषधि की भाँति है। जो मुझे सुनना चाहिए, क्या मुझे मिलता है ? जो मुझे अपनी बीमारी के लिए चाहिए, क्या मुझसे कहा जाता है जो मुझे खानेकी आवश्यकता है, क्या वह मुझे मिलता है ? आप देखते हैं कि मानसिक स्तर पर, बौद्धिक स्तर पर उन्होंने बहुत लोगों के साथ ऐसे चमत्कार किए हैं।

श्री रामचन्द्र मिशन में इसका सबसे श्रेष्ठ उदाहरण डा० वरदाचारी का है। वह एक माने हुए दार्शनिक और विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। जैसा कि उन्होंने मुझे स्वयं बताया कि वह एक शुष्क विद्वान थे और उनकी वार्ता में कोई आकर्षण व रस नहीं था; सब दार्शनिकों की भाँति वह घंटों बात कर

सकते थे परन्तु कोई सुनता नहीं था। और तब वह गुरुदेव के पास आए।

डॉ० वरदाचारी ने मुझे बताया था कि जब श्री अरविन्द का निधन हुआ तो भारत में अरविन्द सोसाइटी के मुख्याध्यक्ष बनने का प्रस्ताव उन्हें दिया गया, परन्तु उन्होंने मना कर दिया। थियोसौफिकल सोसाइटी में उन्हें उच्च पद का प्रस्ताव दिया गया, उन्होंने मना कर दिया। जब रमण महर्षि का निधन हुआ तो रमण आश्रम की देख रेख व नियंत्रण का भार उन्हें सौंपने का प्रस्ताव रखा गया, उन्होंने मना कर दिया। यह सब उन्होंने इसलिए अस्वीकार नहीं किया कि उन्हें उच्च पद पसन्द नहीं थे या वह बहुत नम्र थे—क्योंकि मेरे विचार में वह नम्र व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने यह सब अहंकार वश अस्वीकार किया कि वह अरविन्द या रमण की सोसायटी या आश्रम जैसी छोटी चीजों के लिए बहुत बड़े थे। यह उन्होंने मुझे स्वयं बताया था।

फिर वह एक दिन मेरे गुरुदेव के फन्दे में फ्रॉंस गये, और बाबूजी ने मुझे वर्षों पश्चात बताया था, "यह व्यक्ति जब मेरे पास आया एक दार्शनिक और जंगली जानवर था, और अब देखो वह अपने विषय में क्या कहते हैं।" और डॉ० वरदाचारी कहते थे, "मैं ईश्वर का एक पालतू जानवर हूँ।" तो यह कायापलट उनमें हुई। उनका दर्शन बदल गया। दर्शन के प्रति उनका रवैया Attitude बदल गया। उसके पहले वह सोचते थे कि बिना दर्शन के संसार का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। फिर वह मेरे गुरुदेव के पास आये, जिन्होंने उन्हें दिखाया कि एक मूर्ख के हाथ में दर्शन भी एक हथियार की भाँति है, केवल एक मानसिक खिलौने के तुल्य है और कुछ भी नहीं। मेरी उपस्थिति में गुरुदेव ने बहुत साहस के साथ डॉ० वरदाचारी से कहा—"मुझे सन्देह है कि स्वर्ग में कोई दार्शनिक होगा।" सो दर्शन का क्या उपयोग है ? शायद इस संसार में एक अच्छी जीविका कमाना और अन्त में अहंकार व बौद्धिक गर्व में भर अधोलोक में पहुँच जाना और फिर वहाँ पर वार्ता करना कि उन्हें क्या नहीं करना चाहिए था और क्या नहीं सिखाना चाहिए था।

मुझे स्मरण है कि इलाहाबाद में विशिष्ट चुने हुए श्रोताओं के सम्मुख डॉ० वरदाचारी के दो भाषण होने वाले थे। मैं भी वहाँ था और बाबूजी भी वहाँ अध्यक्षता करने के लिए थे। पहले दिन डॉ० वरदाचारी ने बहुत प्रतिभाशाली भाषण दिया, बाबूजी ने कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन उनका भाषण, कोई यह नहीं कह सकता था कि प्रतिभाशाली था या प्रभावशाली भाषण था। वह बाबूजी के पास गये और बोले, "बाबूजी आपको मेरी वार्ता कैसी लगी ?" बाबूजी बोले, "मैं पूरा समय लालाजी के ध्यान में था।"

Born to live like that 23.01.94

कस्तूरी जी हमारे साथ थीं। वह बोलीं, "बाबूजी उन्हें ऐसे टालिए मत।" बाबूजी सरलता का बहाना करते हुए बोले, "ओह तुम्हारा क्या मतलब है?" तो कस्तूरी जी ने कहा" बाबूजी, आपने मुझसे अभी कहा था कि कल डॉ० वरदाचारी बोल रहे थे परन्तु आज गुरुदेव बोल रहे थे। यह आप उन्हें क्यों नहीं बताते ?" अब आप दोनों का अन्तर समझ गये होंगे। शारीरिक रूप से दोनों दिन डॉ० वरदाचारी इतने बड़े दार्शनिक और महान प्रोफेसर बोल रहे थे, उनकी जो भी क्षमता थी वह सीमित थी। दूसरे दिन वह अपने आप को भूल गये और उनके माध्यम से गुरुदेव बोल रहे थे।

सो यह बनने का रहस्य है बाबूजी जो शब्द "न हो जाना' प्रयोग करते थे उसका रहस्य यही है। हम सदैव कुछ बनने का विचार करते हैं। वह कहते हैं कि नहीं, जो कुछ भी तुम बने हो वह सब निकाल कर फेंक देना है और जब सब परतें और आवरण निकल जायें फिर जो बचता है वह तुम्हें होना चाहिए। वह सब परदों की भाँति है जो तुम्हें हटाने हैं। एक दूसरे संदर्भ में उन्होंने इसे" शक्ति, न कमजोरी, न बुद्धिमत्ता, न मूर्खता, उसमें कुछ भी नहीं होता। अब जब मैंने यह भौतिक जगत व मानसिक जगत में उनके चमत्कार देखे तो बाबूजी की कृपा से आध्यात्मिक जगत में मेरी शिक्षा और भी तीव्र गति से बढ़ने लगी और जो चमत्कार वह आध्यात्मिक जगत में कर रहे थे मैं वह भी देखने लगा। दुर्भाग्यवश उनका विवरण देना सम्भव नहीं, पर जैसा बाबूजी कहते थे, "अगर तुम में दृष्टि है तो दिखाई दे जायेगा।"

अब उनकी पद्धति का क्या रहस्य था और उसका क्या फल था ? जैसा कि सुबह किसी ने कहा, हमें दिखाई देता है कि हम प्रगति कर रहे हैं। इसमें तो कोई शंका ही नहीं, यह तो हो ही नहीं सकता है कि हम यहाँ हों और प्रगति न करें। फिर क्या हो रहा है ? वह क्या बना रहे हैं क्या हम जो बनने की आशा करते हैं वह बन रहे हैं। अब यहाँ यह समस्या आती है कि परम्परागत योग ने ऐसे वायदे किये हैं, जैसे कि अभ्यासी शक्तिशाली बनेगा, उसका मुख तेज से चमकेगा; उसकी वाणी मीठी होगी, उसका व्यवहार आकर्षक होगा, आदि—ऐसे मोहक वायदे। इसी कारण हठ योग इतना सम्मोहक है।

अब मुझे यहाँ ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। मैंने योगी को चमत्कार करते हुए देखा है। चमत्कार वह निस्संदेह होते हैं, परन्तु करने वाला उतना ही मूर्ख होता है जितना वह योग आरम्भ करने के पूर्व था। उसने केवल

सिद्धियाँ प्राप्त कीं उसमें कोई आन्तरिक परिवर्तन नहीं हुआ। यह एक किसान को खेत से हटा कर बन्दूक पकड़ा देने के तुल्य है। वह गोली मार सकता है। उसे स्टेन-गन दे दो तो वह और अधिक गोलियाँ चला पायेगा। वह केवल शक्ति है, ऐसी अपरिष्कृत शक्ति का कोई भी प्रयोग कर सकता है, उसके लिए कोई शिक्षा व संस्कृति की आवश्यकता नहीं, बल्कि उस दशा में तो हमें केवल अपनी दृष्टि व प्रवृत्ति में मानवों के प्रति केवल कठोरता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिए।

परन्तु एक आध्यात्मिक गुरु के साथ क्या होता है, वह बिना शक्ति के कार्य करता है। अगर आप ने गुरुदेव की पुस्तकें पढ़ी हो तो उनसे उन्होंने प्राणाहुति शक्ति को 'शक्तिरहित शक्ति' कहा है। सहज मार्ग की यही सुन्दरता है कि बिना किसी शक्ति का प्रयोग किये आप अपना कार्य निपुणता से कर सकते हैं और उसका आदर्श परिणाम होता है। अब लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि "वह आदर्श परिणाम क्या है जिसकी आप शेखी बघार रहे हैं ? मुझे तो कुछ दिखाई नहीं देता।" मैं केवल यही कह सकता हूँ कि इसका आदर्श उदाहरण मेरे गुरुदेव हैं। उनका निर्माण लालाजी ने इसी शक्तिरहित शक्ति का प्रयोग कर के किया। उन्होंने उस गुरु का निर्माण किया जो सृष्टि का मालिक था। शारीरिक रूप से निर्बल परन्तु बल की आवश्यकता पड़ने पर वह उनमें था। वह इतने निर्धन कि आप को दूध दे सकते थे पर स्वयं नहीं पी सकते थे। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर संसार भर की सम्पत्ति उनके कदमों में थी। जिनके पास शिक्षा नहीं परन्तु ज्ञान था, प्रयोग हेतु आवश्यकता पड़ने पर उनके पास देवताओं का परमसत्ता का ज्ञान था। हममें वह किस चीज का निर्माण करते हैं ? उसका, जिसका लालाजी ने उनमें किया।

अगर मैं इसे नकारात्मक रूप से कहूँ तो वह निर्बल व्यक्तियों का निर्माण करते हैं जिनके पास आवश्यकता पड़ने पर पूर्ण बल होता है। वह साधारण अर्थों में बलवान नहीं, परन्तु आवश्यकता होने पर उनमें कहीं से वह शक्ति आ जाती है। वह हमें उतना ही मूर्ख रखते हैं जितना हम उनके पास आने के समय थे, पर इस प्रचण्ड परिवर्तन के साथ कि आवश्यकता पड़ने पर उनका ज्ञान हमारे अन्दर प्रवाहित होने लगता है। हममें कोई साहस नहीं, हम वही हैं जो साँप, शेर, भालू सब से डरते हैं परन्तु जब हमारे कार्य के लिए आवश्यकता होती है तो हमारे में दिव्य साहस उतर आता है। सो मेरे भाइयों और बहनों, जब आप चारों ओर देखते हैं तो

हमारे अभ्यासियों में बाह्य रूप से कुछ नहीं बदला दिखाई देता है। गुरुदेव में भी बाह्य रूप से कोई परिवर्तन नहीं था। वह जैसे पैदा हुए, उसी तरह सारा जीवन बिताया। कोई दृष्टिकोण लेने में अत्यधिक संकोचपूर्ण, फूँक, फूँक, कर कदम रखने वाले। जो भी उनके सामने रखा जाता उसे खाने में असमर्थ, जो कुछ भी अभ्यासी प्रेमपूर्वक उनके कदमों में रखते उसका आनन्द वह कभी न उठा पाते। अवर्णनीय सादगी। फिर भी वह यह कहने में समर्थ थे कि दोनों हाथ बँधे होने पर भी वह अपनी चारपाई से कोई भी युद्ध करने की क्षमता रखते थे और आवश्यकता होने पर संसार को एक लट्टू की भाँति घुमा सकते थे।

यदि आप में से कोई यह आशा रखता है कि वह अधिक बुद्धिमान, या अमीर या व्यावसायिक रूप से सक्षम बन जायेगा, तो भूल जाइये, सहज मार्ग वह स्थान नहीं। पर आखिर यह बुरा नहीं, क्योंकि कितने ही अवसरों पर हमने अत्यधिक बुद्धिमान लोगों को भी मूर्खतापूर्ण व्यवहार करते देखा है। सारे जीवन उन्हें बुद्धिमान सोचा जाता है, उस अनिवार्य अवसर पर जब उसे उसकी सब से अधिक आवश्यकता होती है, उसी समय वह बुद्धि उस से छीन ली जाती है। इसी प्रकार कुई बलवान मनुष्य ऐन मौके पर कमजोर हो जाते हैं। यहाँ इसका बिलकुल उलटा चमत्कार है कि मनुष्य बिलकुल कमजोर है परन्तु जब आवश्यकता होती है तो गुरुदेव उसे शक्ति प्रदान करते हैं। वह साधारण बुद्धि का है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसमें दिव्य बुद्धि प्रवाहित होती है। इतना निर्धन कि वर्णन न कर सकें परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसके हाथों से करोड़ो खर्च हों।

क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि यह व्यक्ति शाहजहाँपुर में बैठा बीस लाख रुपये का आश्रम बना पाया और उसने किसी से पैसा माँगा नहीं। जब मैं मिशन का सेक्रेटरी था मैंने सुझाव दिया था, "अगर आप एक शब्द कहें तो यह आश्रम दो दिनों में बन जायेगा।" उन्होंने सब से महत्वपूर्ण और आध्यात्मिक रूप से अर्थपूर्ण बात कही, "मैं केवल लालाजी से माँग सकता हूँ और किसी से नहीं। मुझे जो भी चाहिए वह देंगे।" और एक मुसकुराहट के साथ यह भी जोड़ दिया "अगर आवश्यक हो।"

सो सहज मार्ग में यही वायदा हमसे भी किया जाता है। आध्यात्मिक प्रगति उच्चतम शिखर तक यदि हमारा सहयोग हो तो कोई पूछताछ नहीं न कोई रुकावट। बाकी सब भौतिक समृद्धि, खाना, पानी सब मिलेगा, तब प्रदान किया जायेगा जब आवश्यकता होगी। हमें यह बात स्मरण रहे—हम

परिवर्तन की सही स्थान पर सही परिस्थिति में आशा करें। नहीं तो हम भूल जाते हैं, और एक मूर्ख, सत्संग में प्रोफेसर बनने की आशा लेकर आता है, एक निर्धन अमीर बनने की, एक साधारण लड़की, सुन्दरी बनने की—यह सब काल्पनिक उड़ाने।

गुरुदेव केवल एक गारण्टी लेते हैं। अगर आध्यात्मिकता में तुम अपना दायित्व निभाओगे तो गुरुदेव भी अपने दायित्व से पीछे नहीं हटेंगे। बाकी सब—जब जिसकी आवश्यकता होगी वह देंगे।

धन्यवाद।

प्रश्न और उत्तर*

प्रश्न—संसार में सन्त दुःखों के लिये क्यों प्रार्थना करे या कोई भी ऐसी प्रार्थना क्यों करे ?

उत्तर—सन्त बन कर इसका पता लगाओ। (हास्य) मेरा वास्तव में यही कथन है क्योंकि बिना उसके इसका अर्थ जानना सम्भव नहीं।

प्रश्न—एक अभ्यासी का अपने कार्य के प्रति क्या दायित्व है, अगर उसे यह ज्ञात हो कि उस कार्य का परिणाम समाज के लिये जिसमें वह रहता है सम्भवतः हानिकारक होगा ?

उत्तर—सबसे उत्तम तो होगा कि अगर हो सके तो वह ऐसा कोई कार्य ढूँढ़े जिससे दूसरों को संकट न हो। मेरे विचार में आजकल अधिकतर कार्य जो हम करते हैं उसमें संकट की सम्भावना होती है और उनमें से कइयों का अंत कहाँ होगा कहा नहीं जा सकता। इसलिए सब से उत्तम है कि हम प्रभु में विश्वास रखते हुए सही कार्य करें।

प्रश्न—प्रार्थना को कई बार बोल कर उसके अर्थ पर ध्यान देने का जो परामर्श दिया गया है उससे क्या तात्पर्य है ? क्या प्रार्थना के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करें ? या इस पर कि उसके विभिन्न अंगों या पूरी प्रार्थना का हमारे जीवन, हमारे सहज मार्ग के अभ्यास में क्या महत्व है ? इस परामर्श के प्रयोगात्मक स्वरूप पर मैं कुछ भ्रम में हूँ।

उत्तर—प्रश्न के अन्तिम भाग पर पहले आते हुए-यह परामर्श नहीं एक प्रक्रिया है। हमें प्रार्थना व उसके अर्थ पर ध्यान देने का परामर्श नहीं। बल्कि ध्यान करने को कहा गया है। दूसरा जो भी निर्देश दिया गया है वह बिलकुल साफ है। प्रार्थना को कुछ बार अपने मन में दोहराइये फिर उसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए ध्यान करिये। मुझे नहीं समझ में आता कि समस्या क्या है। उदाहरणार्थ—जब हम कहते हैं "हे नाथ तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है।" तो यह "हे नाथ" कौन है ? जब हम कहते है, "तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है", तो क्या उससे हमारा तात्पर्य मानव विकास के अन्तिम

---

* प्रश्नों की पेटी से प्रश्न गुरुदेव द्वारा पढ़े गये

चरण तक आध्यात्मिक प्रगति से है ? क्योंकि "हे नाथ" (ओ मास्टर) शायद किसी व्यक्ति विशेष के लिये है और लक्ष्य जैसा कि दर्शाया गया है शायद एक स्थिति है, क्या इन का समन्वय हो सकता है ? क्या आपने इस सब पर विचार किया है ? आप करना आरम्भ करेंगे और इस पर ध्यान करेंगे तो आपको इसका उत्तर हृदय से मिलेगा, न कि बुद्धि से। समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम सब कुछ बौद्धिक रूप से समझने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—क्या आप चाहते हैं कि हम सब छोटी बत्तखों की भाँति आपके इर्द-गिर्द आपका अनुगमन करें ? (हास्य)

उत्तर—ठीक शब्द 'बत्तख के बच्चे' है।

प्रश्न—.........और हमें यह कैसे ज्ञात हो कि कब आपको अकेला छोड़ दें ?

उत्तर—मेंरे विचार से मैंने कभी किसी को अपना अनुगमन करने को नहीं कहा। मेरे पीछे-पीछे आयें या कब छोड़ें यह आपका निर्णय है। इन दोनों का फैसला आपको करना है।

प्रश्न—मुझे शंका है कि पुनः यह केविन का प्रश्न है। क्या एक अभ्यासी जो ध्यान के समय अपनी घड़ी की आवाज को नजरअन्दाज न कर सके आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है ? (हास्य)

उत्तर—(मुस्कुराते हुए) इसका उत्तर देना कठिन है। हमें दो मनोवृत्तियों को बढ़ाना है। बाबूजी ने कहा है कि हमें ध्यान के लिये पहाड़ या जंगल में जाकर शांत वातावरण नहीं तलाश करना है बल्कि उस जंगल के वातावरण को घर में लाना है। अतः एक अभ्यासी के नाते हमें सभी परिस्थितियों में ध्यान करना सीखना है। इस अर्थ में अगर घड़ियां हमारे चारों ओर बज रही हैं तो यह अच्छा है क्योंकि ध्यान करते समय और भी जोरदार बाधाएं आती हैं। उनमें से अनेक बाह्य हैं, परन्तु अधिकतर आन्तरिक हैं। गाड़ियाँ व हवाई जहाज आदि का शोर घड़ी की आवाज से कहीं अधिक शक्तिशाली है।

जो विचार हमें ध्यान के समय तंग करते हैं उनके विषय में क्या कहा जाय ? वह हमारी ध्यान की प्रक्रिया की सब से शक्तिशाली बाधाएँ हैं। ध्यान के समय हमारी एकाग्रता के विषय में क्या कहना है ? आवश्यक रूप से यह एकाग्रता ही सब से महत्वपूर्ण है। अगर हम उसे सही स्थान पर हृदय में दिव्य प्रकाश पर लगायें तो हमें कोई भी चीज परेशान नहीं कर

सकती। यह तो मानी हुई बात है कि जब आप किसी अच्छी पुस्तक में डूबे होते हैं तो कुछ भी बाधा नहीं डाल सकता। आप दोपहर के तीन बजे पढ़ना आरम्भ करते हैं और आप इतने मस्त होकर पढ़ते जाते हैं कि कब अंधेरा होकर रात के नौ बज गये आपको पता ही नहीं चलता और पूरा समय आप बिना किसी बाधा के पढ़ते जाते हैं। अब यह कैसे सम्भव है ?

ध्यान के दौरान कभी कभी मैं बीच में इस कारण से आँख खोल कर देख लेता हूँ क्योंकि कई बार नए अभ्यासी प्राणाहुति से इतने प्रभावित हो जाते हैं कि कभी आगे या पीछे गिर जाते हैं इसलिये उन पर नजर रखनी पड़ती है। अब ऐसा कल हुआ कि मैंने क्षण भर के लिये आँख खोली और एक बालक रो रहा था। उसकी माँ उठ कर भागी। अब यह माँ के लिये अच्छा था, बच्चे के लिये और भी बेहतर था। परन्तु वह माँ जो अभ्यासी थी उसके लिये इतना अच्छा नहीं था, क्योंकि वह वास्तव में ध्यान नहीं कर रही थी। वह आँखें बन्द कर के बैठी थी और उसका ध्यान व चित्त बालक के ऊपर था।

सो यह सब ध्यान की समस्यायें हैं। हमारे बच्चे हैं, केवल घड़ियों की टिक-टिक ही नहीं है ? किसी का ध्यान घर में लगने वाली सम्भावित आग पर हो सकता है। अब यह उत्तर अमरीका के निवासियों की एक और आदत है, क्योंकि उनकी टेलीफोन प्रणाली इतनी अच्छी है कि वह बार-बार घर को फोन करते रहते हैं। बच्चे कैसे हैं ? बिल्ली कैसी है ? कुत्ता कैसा है ? और फिर जो कुछ सुनते हैं उस पर खेद करते रहते हैं। बिचारी जिल, वह बीमार है। और हो सकता है कि "जिल" बिल्ली हो। अब मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि हम अपने कुत्तों, बिल्लियों और बच्चों से प्रेम न करें। परन्तु ध्यान एक गंभीर चीज है। इस आध्यात्मिक लक्ष्य को पाने के लिये हमें संसार का ही नहीं जीवन का भी त्याग करना पड़ता है। घड़ी की आवाज से लेकर, घर बच्चों आदि तक हमें किसी भी चीज को इसमें बाधक नहीं होने देना चाहिये।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हमने अपने मस्तिष्क में तीन धाराएं बना ली हैं: एक घर और बच्चों की चिन्ता में, एक अपने पड़ोसी की घड़ी के लिये और एक अपने ध्यान की। अब मेरे मन में कम से कम तीन धाराएं बन गईं तो मेरा ध्यान कितना सफल हो सकता है ? अब ध्यान करते समय हमारा प्रयत्न रहता है कि मन की सब शक्तियों को केन्द्रित कर के एक धारा में लायें और हम बैठते हैं अपने तीन ऐण्टेना को तीन अलग अलग

दिशा में घुमा कर। सो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि न हम ठीक से ध्यान कर पाते हैं और न ही प्रगति हो पाती है।

यह दो चीजें हैं: एक तो अभ्यासी होने के नाते मैं दूसरों की खातिर अपनी घड़ी को बजने से रोकूँ, और अपने लिये भी क्योंकि जिस समय मैं सीमाहीन अस्तित्व में कदम रखने का प्रयत्न करता हूँ उस समय वह मुझे बार बार समय का ध्यान दिलाती हैं। दूसरा—मुझे दूसरों की घड़ियां बजने पर उनका आभारी होना चाहिये क्योंकि उससे मुझे सब परिस्थितियों में ध्यान लगाने की क्षमता प्राप्त होती है। सो कृपया ध्यान रखिये अपनी घड़ी को शांत करिये और दूसरों की चिन्ता न करिये—यह ऐसा कहने के समान है कि अपने मन को शांत रखिये क्योंकि हमारे लिये यही महत्वपूर्ण है। मैं बाकी कुछ नहीं कहना चाहता वह श्री 'क' कहें (मुस्कुराते हैं)

प्रश्न—पिछले वर्ष मीटिंग में किसी ने कहा था कि बाबूजी स्वयं पतञ्जलि थे। अगर हम बाबूजी की आत्मकथा भाग दो में देखें तो पृष्ठ ७७ पर लिखा है कि पतञ्जलि ने अभी मुक्ति नहीं प्राप्त की। क्या आप इसे समझायेंगे ?

उत्तर—मेरे विचार में मैंने यह किस्सा भी पिछले वर्ष बताया था कि १९७२ में अमरीका व योरोप का दौरा समाप्त करके बाबूजी और मैं भारत की वापसी यात्रा कर रहे थे। हम रोम से आगे बेरूत में रुके हुये थे और बेरूत-दिल्ली यात्रा के अन्तिम चरण में थे। मैं बाबूजी से योग के विषय पर कुछ प्रश्न कर रहा था। बाबूजी बोले, "तुम्हें पता है ? मैं भी पतञ्जलि से यही प्रश्न करना चाहता था। आखिर वह योग के गुरु माने गये हैं। सो मैंने उन्हें उच्च संसार में खोजा जहाँ मुक्त आत्माओं का वास है। मैंने सारा क्षेत्र खोज मारा, परन्तु वह मुझे कहीं नहीं मिले। मैंने सोचा यह कैसे हो सकता है और पुनः खोजा फिर भी वे नहीं मिले।" बाबूजी ने कहा "मैं चकित था यह कैसे हो सकता है, और तीसरी बार खोजने पर भी जब वे नहीं मिले तो मैंने लालाजी स सम्पर्क किया और उनसे कहा "लालाजी साहब, मुझे उच्च संसार में पतञ्जलि कहीं नहीं मिले यह कैसे सम्भव है ? वह ऋषि जिसने हठयोग के नियमों की संहिता तैयार की और अष्टांग योग सम्भव किया वे वहां से कैसे अनुपस्थित हो सकते हैं।" तो लालाजी ने कहा, "वह अभी मुक्त नहीं हुए।"

तब बाबूजी ने कहा, "यह कैसे सम्भव है ? वह कब मुक्त होंगे ? "लालाजी ने उत्तर दिया "इस जन्म में, अपने अन्दर देखो।" फिर बाबूजी

मुस्कुराये और बोले," समझे ? पतञ्जलि इस जीवन में मुक्त होंगे।" उन्होंने यह नहीं कहा "मैं मुक्त होऊंगा" क्योंकि वह ही पतञ्जलि थे। जब यह आत्मकथा लिखी गई, तो १६४५ के आस-पास के समय से लेकर उसी के कुछ वर्ष पश्चात तक समाप्त हो गई। यह जानकारी कि वह स्वयं पतञ्जलि थे बाद में हुई। वैसे भी यह एक गुप्त बात थी और सब को बताने लायक नहीं थी। कुछ ही लोगों को इसके बारे में पता था और उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वह औरों से इस विषय पर बात नहीं करेंगे। नहीं तो यह ऐसा कहने जैसा होगा कि कैनेडी अब्राहम लिंकन थे, आदि आदि। क्योंकि बाबूजी ने यह बात स्वयं अपने मुख से कही थी यही इसका प्रमाण है। जो उन्होंने लिखा है और जो बाद में कहा उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है।

प्रश्न—श्रीमन्, गुजरात में यह मान्यता है कि जन सेवा प्रभु सेवा है। क्या सहज मार्ग इसको मानता है ?

उत्तर—मेरे विचार में नरनारायण की यह धारणा एक गाँधीवादी विचार है या कि मानव की सेवा करके आप ईश्वर की सेवा कर रहे हैं मानवता की सेवा में ईश्वर की सेवा है। क्या सहज मार्ग इसमें विश्वास रखता है ? हाँ भी और नहीं भी।

सबसे पहले नहीं वाली बात पर आते हुएः आप पूरा जीवन मानव की सेवा कर के भी जो हैं वही रहते हैं। तो इसमें तुम्हारा क्या लाभ ? सर्वप्रथम हमें अपना भला करना है ताकि हम दूसरों की सेवा के अधिक से अधिक योग्य बन सकें और उस स्तर तक पहुँच जायें जहाँ हम लोगों की उच्चतम भलाई का कार्य कर सकें। फिर गुरुदेव के निर्देश का पालन करते हुए मानवता की सेवा करें और उस रूप में मानवता की सेवा करते हुए प्रभु की सेवा करें। जब तक हम इस स्तर तक नहीं पहुँच जाते जन-सेवा प्रभु-सेवा में नहीं बदल सकती। जन-सेवा, प्रभु-सेवा में परिवर्तन हो, इसके लिये आवश्यक है कि हम प्रभु के सेवक होते हुए मानवता की सेवा करें। अगर हम अपने मन में उठती हुई दूसरों के प्रति चिन्ता की भावना से सेवा करते हैं तो उसमें कोई प्रभु-सेवा नहीं न ही कोई जन-सेवा है।

प्रश्न—जब हमारा काम एक दिन सात बजे प्रातः से तीन बजे तक हो, दूसरे दिन तीन बजे से ग्यारह बजे और तीसरे दिन ग्यारह बजे से सात बजे तो हम कैसे ध्यान करें, सफाई करें व रात्रि की पूजा करें ?

उत्तर—यह एक छोटी सी बात है। ऐसी भी नौकरियाँ हैं जहाँ उन्हें पता ही नहीं होता कि कब काम पर होंगे और कब खाली, जैसे कि हवाई

जहाज के पाइलट आदि। फिर भी आप खाने, सोने तथा आवश्यक कामों के लिए समय निकालते हैं न ? अगर आप ध्यान को भी अपने जीवन का एक आवश्यक अंग मानते हैं तो उसके लिये समय निकाल लेंगे।

प्रश्न—क्रोध के विषय में माना गया है कि वह आध्यात्मिक प्रगति में विघ्न का कार्य करता है। हम अपने क्रोध पर कैसे काबू पायें ? जब बच्चे कुछ बदतमीजी करते हैं, हम उस पर नियंत्रण कैसे करें ?

उत्तर—बुद्धिमत्ता की पहली बात तो यह है कि क्रोध हमारे अस्तित्व की किसी भी स्थिति में कोई भी उद्देश्य पूरा नहीं करता। सामान्यतः क्रोध हमारी अयोग्यता का लक्षण है। आप ने अधिकतर देखा होगा कि जब आप किसी ऐसी स्थिति में होते हैं जो आपके नियंत्रण के बाहर है तो आपको क्रोध आता है। यह कुण्ठा की एक स्थिति है जो क्रोध उत्पन्न करती है। केवल बच्चों के सम्बन्ध में ही क्यों, आपकी पत्नी, नौकरी, कुत्ता आदि किसी भी स्थिति में क्रोध कुछ भी पूर्ति नहीं करता। विशेष रूप से बच्चों के सम्बन्ध में जब वह बदतमीजी से पेश आते हैं यह दर्शाता है कि माता पिता ने उनको ठीक से प्रशिक्षित नहीं किया है।

मेरे ऐसा कहने में आपके गुस्से का जोखिम अवश्य है किन्तु मेरे देखने में आया है कि उत्तर अमरीका के लोगों के सम्बन्ध में यह बिलकुल सच है। बच्चों को लपेटकर बन्द होने वाला तैराकी तालाब देना या आधुनिकतम खिलौने देना आपके प्रेम का प्रतीक नहीं। आप को उन्हें अपना समय देना चाहिये। पिछले कुछ वर्षों में मैंने अपने भ्रमण के दौरान देखा कि बड़े लोग बच्चों को खिलौने आदि देकर उन्हें टेलिविजन के कमरे में बन्द करके बड़े खुश रहते हैं। अब बच्चों को पालने का यह एक अनर्थकारी तरीका है। प्रकट रूप में बच्चे इसका विरोध करेंगे। अपना प्रतिरोध दिखाने का यह एक ही तरीका है उनके पास। जब आप उन्हें प्राप्त होते हैं तो वह आपको छोड़ना नहीं चाहते।

अब यह किसका कसूर है ? बच्चों के ऊपर जो यह मँहगे उपहार हम न्योछावर करते हैं पुस्तकें, खिलौने, कम्प्यूटर आदि वह माँ बाप की अपराध-भावना का प्रतीक है और यह चर्च में कीमती दान देने के तुल्य है। जितनी अधिक अपराध की भावना होगी उतना ही मूल्यवान उपहार होगा, इसको नकारा नहीं जा सकता। बहुत पहले मैंने एक उपन्यास पढ़ा था उसमें पति कुछ दिन बाहर रहने के बाद जब घर लौटता है तो अपनी पत्नी के लिये मूल्यवान उपहार लेकर आता है। पहले तो वह बहुत प्रसन्न होती है

परन्तु फिर पूछती है कि तुमने क्या किया है जो मेरे लिये यह मूल्यवान उपहार लाये हो ? अब यह उपहार का मनोवैज्ञानिक पहलू है।

हमें यह प्रयत्न करना चाहिये कि बच्चों को अधिक समय व प्रेम दे सकें। आपके प्रेम के आगे उपहार की कोई महत्ता नहीं और जब प्रेम नहीं तो कोई उपहार उसकी पूर्ति नहीं कर सकता। कल मैंने गीता के एक श्लोक के विषय में कहा था जब श्री कृष्ण कहते हैं, "अगर तुम्हारे हृदय में मेरे लिये प्रेम है तो उपहार की कोई आवश्यकता नहीं, जल की एक बूंद, पृथ्वी से तोड़ा हुआ एक फूल या फल वही उपहार पर्याप्त है।" और बिना प्रेम के तुम पूरा संसार भी दे दो तो वह मिट्टी व राख के समान है। यह आज भी सच है, बच्चों के प्रति जब हम अपने में अपराध भावना का अनुभव करते हैं, तो हमें क्रोध आता है। क्योंकि हम अपने को दंड नहीं दे सकते तो हम उन बिचारों को दंड देते हैं।

प्रश्न—लालाजी व बाबूजी के घर में क्या विशेष बात थी कि वह उनके जन्म के योग्य था ?

उत्तर—एक तरह से कुछ भी विशेष नहीं था। क्योंकि जब हम विकास की उस सीमा तक पहुँच जायें तो शायद लोग यही प्रश्न तुम्हारे या उसके या उसके घर के विषय में पूछें। जब एक व्यक्ति विकास के उच्चतम शिखर तक पहुँच जाता है तो इस अर्थ में तो कुछ भी विशेष नहीं होता। जब व्यक्ति विकास ही नहीं करता तो ऐसा प्रश्न नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि कोई ऐसा प्रश्न ही नहीं पूछता। सो इस अर्थ में इन घरों के विषय में कुछ भी विशेष नहीं है, हम अपने वातावरण का कैसा उपयोग करते हैं सारा अन्तर उससे पड़ता है।

यह साधारणतः एक सामान्योक्ति है। यह सत्य है कि जो लोग समाज के निम्न वर्ग से आते हैं वह अमीरों की अपेक्षा अधिक तेजी से आध्यात्मिक प्रगति करते हैं, क्योंकि शायद वह और किसी चीज की आशा नहीं रखते। उन्हें पता है कि धन-सम्पत्ति, बुद्धि, शक्ति व स्वास्थ्य उनके परे हैं। उन्हें केवल गरीबी व दुःख दिखाई देता है, इस कारण वह प्रभु की ओर मुड़ जाते हैं। परन्तु धनवान लोग जिनके पास जीवन में सब कुछ है वह एक सामान्य प्रश्न पूछते हैं विशेष रूप से पश्चिम में: "जीवन में क्या गड़बड है जो मैं मुक्ति की कामना करूं ? मेरी एक सुन्दर पत्नी है, दो गाड़ियाँ हैं, भूमध्य सागर में एक जहाज है, एक अच्छी नौकरी है, क्या ऐसा है जिससे मैं दूर भागूँ ?" इसी कारण शायद बाइबिल में कहा गया है, "एक ऊँट भी सुई के छेद से

निकल सकता है परन्तु एक अमीर व्यक्ति स्वर्ग के द्वार तक नहीं पहुँच सकता। "बाइबिल कहती है कि 'पहुँचने का सामर्थ्य नहीं है' और मेरे गुरुदेव कहते हैं 'सम्भव है न पहुँचें' क्योंकि यह धन- सम्पत्ति का आकर्षण जो हमारे अन्दर लोलुपता या लालसा उत्पन्न करता है, हममें मिथ्या शक्ति का भाव उत्पन्न करता है। एक धनवान यह सोचता है कि धन के कारण उसके पास इतनी शक्ति है कि वह सब कुछ खरीद सकता है, दोस्ती, खुशियाँ आदि आदि।

एक धनवान के लिये स्वर्ग पहुँचना कितना कठिन है इसके उदाहरणस्वरूप एक बार बाबूजी ने एक किस्सा बताया। स्वर्ग के द्वार खुले थे और अन्दर जाने वालों की एक लम्बी कतार लगी हुई थी। जैसे जहाज पर चढ़ने वालों के अनुमतिपत्र की जाँच होती है शायद उसी प्रकार एक व्यक्ति कोई स्वर्गीय कम्प्यूटर पर जाँच कर के एक एक कर उनको अन्दर जाने की अनुमति दे रहा था। शायद केविन की भाँति एक व्यक्ति था जो १८ घंटों से लाइन में खड़ा था। अचानक एक व्यक्ति आया और वह सब से आगे एकदम दरवाजे तक पहुँच गया। अचानक अफरा-तफरी मच गई। दरवाजे पर खड़ी एयर-होस्टेस गायब हो गई, जो कि अक्सर हो जाती है (हास्य), वह कम्प्यूटर पर बटन दबाती हुई जल्दी में टेलीफोन कर रही थी और एकदम अन्दर से एक बड़ी सी गाड़ी द्वार पर आकर रुकी जैसी कि अमरीका में यह बड़ी सी छ दरवाजों वाली गाड़ियाँ होती हैं, दरवाजे पर लाल गलीचा बिछाया गया और वह व्यक्ति जो सब से आखिर में आया था उसको एकदम उस गाड़ी में बैठा कर भेज दिया गया और फिर मानो वह एयर होस्टेस वापिस आकर एक एक कर के कार्ड पर निशान लगाने लगी।

आखिरकार वह केविन की तरह का व्यक्ति स्वर्ग के उस पावन द्वार तक पहुँचा। प्रभु बैठे हुए थे और दरबार सब नए नए व्यक्तियों से भरा था जो सब प्रसन्न और आराम में लग रहे थे। एक असन्तुष्ट कुण्ठित निराश आत्मा केविन की तरह (हास्य) वहाँ प्रभु के पास जाकर बोली, "प्रभु, मुझे एक प्रश्न पूछना है।" उन्होंने कुछ आश्चर्य से कहा "हाँ पुत्र पूछो" । क्योंकि अभी तक वहाँ किसी ने प्रश्न नहीं पूछा था। केविन ने शिष्ट होने के नाते यह नहीं कहा कि हर चीज तो कभी न कभी पहली ही बार होती है परन्तु मन में सोचा होगा क्योंकि प्रभु मुसकुराये। फिर केविन ने कहा, "प्रभु, मै अभी अभी पृथ्वी से अपनी शिक्षा समाप्त कर के आ रहा हूँ और जैसा कि आप को पता है वहाँ कितना लालच, बुराइयाँ, लूट-मार, भ्रष्टाचार है और मै कितनी

कठिनाई के पश्चात् आखिर यहाँ पहुँचा हूँ। अठारह घंटे मुझे बाहरी द्वार पर लाइन में खड़ा रहना पड़ा, अन्दर आने के लिये। अब मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि यह एक व्यक्ति अचानक आया इसका विशेष स्वागत किया गया, दरवाजे तक विशेष बड़ी गाड़ी लेने आई और उसे एकदम सीधा आप तक पहुँचा दिया गया। जबकि मैं ठण्ड में, बरफ में, अठारह घंटे तक आपके दर्शन के लिए खड़ा रहा। आपके राज्य में यह कैसे हो सकता है ?"

प्रभु मुसकुराये और बोले, "केविन, तुम्हें पता है कि मेरे पास तुम्हारे जैसे लाखों व्यक्ति प्रतिदिन आते हैं। वह व्यक्ति पृथ्वी पर अत्यधिक धनवान व शक्तिशाली व्यक्ति था और ऐसा व्यक्ति शायद मेरे पास करोड़ों साल में एक बार आता है। क्या तुम्हारे विचार में उसे विशेष सम्मान नहीं मिलना चाहिए था ? (हास्य) इसी कारण उसकी उपस्थिति पर मैंने विशेष लाल गलीचा बिछाया और अपनी व्यक्तिगत गाड़ी उसे लाने के लिये भेजी।"

सो आपने देखा कि शक्ति व समृद्धि से छुटकारा पाना कितना कठिन है। यह दोनों हमारी सबसे बड़ी दुश्मन हैं। वासना बेचारी तीसरे नम्बर पर आती है। बिना शक्ति व धन के हम लालसा पूर्ण नहीं कर सकते। सो यह परम्परा रही है और यही सत्य है कि धन्य आत्मायें सदैव गरीब स्थलों पर जन्म लेती हैं और उनमें भी गरीब घरों में। इसका उदाहरण लालाजी व बाबूजी का पृथ्वी पर अवतरण है।

भारत, जैसा कि आप जानते हैं, पृथ्वी के अत्यधिक गरीब देशों में से है। और आप में से जिसने फतेहपुर या शाहजहाँपुर देखा है उन्हें पता है कि वह शायद सब से गन्दी जगहों में से हैं। परन्तु भारतीय परम्परा में माना जाता है कि कमल कीचड़ में ही खिलता है। उसी भाँति जीवन की गन्दगी व कीचड़ से एक बुद्धिमान व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक ज्ञान को सोख लेता है। वह कमल ऊपर के साफ पानी में बढ़ता है और फिर ऊपर ही सूर्य की रोशनी में खिल उठता है। इसी प्रकार यह महान सन्त व आत्मायें भी गरीबी के वातावरण में जन्म लेती हैं।

पहले प्रश्न पर पुनः वापस आते हुए मैं फिर कहूँगा, "सन्त बनो और जानो।" बिना दुःख, पीड़ा, बीमारी व गरीबी के सन्त नहीं बना जा सकता। इस सत्य को पहचानते हुए और जीवन के दुश्चक्र के बाहर निकल जाने की इच्छा से वे कहते हैं "मैं लाखों जीवन क्यों जीऊं ?" इससे तो अच्छा मुझे उन सब का दुःख व पीड़ा इसी जन्म में दे दो ताकि मेरा सदैव के लिये छुटकारा हो जाय। यह सन्तों की बुद्धिमत्ता है।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य व नैतिकता के विषय में बतायें और उसका वैवाहिक जीवन में क्या महत्व है ?

उत्तर—यह बहुत लम्बा है। मैं केवल एक इशारा करना चाहूँगा, बाकी आप स्वयं शिक्षित व समझदार हैं। मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि नैतिकता का सम्बन्ध क्रिया के क्षेत्र से है। जब हम अपने क्षेत्र की सीमा को लाँघ जाते हैं तो अनैतिक हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य का सन्दर्भ एक बहुत ही सीमित क्षेत्र के क्रियाकलाप से है। बाकी आप स्वयं समझ लें।

धन्यवाद।

फिशगार्ड, वेल्स

२४-२८ अगस्त १९८७

एक पद्धति

कई बार जैसा, आपको ज्ञात है, हम लोगों को, पूजा में एकदम ऐसा-सिर बिलकुल झुका हुआ-देखते हैं, यहाँ तक कि दर्द होने पर आप जागृत अवस्था में आते हैं; मुझे स्वयं ऐसा कई बार हुआ है। यह एक अच्छी स्थिति है।

पारम्परिक योग और यह दोनों भिन्न हैं। या तो आप ज्ञान के आधार पर चलिये या अपने अनुभव के। हम दोनों को गड्डमड्ड कर देते हैं। हम कहीं पर अनापशनाप पढ़ लेते हैं कि योगी को समाधि में जाते समय एकदम सीधा तन कर बैठना चाहिये और फिर हम कहते हैं कि "आप ऐसा क्यों नहीं करते।" यह तो ऐसा है जैसे तन्दूरी मुर्गे के बारे में पढ़ कर आलू खाया जाय और फिर कहा जाय कि, यह तो एकसे नहीं हैं, इसी प्रकार वह भ्रान्तिग्रस्त हो जाते हैं।

इसी कारण कहा जाता है कि विभिन्न विचारधाराओं व तकनीक से भ्रान्ति व गड़बड़ हो जाती है उदाहरणार्थ इसी कारण राधास्वामी मतानुयायी अपने भक्तों को अन्य पुस्तकें पढ़ने की अनुमति नहीं देते। जैसे एक पौधा जब छोटा होता है तो हमें उसकी गाय, भैंस, बकरी, वायु आदि से रक्षा करनी पड़ती है। परन्तु जब वह विकसित होकर पेड़ हो जाता है तो उसे कोई नहीं हिला सकता। इसी प्रकार पुस्तकें पढ़ने का समय भी पर्याप्त प्रगति के पश्चात ही है, जब हम और चीजों से प्रभावित न हों। परन्तु अपनी उत्सुकता के वश में होकर हम जिस दिन ध्यान आरम्भ करते हैं उसी दिन सूफी ध्यान, इस्लामिक ध्यान, बौद्ध ध्यान, ईसाई ध्यान और एक हजार एक प्रकार के हिन्दू ध्यान के विषय में पढ़ते हैं। फिर पाश्चात्य लोगों की भाँति हम बौद्ध आसन, सूफी श्वासक्रिया, हिन्दू ध्यान पद्धति और साथ में कोई पाश्चात्य रहस्यवादी गुरु, इन सबको एक साथ मिला लेना चाहते हैं। अब, इससे कैसे काम बनेगा ?

मेरा सुझाव यह है कि कोई भी अभ्यासी जब तक वह छः वर्ष तक अभ्यास न कर ले अपने साहित्य के अतिरिक्त और कुछ न पढ़े। इसलिये नहीं कि हम साम्यवादियों की भाँति शिक्षा देना चाहते हैं, परन्तु जब तक

हममें इस अवस्था में पर्याप्त दृढ़तापन न आ जाये कि हम समझ सकें कि हम क्या कर रहे हैं और क्यों, तब तक सदैव यही निष्कर्ष आता है कि—"बौद्ध भी यही बात कहते हैं।" बेशक सब वही बात कहते हैं जैसे कि सब दुकानें यही कहती हैं कि हमारा माल बढ़िया है। क्या आपने कोई ऐसी दुकान देखी है जहाँ लिखा हो "हमारा माल घटिया है यहां से मत खरीदिये।" हमें सावधान रहना है। सावधान इस अर्थ में कि केवल एक का अनुसरण करिये—मैं यह नहीं कहता कि केवल सहज मार्ग का अनुसरण करिये। अगर सूफी मार्ग पर चलना है तो केवल सूफी साहित्य पढ़िये, उसी का अनुसरण करिये, उसे परखिये, फिर चाहे उसे अपनाइये या छोड़िये। एक समय में एक का ही अनुसरण करिये। होमियोपैथिक दवाई लेने पर केवल होमियोपैथिक ही लीजिये, अंग्रेजी दवाई लें तो केवल अंग्रेजी ही लें। सब कुछ मिला कर खिचड़ी मत बनाइये।

रेखाबद्धता, अलगाव और मिलाप

रॉस के लेख में दो बहुत महत्वपूर्ण विचार हैं, एक है रेखाबद्धता के विषय में। अब हमारी पश्चिमी बौद्धिक धारणा में रेखाबद्धता की समस्या हमेशा रहती है। अनुक्रमण, एक के बाद एक घटना का घटित होना फिर एक कारण व परिणाम की रेखा बन जाती है मानव चेतना में जिसे तोड़ना अत्यधिक कठिन है। एक धारणा कि हर परिणाम का कारण होगा, और हर चीज का परिणाम अवश्य होना चाहिये। चूँकि मैं भी जवानी में इस पाश्चात्य बुद्धिवाद से प्रभावित था इसलिये मेरे साथ भी यही समस्या थी। बाबूजी ने एक बार मुझसे कहा कि बिना परिणाम भी कारण हो सकते हैं और बिना कारण के परिणाम। अब इसको समझना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार हमारे अनेक बन्धन हैं जिनसे हम जूझ रहे हैं। शारीरिक बन्धन तो हैं ही जिनको हम नहीं तोड़ सकते। (टेप टूटा हुआ है) सो, दो दरवाजों से चार दरवाजों वाली फिर छै दरवाजों वाली बड़ी गाड़ियाँ। अतः अच्छा होने की अमरीकी धारणा आकार में बड़ा होने से जुड़ी है। उनमें गुण की भावना समाप्त हो कर केवल आकार की धारणा रह गई है। जितना बड़ा सन्तरा होगा उतना ही अच्छा होगा। जितना बड़ा टमाटर होगा उतना ही अच्छा होगा। अमरीकी मानस में विकास का भाव केवल शारीरिक आकार व परिमाण, केवल तीन आयामों तक सीमित रह गया है। बाकी सब आयामों के विषय में क्या ? चौथा आयाम समय या पाँचवां व छठा आयाम क्योंकि हिन्दू दर्शन छै आयामों की बात करता है। समय का आयाम शारीरिक विकास से ही जुड़ा हुआ है। मेरा मतलब जैविक विकास से है। जब टमाटर बढ़ता है तो वह समय में भी बढ़ रहा है-जब से वह पेड़ पर एक कली के रूप में आया और जब तक पूरे टमाटर के रूप में तोड़ लेने लायक होने तक पूरा पक नहीं जाता। सो स्थान से सम्बन्धित तीन आयामों के साथ समय का आयाम भी है। अतः यह रेखाबद्ध कैसे हो सकता है। अगर हम स्वयं का मामला लें तो हमें पाँचवें व छठें आयामों में भी बढ़ना है। गणित एक "न" परिमाप की भी बात करता है, परन्तु वह केवल एक सम्भावना है जो कि न के बराबर है। अब यह तो बुद्धि के साथ खिलवाड़ है। परन्तु रहस्यवादियों

ने देखा है कि अस्तित्व के छै आयाम हैं और जब तक आप इन सब में बढ़ने को तैयार नहीं...........

अब हमारा भौतिक त्रिआयामी विकास हमारे वयस्क होने पर रुक जाता है, किसी स्थिति पर आकर यह अवश्यम्भावी है और इस पर हमारा नियंत्रण न के बराबर है। अच्छा भोजन अच्छी खुराक से शायद आप अपने शारीरिक विकास के शिखर तक पहुँच सकते हैं पर उसके आगे तो नहीं जा सकते। जब हम उससे आगे बढ़ना चाहते हैं तो हम एक मूर्खतापूर्ण दिखावा करते हैं जो भौतिकता की ओर उन्मुख और अतिरंजित है। एक स्थिति के बाद अधिक से अधिक व्यायाम और उसका कम से कम परिणाम होता है। मैं भी अपने विश्वविद्यालय में शारीरिक व्यायाम करता था। मैं बहुत नाटा था करीब ४ फुट ११ इंच और केवल ८८ पाउण्ड वजन और जैसा कि सदैव होता है लोग मेरी खिल्ली उड़ाते और छेड़ते। मेरे पिताजी ने सुझाया कि मैं भी व्यायामशाला में जाऊँ। मैं बहुत शर्मीला था इसलिये वह भी मेरे साथ गये और दो-तीन महीने उन्होंने भी व्यायाम में भाग लिया और जब मैं ठीक से करने लगा तो उन्होंने छोड़ दिया। अब पहले वर्ष मैं ४-११ से ५-१० तक पहुँच गया और मेरा वजन भी ८८ पाउण्ड से १४४ पाउण्ड। पर उसके बाद मैं अपनी मांसपेशियाँ नापता रहता था उन दिनों मेरा शरीर बहुत रोमानी व हट्टा कट्टा था।

प्रश्न—आप की उम्र क्या थी ?

उत्तर—अरे मैं १८ वर्ष का था। अब उसके आगे आप कुछ नहीं कर सकते। अब अगर मैं करूँ तो क्या करूँगा—कुछ नहीं। आप जानते हैं जो मैं कहना चाहता हूँ। मेरे भुजदण्ड की नाप १०.५ इंच से १५.५ इंच तो कुछ ही समय में पहुँच गई—एक साल में। वास्तव में उस वर्ष मुझे शारीरिक विकास के लिये प्रथम पुरस्कार भी मिला। वह व्यायामशाला कलकत्ता की सब से मानी हुई व्यायामशाला थी, बजरंग व्यायामशाला जो बालीगंज में थी। परन्तु उसके बाद एक इंच का दसवाँ हिस्सा बढ़ाना भी बहुत मेहनत का काम था। अर्थशास्त्र में "अपचयित सीमांत प्रतिलाभ का सिद्धांत" होता है। आप अधिक से अधिक प्रयत्न करते हैं और उसका प्रतिलाभ कम से कम होता जाता है। जब यह नियम लागू हो जाता है फिर करते रहने से क्या लाभ—आप एक घंटा व्यायाम से बढ़ाकर दो घंटे कर दें और इसी प्रकार बढ़ाते जायें। मेरा एक सहपाठी था जो ८ घंटे व्यायाम करता था और बाकी खाली समय का आधा समय शीशे के सामने भुजायें, सीना वगैरह निहारने में

लगाता था और वह भी उन पर तेल लगा कर ताकि अधिक सुन्दर प्रतिबिम्ब दिखाई दे। अब यह प्रत्यक्ष रूप से मूर्खता है। वह अपने मानसिक विकास को गवां रहा था जो विद्यालय में ही सम्भव था। वह कभी भी उस कमी को पूरा नहीं कर पाया, हाँ उसका शरीर अवश्य सुन्दर था जिसने शायद कुछ अधिक वर्ष तक उसका साथ दिया हो। आयु तो आखिरकार अवश्य ही अपना असर दिखाएगी। मैंने एक चीज देखी है। जो लोग बहुत जोरदार कसरत करते हैं जब वह उसे छोड़ देते हैं तो मोटे व भद्दे व ढीले ढाले हो जाते हैं या उन्हें पूरी उमर वैसी ही कसरत करनी पड़ती है।

अब इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे तुम एक हवा की चक्की जैसी किसी चीज पर सवार हो और गोल गोल घूमे जा रहे हो जिसपर से उतरना सम्भव नहीं। फिर वह ऐसी कोई चीज हो जाती है, जैसे तुम दो सीढ़ियाँ चढ़ते हो और तीन उतरते हो और चढ़ते उतरते रहते हो। यहाँ फिर रेखाबद्धता आ जाती है। अब अगर मैं अस्तित्व के एक ही आयाम का अनुसरण करता रहता हूँ तो वह उस आयाम में रैखिक अस्तित्व हो जाता है। परन्तु भौतिक नियम हमें बताता है कि वह देखने में रेखा जैसा लगता है परन्तु वास्तव में गोल है और हम जहाँ से आरम्भ करते हैं बार बार वहीं पहुँच जाते हैं।

अब यह विचार, जो आध्यात्मिक प्रक्रिया में लगे हुए हैं, उनके लिये मूल रूप से अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि अपने लक्ष्य व उददेश्यों को एक आयाम में सीमित न रखो चाहे वह कोई भी हो। अब अगर वह मानस है और आप सोचते हो कि मानसिक ज्ञान ही तुम्हें जो चाहिए वह सब कुछ दे देगा तो आप को कुण्ठा ही मिलेगी। अगर वह केवल शारीरिक है तो कोई लाभ नहीं क्योंकि उस आयाम में तो विकास का पूरा आश्वासन है ही। केवल आध्यात्मिक प्रगति में ही यह महत्वपूर्ण है। क्योंकि निम्न स्तर पर हर उपयुक्त स्थिति में विकास स्वतः होता है। शरीर का विकास होता है, बुद्धि उससे अधिक विकसित होती है और आत्मा उससे भी आगे विकसित होती है। जैसे एक छोटा पौधा बड़ा होकर पेड़ बनता है उसकी शाखाएं पत्तियां आदि जो कुछ उसमें हैं बढ़ते हैं। यह व्यवस्थित प्रगतिशील जैविक विकास है जो सभी आयामों में एक साथ विकसित होता जाता है।

उस लेख में एक और विचार था जो मुझे बहुत आकर्षक लगा—अलगाव और मिलन। "आध्यात्मिक विकास में एक पहेली यह है कि अलगाव और मिलन के बीच दिखाई देने वाली कठिनता और भी

अधिकाधिक बदलती जाती है। यह भी बड़ा उलझाने वाला एक जिज्ञासामय पहलू है कि साधारण मानवीय अस्तित्व में या तो हम अलग होते हैं या साथ होते हैं। या तो हम मित्र हैं या दुश्मन हैं, हैं न ? अब एक गुरु और व शिष्य का क्या रिश्ता होना चाहिये ? अब इसका आदर्श उदाहरण हमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन में मिलता है। अपने समय के हिसाब से वह अत्यन्त शिक्षित और संभ्रान्त वर्ग के व्यक्ति थे। वह विश्वविद्यालय के ग्रैजुएट थे, एक उच्च परिवार के थे जहाँ शायद कुछ पाश्चात्य प्रभाव भी था। एक बुद्धिवादी जो हर चीज को प्रश्नमय ढंग से देखते फिर स्वीकार करते। शायद थोड़े अहंकारी और स्वाभिमानी भी थे। और फिर एक दिन वह अपने गुरु रामकृष्ण के द्वार पर पहुँच गये। और रामकृष्ण हमारे बाबूजी की भाँति सीधे सादे, तन पर केवल एक धोती पहने, सदैव एक रहस्यात्मक दशा में कुछ कहते हुए जो बहुत कम लोगों को समझ में आता। जब यह लड़का उनके पास पहुँचा तो वह हर्षोन्माद से पूर्ण होकर बोले "मेरे पुत्र, तुम अब तक कहाँ थे, मैं कितने वर्षों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, मेरी आँखें तुम्हें देखने को तरस गईं, मेरा हृदय तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था, तुम कहाँ थे ?" अब यह १८, १६ वर्ष का लड़का जो पश्चिमी सभ्यता में शिक्षित हुआ था, जिसमें पृथकता व स्वतन्त्रता के विचार थे जिसे कोई छुए यह पसन्द नहीं था। रामकृष्ण ने उसे गले लगा लिया, दुलारा और अपने हाथों से खिलाना चाहा। विवेकानन्द में द्रोह उठा। 'इस आदमी को लोग सन्त कहते हैं। यह तो मत्तप्राय भावुक है जो मुझसे लिपटा जा रहा है। वह इसे सहन नहीं कर सका और चला गया।

२३ दिन के बाद वह फिर वापिस आया। रामकृष्ण ने सोचा था मैंने इसे हमेशा के लिये खो दिया वह कभी नहीं आयेगा और २३ दिन के बाद फिर नरेन्द्र जैसा कि उसको कहा जाता था, को देख कर वह और भी हर्षोन्मत्त हो गये और उसे प्यार कर उसका माथा सहला उसे खिलाना पिलाना चाहते थे। अब विवेकानन्द के साथ पहले यह हो चुका था और वह कुछ अभ्यस्त हो चुके थे, परन्तु पूर्ण रूप से इसे मानने में उन्हें समय लगा। जब रामकृष्ण ने उनकी प्रशंसा की तो बोले "तुम सप्त ऋषियों में से एक हो जिनका सारे विश्व व ब्रह्माण्ड पर आधिपत्य है और जो शाश्वत है। मैंने अपनी दृष्टि में उनमें से एक को छाया की भाँति गिरते देखा था।" शाश्वत उपस्थिति तो वहाँ है परन्तु जैसे चित्र में एक शरीर उस अस्तित्व से बाहर निकला और पृथ्वी पर आ गया और वह विवेकानन्द है। नरेन्द्र सोचते हैं यह व्यक्ति गुरु है ?

"मैं तो इसके पास उत्सुकतावश देखने आया हूँ और यह कहता है कि मैं सप्त ऋषियों में से एक हूँ, यह अवश्य पागल होगा !" यह विवेकानन्द की बौद्धिकता के लिये अत्यन्त कठिन था कि वह इस मनुष्य को स्वीकार करे। उनका हृदय स्वीकार करने के लिये व्याकुल था और मानस उसको नकार रहा था। मानस कह रहा था नहीं यह सत्य नहीं।

अब आप में से जिस किसी ने भी उनकी जीवनी पढ़ी है उन्हें पता होगा कि विवेकानन्द को कितना संघर्ष करना पड़ा और राम कृष्ण को उससे भी ज्यादा संघर्ष करना पड़ा। यहाँ उनके सम्मुख एक होनहार शिष्य था जो कि सारे संसार में अपने गुरुदेव का संदेश फैलाने वाला था, वह जो भारतीय बौद्धिकता तथा रहस्यवाद का देदीप्यमान सितारा बनने वाला था, उनसे महान व्यक्ति और कोई था ही नहीं। अब अगर वह किसी भी पल उन्हें छोड़ कर चले जाते तो रामकृष्ण ही नहीं परन्तु भारत भी उनके बिना निर्धन होता और वह शायद भारत सरकार के दफ्तर में एक क्लर्क होते सौ रुपये महीने पर। है न ?

यह विवेकानन्द के लिये अत्यधिक तनावपूर्ण था। एक तरफ उनकी बौद्धिक परम्परा, उनका बौद्धिक जीवन का तरीका जो कि उस समय के जाने माने बंगाली बुद्धिवादियों के संरक्षण में उन्होंने सीखा, दूसरी ओर उनका यह मूर्ख रहस्यवाद—जैसा कि उस समय उन्होंने सोचा था, जो उनके हृदय को खींचे जा रहा था। अब यह तनाव उन्हें चीरे डाल रहा था। हमारे साथ भी यही होता है। एक ओर बाबूजी हमारे दिल पर दस्तक देते हैं खींचते हैं दूसरी ओर हमारी बुद्धिवादी परम्परा चाहे वह पूर्व की हो या पश्चिम की, कहती है आध्यात्मिकता हमारे लिये क्या कर सकती है ? क्या हम अपने जीवन-यापन में न लगें ? क्या हम यह न करें ? क्या हम वह न करें ? चारी क्या अगर एक बालक बीमार हो तो हम ध्यान करें ? अब यह सब बुद्धिवादी प्रश्न हैं। हम भी उसी समस्या से गुजर रहे हैं शायद अधिक, शायद कम।

अब अगर आपने "मेरे गुरुदेव" पढ़ी है तो आपको मालूम होगा कि मुझे भी यही समस्या हुई थी जब मैं अपने गुरुदेव से मिला। मैंने सोचा यह छोटा सा व्यक्ति जो एक हड्डियों का ढाँचा है और अपने फटे पुराने कपड़ों में है मुझे क्या दे सकता है ? मुझमें यह अभिमान था कि मैं इतना लम्बा-चौड़ा व शक्तिशाली हूँ और यह तो कितने छोटे से हैं। जब आप एक छोटी सी नाव देखते हैं तो आप के मन में भी यही शंका होती है। जब आपसे कहा जाता है

कि "बैठो यह बिलकुल मजबूत है और तुम्हें दूसरी ओर पहुँचा देगी।" आप कहते हैं "नहीं नहीं, मैं अपने आप को इसके हवाले नहीं करूँगा मुझे तो पार जाने के लिये क्वीन मेरी या क्वीन ऐलीजाबेथ जैसा बड़ा जहाज चाहिए। हम मजबूती में नहीं, आकार में विश्वास करते हैं और भूल जाते हैं कि जितना बड़ा जहाज होगा वह नाव के मुकाबले में उतनी जल्दी डूब सकता है।

सो आप देखते हैं कि हम बड़ेपन के विचार से स्थायित्व के विचार पर पहुँच गये हैं। अब वह क्या चीज है जो मेरे पूरे अस्तित्व में स्थाई हो सकता है ? क्या वह शरीर है ? नहीं, क्योंकि शरीर तो मेरा साथी केवल इसी बार के लिये है। हो सकता है कि वह एक साल के लिये हो या ७० साल के लिये या ज्यादा से ज्यादा १०० साल के लिये—बाइबिल के १०० साल। क्या वह मनस है ? आप को तो पता ही है कि कितनी आसानी से वह बिगड़ सकता है। बुरे व गलत विचारों से, शराब से, दवाइयों (drugs) से; अतः वह हमारा स्थाई साथी नहीं। फिर क्या बुद्धि ? अगर मनस हमारा स्थाई साथी नहीं तो बुद्धि कैसे स्थाई काम कर सकती है।

एक प्रसिद्ध उपनिषद है जिसमें वर्णन है कि एक किशोर शिष्य गुरु के पास जाता है—पूर्वीय परम्परा में सिखाते नहीं परन्तु सीखने में सहायता करते हैं। तो गुरु उस शिष्य से कहते हैं कि जाओ ध्यान करो और तब आना। इस शिष्य को १०-१२ साल ध्यान करने के बाद लगता है कि भोजन ही सब से महत्वपूर्ण है क्योंकि सब उसी पर निर्भर है और उसी की तलाश में हैं, वही समस्या है और उसे कमाने के लिये हमें काम करना पड़ता है। वह अपने गुरुदेव के पास जाता है और कहता है कि "भोजन ही मूल तत्व है।" गुरु आनन्द पूर्वक मुस्कराते हैं क्योंकि वह जानते हैं कि वह ज्ञान की प्रथम सीढ़ी पर है। वह कहते हैं "हाँ पुत्र यह ठीक है परन्तु इसके भी आगे कुछ है, जाओ और पुनः ध्यान करो।" और यह उनका पुत्र जाता है और दुबारा ध्यान में बैठ जाता है और पुनः १२ वर्ष ध्यान के बाद वह कहता है "इस सब भोजन का क्या लाभ अगर मेरे में श्वास ही न हो। भोजन तो सब ओर भरा पड़ा है परन्तु अगर मेरा श्वास ही बन्द हो जाये तो इस सब भोजन का तात्पर्य ? वह सोचता है कि मुझे उत्तर मिल गया और वापस गुरुदेव के पास आता है और कहता है "गुरुदेव श्वास ही मूल तत्व है।" गुरुदेव आनन्दित होकर कहते हैं बहुत सुन्दर खोज है परन्तु इसके आगे भी कुछ है। वह फिर तीसरी बार १२ वर्ष के लिये ध्यान करता है और वापस आता है मनस् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं, यह मनस् ही है

जो मुझे बताता है कि भोजन कहां है, क्या है, उसे कैसे प्राप्त किया जाये।" गुरुदेव प्रसन्न होते हैं और कहते हैं तुम पास हो गये पर अभी फिर जाकर ध्यान करो। वह फिर अपनी खोज के साथ वापिस आकर कहता है "ज्ञान ही सब कुछ है। मनस् का कोई अर्थ ही नहीं अगर उसमें ज्ञान नहीं या वह बिगड़ गया है, सो "ज्ञान" ही मूल तत्व है। गुरु कहते हैं "अति सुन्दर पर फिर ध्यान करो।" अन्त में वह अपने विकास के अनुसार अन्तिम उत्तर लेकर आता है कि "परमानन्द" ही मूल तत्व है क्योंकि अगर मेरे पास भोजन है, श्वास है, ज्ञान है सब कुछ है परन्तु अस्तित्व का आनन्द ही नहीं तो वह अस्तित्व किस काम का। दुर्भाग्यवश उपनिषद वहीं पर समाप्त हो जाता है।

परन्तु मेरे गुरुदेव, हमारे गुरुदेव उसके भी आगे जाते हैं और कहते हैं कि "शांति के भी आगे क्या है ? परमानन्द के आगे क्या है ? कुछ तो अवश्य होगा, इस अंतहीन सृष्टि में अन्त नहीं हो सकता तो उसके भी आगे खोजो "अब उपनिषद, वेद जहाँ समाप्त हो जाते हैं सहज मार्ग वहाँ से आरम्भ करता है। केवल भौतिक, मानसिक, बौद्धिक व भावनात्मक रूप में नहीं परन्तु उससे भी आगे। सो सहज मार्ग में यह बीजरूप में अत्यधिक प्रबल विचार है कि प्रगति कभी, कहीं, किसी विशेष स्थान पर समाप्त नहीं हो सकती—भौतिक जगत में ? हाँ। एक मुर्गी इतनी ही बड़ी होगी इससे अधिक नहीं। एक बालक वयस्क होने तक ही बढ़ेगा उससे आगे नहीं। मानसिक जगत में वह उससे कम सीमित है। लोग जितना विचार रखते हैं उससे अधिक शिक्षित हो सकते हैं परन्तु वहाँ भी सीमाएं हैं। परन्तु आध्यात्मिक जगत में कोई सीमा नहीं, कोई भी वास्तविकता व मूल तत्व तक पहुँच सकता है।

अब अगर यह सब बातें हमारी समझ में आ जायें तो जो भौतिक अस्तित्व में हमारी व्यस्तता है वह समाप्त हो जायेगी। हम मानसिक व बौद्धिक अस्तित्व में भी अपना लगाव कम करके केवल उस अस्तित्व में पूर्ति खोजने की तलाश करेंगे जहां हमारा अनन्त की ओर बाधाहीन शाश्वत विकास होगा। अब यहां हम वही प्रयत्न कर रहे हैं वही बनने की चेष्टा कर रहे हैं। यह विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अब वहाँ यह मिलन व अलगाव का प्रश्न क्या है ? यह हमारी एक सामाजिक समस्या है कि या तो हम एक हैं या अलग हैं। कभी हम किसी व्यक्ति विशेष के बहुत करीब होना चाहते हैं और कभी हम किसी की ओर

देखना भी नहीं चाहते। अब यह सब हमारी आन्तरिक इच्छाओं द्वारा व बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होता है। जब हमें आवश्यकता होती है तो हम नजदीकी चाहते हैं और जब हमें आवश्यकता नहीं होती तो दूसरे व्यक्ति के साथ क्या हो रहा है हमें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं होती। अब आध्यात्मिक जगत में क्या सिद्धान्त होना चाहिये ? उसमें न मिलन न अलगाव परन्तु अस्तित्व की एकता है जो नजदीकी या दूरी दोनों के परे है। वह और भी आगे बढ़कर यह कहता है कि जब हम एक हैं तो अलग या साथ होने का प्रश्न कहाँ उठता है। तुम्हें पसन्द हो या न हो, अनुभव हो या न हो हम एक ही इकाई के अंश हैं। बाबूजी का अभिप्राय इसी से है जब वह सार्वभौम भाईचारे की बात करते हैं। अब हम वह भाई हो सकते हैं जो शायद ५० वर्षों तक न मिलें, परन्तु जब हम मिलते हैं तो जैसे हम कभी अलग थे ही नहीं। उस बीच के समय का हमारे सम्बन्ध पर कुछ असर ही नहीं पड़ता। जब हमारी मित्रता बहुत गहरी होती है तो बीच का समय चाहे वह ३० वर्ष हो या ४० वर्ष उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह एक समनिष्ठता है। भाइयों के बीच में वंशगत तथा लाभ की समनिष्ठता क्योंकि वह एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए हैं। मित्रों के बीच में वह मित्रता की समनिष्ठता है।

अब वह ऐसी क्या चीज है जो हमें शाश्वत रुप से अलगाव की भावना के बिना, हम अलग किये गये थे ऐसा भाव लिये बिना, सदैव साथ रख सकती है। चाहे हम इस जन्म में फिर कभी न मिलें, और शायद १७वें जीवन में जाकर मिलन हो जब हम एक दूसरे को पहचानें भी न, ऐसी दशा में वह क्या है जो हमें परस्पर बाँधे रख सकती है ? आध्यात्मिकता कहती है-प्रेम। हम उन सब पारिवारिक बाधाओं की सीमाओं के पार चले जाते हैं, वह भावनात्मक बन्धन जो हमें मित्र व प्रेमियों के रूप में बाँधते हैं, उन सब से परे उस मूल एकता की अवस्था में जहाँ अस्तित्व के सब सूत्रों में चाहे वह खनिज से, जन्तु से, वनस्ज्ञपति से, जीव से, देवदूतों से सम्बन्धित हो या ईश्वर से उन सब में उस एकता और प्रेम ही का वास होता है अब रैखिकता को आप केवल एक सीधी लाइन से भेद सकते हैं। परन्तु जब आपका हर आयाम में विस्तार होता है तो सब सीमाएं टूट जाती हैं। तब एक ही बार में हम वह सामञ्जस्य प्राप्त कर लेते हैं जो न केवल मेरे आन्तरिक व बाह्य के बीच, न केवल मेरे और समूचे ब्रह्माण्ड के बीच बल्कि मेरे और सृष्टिकर्ता के बीच भी सामञ्जस्य उत्पन्न कर देता है जो सब से महत्वपूर्ण है। और

यह सामञ्जस्य उपलब्ध कैसे होता है ? मैं हूँ, यह भूल जाने से। (टेप टूटा हुआ)

बाकी सब कुछ भी सतत स्मरण से होता है। मैं केवल उसका स्मरण करता हूँ। मैं उसकी ओर जा रहा हूँ, उसकी भाँति बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ और जब उस अनन्त में वह महिमावान विस्फोट होता है तो बचता है केवल **वह**। यह उस भाँति है जैसे बच्चों से एक प्रश्न किया जाता है। मुझसे भी किया जाता था और मैं बहुत गहराई से उसके ऊपर सोचता और कल्पना करता कि मैं दार्शनिक बनूँगा "मोमबत्ती को बुझाने पर उसकी रोशनी कहाँ चली जाती है ?" एक फूँक लगाते ही मोमबत्ती बुझ जाती है, पर रोशनी कहाँ गई ? मैं दार्शनिक होने का नाटक किया करता था। पढ़ाई का नुकसान करते हुए, उस पर गहराई से विचार करता रहता था। एक समय था जब मैं एस. राधाकृष्णन को बहुत पसन्द करता था जो आक्सफर्ड में दर्शन के प्रोफेसर थे। वह हर वर्ष एक महीने के लिये हमें पढ़ाने आते थे। उन दिनों मैं दर्शनशास्त्र का बहुत शौकीन था और उनकी भाँति दार्शनिक बनने की कल्पना करता। अंग्रेज दार्शनिक सी.एम. जोड भी मुझे बहुत पसन्द थे। सो इस तरह के प्रश्न न केवल मेरे दिमाग में घूमते रहते परन्तु जैसे मुझे उनकी सनक सवार हो जाती। यह कुछ ऐसा कहने के समान है कि "मृत्यु के बाद जीवन कहाँ जाता है ? क्या वह इस अर्थ में कहीं चला जाता है जैसे कि वेल्स छोड़ कर इंगलैंड या स्कॉटलैंड वापिस चला जाये या आयरलैंड व भारत चला जाये ? गुब्बारे को खोलकर पिचका देने पर हवा कहां चली जाती है ? क्या वह वहीं रहती है या कहीं चली जाती है ? जिस विचार को मैं भूल जाता हूँ उसका क्या होता है ? (हास्य) क्या वह कहीं चला गया है और जब मैं कहता हूँ कि मुझे याद आ गया तो कहाँ से आता है ?

अब जब मैं कहता हूँ कि मेरा आध्यात्मिक रूप से विकास हुआ है, जो मैं था उससे लेकर जो मुझे बनना चाहिये उस तक, तो यह विकास कैसे हुआ ? और किस आयाम में हुआ है ? आरम्भ में हम सोचते हैं कि यह विस्तृत होकर सारे संसार को ढक लेगा। इसे हम अपनी सहज मार्ग शब्दावली में भी प्रयोग में लाते हैं। यह देखने का एक नजरिया है। अब ब्रह्माण्डिक ब्रह्माण्ड-चेतना का अर्थ यह नहीं कि वह चेतना जो कुल मिलाकर पूरे ब्रह्माण्ड के बारे में जाने। हमें केवल अंशों से उसकी चेतना है। हम एक समय में एक ही चीज देख सकते हैं। अति आधुनिक यन्त्र भी

बिन्दु-बिन्दु करके ही या एक एक लाइन कर के ही देख सकते हैं जैसे कि लेखन में हम लिपि प्रयोग करते हैं वह संयोजित चित्रण है न कि वास्तविकता का एक इकाई के रूप में एक समग्र चित्रण। तो, संसार मुझे किसी पहेली के हल के तौर पर एकत्रित आड़े तिरछे टुकड़ों के रूप में नहीं बल्कि एक पूर्ण समेकित इकाई के रूप में कब दिखाई दे सकता है ? तभी जब मैं यह अनुभव करूँ कि मैं स्वयं ब्रह्माण्ड हूँ। जब मोसेस (Moses) जलती हुई झाड़ियों से पूछता है कि "मैं अपने लोगों से क्या कहूँ कि तुम कौन हो ? तो उत्तर आता है "मैं वह हूँ जो मैं हूँ।

बाबूजी से एक बार पूछा गया था "ईश्वर कौन है ? वह बोले "ईश्वर और कौन हो सकता है सिवाय ईश्वर के।" ईश्वर के अलावा और कौन ईश्वर हो सकता है ? जैसे रोसेलिन के अलावा और कौन रोसेलिन हो सकती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड को ब्रह्माण्ड के अलावा और कौन देख सकता है ? क्योंकि ऐसे में उसे अंशों की चेतना नहीं रहती। जैसे हम कहते हैं "मैं हूँ" अब मैं यह नहीं कह रहा कि "मेरा एक पेट है, लिवर है, अंतड़ियाँ है, दिल है, गुर्दे हैं जो कभी-कभी मुझे परेशान करते हैं।" अब मैं जिन इकाइयों से बना हूँ उनको एकत्र कर के उनका चित्रण नहीं करता परन्तु मेरी चेतना मुझे बताती है कि मैं अपने आप में एक इकाई हूँ। यह बचपन, जवानी, अधेड़ावस्था व वृद्धावस्था तक रहता है जब तक मृत्यु नहीं आती। "आप कौन हैं ?" मैं "रौस हूँ" अब आप चाहे एलबम में अपने बचपन की कोई फोटो देखें या अपने शारीरिक व्यक्तित्व की विभिन्न आकृतियों में से कुछ देखें। यह "मैं" मैं हूँ का विचार पूरे दौर में रहता है। वह कौन सी आश्चर्यजनक चीज है जो कहती है यह मैं हूँ। यह भी मैं हूँ, यह भी मैं हूँ। वह है, मैं स्वयं की चेतना।

अब जब इस स्वयं की चेतना का विस्तार होता है तो मैं कह सकता हूँ "यह जो तसवीर में व्यक्ति दिखाई दे रहा है वह मैं हूँ, यह जो संसार का अंश तुम्हें दिखाई दे रहा है वह भी मैं हूँ और यह जो पूर्ण संसार दिखाई दे रहा है वह भी मैं हूँ।" अब यह वही कह सकता है जिसका विस्तार पूरी सृष्टि में हो चुका है और उसके लिये सृष्टि एक इकाई, एक व्यक्तित्व और अपने आप में एक विशिष्ट अस्तित्व की चेतना है।

अब अगर आप ब्रह्माण्ड के बारे में छोटी-छोटी इकाइयों व टुकड़ों को जोड़ कर जानने का प्रयत्न करें, थोड़ा सा नक्षत्रों के बारे में, थोड़ा सा भौतिकी के बारे में, थोड़ा सा जीवों के बारे में तो हम एक सुगठित सामान्य

जैविक चित्र बना लेते हैं और हम अधिक से अधिक केवल एक वैज्ञानिक रह जाते हैं। परन्तु जब हम इस समस्या का समाधान आन्तरिक रूप से करते हैं, तो हम उन विशिष्ट इकाइयों को भूलकर चाहे वह विज्ञान की हों या कला या मानवीय विषयों की, असलियत के आन्तरिक मूल्यों के सन्दर्भ में विकास देखते हैं और तभी हम देखते हैं कि यह कोई और ही चीज है।

पुनः आध्यात्मिकता हमें यह सिखाती है कि अपने अन्तःकरण में देखो। अपने आप को आइने में मत देखो, अपना मूल्यांकन मानसिक विकास या उसके कारण मिलने वाली डिग्रियों से मत करो, अपने को मिलने वाले नोबेल पुरस्कार से मत करो। अपनी शक्तियों का मूल्यांकन तुमने जो कैनवस पर बनाया है या पत्थर और स्टील की इमारतों में बनाया है या संगमरमर पर जो कलाकृति बनाई है, उससे मत करो। अपने अन्दर प्रवेश करो, अपनी जड़ों तक जाओ, अपने मूल अस्तित्व की जड़ों तक जाकर देखो जहां पर अन्तिम रूप से तुम खिलोगे। इसी कारण हम अपनी अन्तरात्मा पर अपने हृदय में ध्यान करते हैं जो हमारे अस्तित्व का मूल है। हृदय में, हृदय के अन्तरतम में, उस दिव्य प्रकाश के स्फुलिंग को हम अपने ध्यान का लक्ष्य मानते हैं। यह कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण और जीवनप्रद विचार व धारणायें हैं जिन्हें रौस ने बहुत उचित ढंग से कुछ वाक्यों में हमारे सम्मुख रखा है। मुझे बहुत प्रसन्नता है और मैं उसके प्रति बहुत आभारी हूँ।

भाइयों व बहनों, मैं कहना चाहूँगा कि हम गुरुदेव का साहित्य अधिकाधिक पढ़ें और ऊपरी स्थल को भेद कर उसके अन्तरनम तक पहुँचने का प्रयास करें कि शब्दों के पीछे क्या तात्पर्य छिपा है, क्योंकि सहज मार्ग एक सार्वभौम पद्धति है। हमारे यहाँ सब प्रकार के लोग हैं: श्वेत, काले नीग्रों, क्रिश्चियन आदि आदि। यह सार्वभौम इसलिये नहीं है कि इसमें सभी धर्मों व सम्प्रदायों के थोड़े-थोड़े लोग हैं। परन्तु यह सार्वभौम इसलिये है कि यह संसार को एक वस्तु के रूप में लेता है जिसे हमें अवश्य समझना चाहिये। सर्वव्यापी प्रेम। "ओ बाबूजी सबको प्रेम करते हैं" किस अर्थ में ? क्या इसका यह अर्थ है कि बाबूजी रोसेलिन, प्रतिमा, हमारा बेन्जी, डेरियो उसकी पत्नी आदि सब को व्यक्तिगत रूप से प्रेम करते हैं ? यह सम्भव नहीं। और क्या इसका यह अर्थ है कि अगर यहाँ किसी की मृत्यु हो जाती है, या वहां कोई बीमार हो जाता है या किसी और परिवार में कोई सन्तुलन खो बैठता है तो बाबूजी उन्हें प्रेम नहीं करते ?" अरे बाबूजी मुझे इतना प्रेम करते थे तब चारी यह कैसे हो गया ?" क्या इसका यह अर्थ है कि अब

बाबूजी मुझसे प्रेम नहीं करते ? और इस प्रकार की शंकायें और उलझने हमारे अन्दर प्रवेश कर जाती हैं।

सार्वभौम प्रेम का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ केवल यह हो सकता है कि वह प्रेम जो एक सार्वभौम व्यक्ति में होता है। मैं अपने पेट से प्रेम नहीं करता परन्तु उसका ध्यान रखता हूँ। मैं सम्भवत: अपनी तिल्ली (spleen) से प्रेम नहीं कर सकता क्योंकि मुझे पता ही नहीं कि वह कहाँ है-एक साधारण मनुष्य को इसका ज्ञान ही नही कि वह कहाँ होती है, जब तक कि उसमें कुछ खराबी न हो। जब तक कुछ गड़बड़ न हो तब तक हमें पता ही नहीं होता कि हमारे अन्दर क्या क्या है। अधिकतर तो, जब हमें हृदय का दौरा पड़ता है तब हमें हृदय का ज्ञान होता है। किसको अपने मस्तिष्क का पता है ? पर फिर भी हमारा अस्तित्व है। हमारे अन्दर सब कुछ परस्पर सामञ्जस्य के साथ कार्य कर रहा है। व्यक्ति की अपने बारे में 'स्व' के रूप में एक समग्र चेतना कुछ कुछ उस सार्वभौम प्रेम को प्रतिबिम्बित करती है जो उसके सृष्टि कर्ता को समस्त ब्रह्माण्ड के लिये होगा जो उसी का अंग है और जो उसके अन्दर भी है और बाहर भी ?

वही पाने का प्रयत्न हम कर रहे हैं। अगर आपकी इच्छा हो तो हम क्रिश्चियन प्रेम की नकल कर सकते हैं, अपने पड़ोसी को अपनी भाँति प्रेम करो आदि आदि। इस भाँति शुरुआत करने पर हम शायद अधिकाधिक २००, ३०० लोगों को प्रेम कर पायेंगे। वह भी केवल ऊपरी सतह पर। जैसे बीमार होने पर किसी की थोड़ी सेवा करना, किसी गरीब को कुछ पैसे दे देना या फिर जाड़े में कुछ जरूरतमंदों को गरम कपड़े बाँटना आदि। इस भाँति तो हम ऊपरी सतह भी नहीं छू पा रहे हैं। तो इस प्रकार हम क्या प्राप्त कर सकते हैं अब यहाँ हम क्या करते हैं ? हम एक व्यक्ति को अस्तित्व के उस स्तर तक ले जाते हैं जहां वह सुख-दुःख दोनों से ऊपर उठ जाता है, जीवन व मृत्यु से ऊपर उठ जाता है रोग या नीरोगता से ऊपर उठ जाता है। पुराने आध्यात्मिक महापुरुषों ने कहा है कि "इस द्वैत के संसार में जहाँ एक है वहाँ दूसरे का वास अवश्य होगा। इसके बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता।" अगर एक स्थान पर सूर्य की रोशनी है तो दूसरे स्थान पर तो परछाईं होगी ही, रोशनी जितनी तेज होगी परछाईं उतनी ही गहरी भी होगी। सूर्यास्त के समय न रोशनी होगी, तो न ही अँधेरा होगा। अगर आज आप प्रसन्न हो तो कल दुःखी भी होंगे और अगर आज दुःखी हैं तो कल प्रसन्न होने की सम्भावना भी है। अगर इस समय रात है

तो शीघ्र ही दिन भी होने वाला है।

अब हम क्या कर रहे हैं ? हम इस द्वैत के संसार में अपने जीवन में एक को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरे को नहीं। यह ऐसा कहने के तुल्य है कि मुझे केवल एक सिरे वाली छड़ी चाहिए। क्या ऐसी कोई छड़ी है ? क्या आप कोई कागज का टुकड़ा ढूँढ़ सकते हैं जिसकी केवल एक तरफ हो ? आप केवल एक का उपयोग कर सकते हैं परन्तु कोई भी ऐसा कागज नहीं बना सकते जिसकी एक तरफ ही हो या ऐसा सिक्का जिसकी एक तरफ ही हो या ऐसी छड़ी जिसका एक सिरा ही हो। द्वैत के संसार में यह असम्भव है। इसी भाँति यह भी असम्भव है कि केवल स्वास्थ्य हो बीमारी न हो, केवल बुद्धिमत्ता हो मूर्खता न हो, केवल अमीरी हो गरीबी न हो।

बुद्धिमान व्यक्ति कहता है, दोनों को भूल जाओ। धन दौलत को भी भूल जाओ, गरीबी को भी भूल जाओ। हम यहाँ न इसके लिये हैं न उसके लिये, दोनों के ऊपर उठो। न स्वास्थ्य, न बीमारी, दोनों से ऊपर उठो। अगर आप केवल स्वास्थ्य को थामे हैं तो आप बीमारी का भी स्वागत कर रहे हैं। इसी कारण हमें कई बार यह कठिन सत्य देखने को मिलता है कि जब कोई अत्यधिक स्वस्थ व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसकी तुरन्त मृत्यु हो जाती है जैसे कि यह बड़े बड़े भारोत्तोलक या लम्बी दौड़ के धावक आदि। और दूसरी ओर जो मनुष्य सदा थोड़ा बहुत अस्वस्थ रहता है, भली भाँति जीवित रहता है। जो सदैव बीमार रहता है उसे थोड़ा सा यहाँ दर्द या थोड़ा सा सिर दर्द, कल थोड़ा सा बुखार, इन सबसे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। परन्तु अत्यधिक स्वस्थ जरा सी तकलीफ से मोमबत्ती की भाँति बुझ जाता है।

यही दार्शनिक सत्य है, यही आध्यात्मिक सत्य है कि इस द्वैतयुक्त संसार को मत पकड़ो। एक को पकड़ कर दूसरे को छोड़ना सम्भव नहीं। क्योंकि वह एक ही सत्य के दो भाग हैं। अगर आप के पास दो सिरों वाली छड़ी है तो आप जहाँ भी जायेंगे उसे ले जाना पड़ेगा। छड़ी के किस सिरे से आपकी पिटाई होती है उ से क्या फरक पड़ता है, कभी अच्छे वाले सिरे से कभी बुरे वाले सिरे से। आप एक को अच्छा और एक को बुरा सोचते हैं परन्तु छड़ी ऐसा नहीं सोचती, वह तो बस छड़ी है। आध्यात्मिकता में हम यह और एक शिक्षा ग्रहण करते हैं कि इन दोनों को भूलकर दोनों से ऊपर उठो। अब यह एक आयाम का परिवर्तन है, न केवल हमारे विचार या

धारणा के तल पर बल्कि अपने उद्देश्य ग्रहण करने और हमारे प्रयत्नों के धरातल पर भी। जैसे एक हवाई जहाज जमीन से ऊपर उठ कर हवा में उड़ता है न कि पूरब-पश्चिम उत्तर- दक्षिण की तरफ उड़ता है वह एक तीसरे आयाम, अंतरिक्ष में जा रहा है। इसी प्रकार हमें चौथे, पाँचवें व छठे आयाम में जाना है। मुझे यही कुछ बातें कहनी थीं जिनका बीजारोपण आज सुबह रॉस की वार्ता ने कर दिया था।

मैं और लोगों को बोलने के लिये आमंत्रित करता हूँ, हमें अपने विचारों का आदान-प्रदान करना चाहिये। जैसे एक बीज तब तक केवल बीज ही रहता है जब तब उसे रोपा नहीं जाता। उसी प्रकार हममें से अधिकांश बीज ही रह जाते हैं हम अपने आप को पृथ्वी में बोने का जोखिम नहीं उठाना चाहते, ताकि उससे फूट कर वातावरण में उठ सकें, सूर्य का प्रकाश ग्रहण करें और वह फूल बनें, जो अपना बीज चारों ओर फैला सके। हम जो हैं वही रहना चाहते हैं। अपनी स्वतन्त्रता में सुरक्षित, अपने बन्द अस्तित्व में सुरक्षित, जहाँ हम अपने को अभेद्य मानते हैं। परन्तु जो अभेद्य रहना चाहता है वही सुभेद्य होता है। हमें इन विचारों को त्याग कर निडर, साहसी बनना चाहिए। मैं जितना बड़ा मूर्ख हूँ उससे बड़ा मूर्ख तो हो नहीं सकता (हास्य), है न ? तो लोग अगर मुझे मूर्ख सोचते हैं तो क्या फरक पड़ता है। क्या यह सम्भव है कि मैं जितना मूर्ख हूँ उससे अधिक मूर्ख बन सकता हूँ ? तो हम दिखावा, तथा लोगों से प्रशंसायें क्यों चाहते हैं। यह ऐसा है मानो हम आइने में देखकर एक सुन्दर प्रतिबिम्ब देखना चाहें जबकि मुझे पता है कि मैं अवर्णनीय रूप से असुन्दर हूँ। आइना तो जो मैं हूँ वही दिखायेगा। मेरे प्रति आपकी प्रतिक्रिया उसी शीशे की भाँति होगी। बल्कि इस प्रतिक्रिया द्वारा मैं देख सकता हूँ कि मेरे में क्या कमी है और हम कहाँ पर गलत हैं। जैसे हम शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखकर मेकअप द्वारा उसे सुधारने का या बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। आदर्श तरीके से श्रोताओं का उपयोग हमारे कार्य में सुधार ला सकता है। इसी को प्रतिपुष्टि (फीडबैक) कहते हैं। इस अर्थ में जब तक आप अपने आप को उनके सम्मुख नहीं रखेंगे उनसे फायदा नहीं उठा सकते। क्या आप बिस्तर में लेटे लेटे, शीशे से कह सकते है कि "शीशे शीशे मुझे बताओ मैं क्या करूँ ?" कोई उत्तर नहीं मिलेगा। मैं आप सब को निमन्त्रण देता हूँ कि साहस करिये—नहीं साहस की आवश्यकता नहीं, परन्तु अपनी झिझक को फेंक कर खड़े होइये और बोलिये।

न सफलता-न असफलता

मेरे विचार में यह समझना महत्वपूर्ण है कि असफलता है ही नहीं क्योंकि असफलता के विषय में सोचते ही हमारी सारी प्रेरणा बुझ जाती है। जब भी मैं कुछ करने की सोचता हूँ तो सफलता के पहले असफलता का विचार मेरे मन में आता है और मैं सामर्थ्यहीन हो जाता हूँ। हमें भूल जाना चाहिये कि असफलता जैसी कोई चीज है। अब होता क्या है ? कल्पना करिये कि मैं यहाँ से लन्दन जा रहा हूँ, अब मैं प्रत्येक क्षण लन्दन में होना चाहता हूँ, क्योंकि इसीलिये तो मैं वहाँ जा रहा हूँ—परन्तु उन प्रत्येक क्षणों में तो मैं लन्दन में नहीं हो सकता। मैं अभी उस ओर जा रहा हूँ। अब अगर मैं सोचूँ "ओह मैं अभी तक लन्दन नहीं पहुँचा इसलिये मैं असफल हूँ, क्यों न मैं गाड़ी से उतर जाऊँ" अब अगर मैं ऐसा कर बैठूँ तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। जब हम सफर पर होते हैं, जब तक हम अपने निर्धारित स्थान पर पहुँच नहीं जाते, अगर हम ठीक दिशा में हैं तो हम में यह समझ होनी चाहिये, विश्वास होना चाहिये, कि असफलता की कोई सम्भावना नहीं है। असफलता है क्या ? असफलता, लक्ष्य के निर्धारण और उसकी प्राप्ति के बीच के अन्तराल की मन द्वारा की गई व्याख्या है।

हम इस से डरते हैं—एक साधारण व्यापार जैसी चीज में भी हम पैसा लगाते हैं तो एकदम लाभ की आशा रखते हैं। यह उस व्यक्ति की भाँति है जिसने सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को मार दिया था। वह एक दिन में एक सोने का अंडा देती थी और उसे सब कुछ एक दिन में चाहिये था। उसने उसे काट मारा अन्दर देखने के लिये और वह मुर्गी मर गई। हमें हर एक क्षण को जैसा वह आता है वैसा ही स्वीकार करना सीखना है जो कुछ भी वह लाता है उसके साथ, अद्वितीय—जो सफलता या असफलता का पूर्वाभास नहीं परन्तु हमारी अपने लक्ष्य की ओर गति और विकास को दर्शाता है। क्योंकि यदि सफलता और असफलता की यह धारणा ली जाती है तो हम पुनः द्वंद्व में प्रवेश कर जाते हैं—जहाँ सफलता है, वहाँ असफलता भी होगी ही।

कोई यह पूछ सकता है कि आप सहज मार्ग में क्या प्राप्त करने का

प्रयत्न कर रहे हैं ? क्या सफलता नहीं ? नहीं। हम जिसके लिये यत्नशील हैं वह है विकास, प्रगति। जैसे आप एक बीज बोते हैं, उसमें अंकुर फूटता है फिर वह पौधा और पेड़ बनता है और फल देता है। कई बार महीनों लग सकते हैं; कई बार साल भी लग सकते हैं। जितना अधिक समय लगेगा हमें उतना ही धैर्य भी चाहिये। "ओह मैंने बीज बीस दिन पहले बोया था अभी तक अंकुर नहीं फूटा, मैं खोद कर देखूं क्या हो रहा है ?" हम उसे नष्ट कर देते हैं। हमें उसे धरती में डाल कर फिर पानी देना पड़ेगा और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कुछ निकल न आये। आध्यात्मिकता में बाबूजी इसी कारण कहते हैं "कल्पना करो कि हृदय में दिव्य प्रकाश है, इस विचार पर रुक कर प्रतीक्षा करो।" किसी व्यक्ति ने जो अधिक पढ़ा लिखा नहीं था बाबूजी से पूछा "ध्यान क्या है।" उन्होंने बहुत सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने पूछा, "अब अगर आज तुम मुझे अपने घर भोजन के लिये बुलाओ तो क्या करोगे ?" उसने कहा "गुरुदेव मैं पहले घर साफ करूँगा, देखूंगा सब कुछ ठीक-ठाक है, फिर मेरी पत्नी जो भी हमारी हैसियत है उसके अनुसार बढ़िया खाना तैयार करेगी और फिर जहाँ आपको खाना खिलाना है वहाँ प्लेट या पत्तल आदि बिछा कर आपके आने की प्रतीक्षा करेंगे।" बाबूजी ने कहा "बस, ध्यान में भी वही करना है—अपने हृदय की सफाई करो उसे शुद्ध करो, देखो सब ठीक-ठाक है, फिर मालिक के आगमन की प्रतीक्षा करो।"

प्रतीक्षा करना सब से कठिन कार्य है। हम एक क्षण के लिये प्रतीक्षा करने को तैयार हैं या दो मिनट या पाँच मिनट, बहुत धैर्य दिखाया तो आधा घंटा। आप को पता है कि कितने लोगों की गाड़ी इसीलिये छूट जाती है कि समय पर गाड़ी नहीं आई तो वह झट बस पर हो लेते हैं और जैसे ही वह बस में बैठते हैं वैसे ही गाड़ी आ जाती है। भारत जैसे देशों में यह आम बात है, जहाँ हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कई बार मैं अपने गुरुदेव का, अपने भाग्य का आभारी होता हूँ कि मैं भारत जैसे देश में पैदा हुआ। क्योंकि भारत में आप धैर्य सीख जाते हैं। आप को सब चीजों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, वहाँ पर तुरन्त कॉफी या तुरन्त चाय, तुरन्त-उड़ान या तुरन्त-मुक्ति (हास्य) का प्रश्न ही नहीं है। हमें हर वस्तु की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। दिन में हमें पानी की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, अपने बरतन लेकर लाइन लगा कर प्रतीक्षा करो कि कब पानी का ट्रक आयेगा ? ईश्वर जाने। बीमार होने पर चिकित्सालय जाओ वहाँ फिर लाइन में प्रतीक्षा करो—पता

नहीं डाक्टर कब आयेगा ? किसी को नहीं पता, शायद खुदा को भी नहीं। सब्जी की दुकान पर जाओ कुछ नहीं है प्रतीक्षा करो। दूध की बूथ पर जाओ प्रतीक्षा करो। रेलवे स्टेशन पर जाओ, वहाँ तो सब से अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कोई नहीं बता सकता कि गाड़ी कब आयेगी। वह एक घंटा लेट भी हो सकती है और २४ घंटे भी। मेरे विचार में इन पूर्व के अविकसित देशों में हमें सब से महत्वपूर्ण चीज सिखाई जाती है जो मनुष्य में अवश्य होनी चाहिये—वह है प्रतीक्षा की शक्ति। दुर्भाग्यवश मैं कहूँ तो पाश्चात्य समाज में तकनीकी व वैज्ञानिक प्रगति के कारण वह प्रतीक्षा करने की क्षमता खो बैठे हैं और साथ ही खो बैठे हैं धैर्य की क्षमता। इस कारण वह दो दिन, तीन दिन, पाँच दिन ध्यान करते हैं और फिर कहते हैं "चारी यह क्या है—मुझे कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा है।" यह तो जैसे बीज बोकर ऐसा कहने की भाँति है कि अभी तक अंकुरण नहीं हुआ।" हमें प्रतीक्षा करनी है। "नहीं नहीं, अखिर आप हमसे कितनी देर प्रतीक्षा की आशा करते हैं ?" "ठीक है, जब तक वह अंकुर दिखाई न पड़े, हैं न ?" अब यह सूर्य या चन्द्रमा तो है नहीं, जहाँ आप दस शतक पहले बता सकते हैं कि ७ जनवरी २०२६ में सूर्योदय किस समय होगा। क्या आप यह कर सकते हैं ? यहाँ आप भविष्य-वाणी नहीं कर सकते। वह प्रकृति के नियमों का पालन कर रहे हैं जो उन्हें चक्राकार गति प्रदान करते हैं जिसके विषय में आप पहले से ठीक ठीक बता सकते हैं। यहाँ आप जैविक विकास व जैविक ढाँचे के बारे में बात कर रहे हैं। वह कब पहुँचेगा ? किसी को नहीं पता। वह पूर्णता पर कब पहुँचेगा, किसे पता ? परन्तु हमें अपने लक्ष्य की ओर चलते रहना है; एक दृढ़ विश्वास के साथ, प्रगति के उस शिखर तक, बिना कहीं रुके। फिर आप देखेंगे कि खुदा स्वयं भी आपकी प्रगति को, या आपको ध्येय तक पहुँचने से, नहीं रोक सकता, क्योंकि जो चलता रहता है, वह अवश्य पहुँचेगा।

अब दुःख की बात यह है कि हम दिल हार बैठते हैं। मोहभंग हो जाता है। विश्वास खो बैठते हैं और कहते हैं "ठीक है, मैं कुछ और आजमाता हूँ। ताईची, या बुद्ध का ध्यान का तरीका या और कुछ।" यह पानी को २ मिनट गैस पर रखने जैसा है—"अभी नहीं उबला, " नहीं " पर उसको उबलने के लिये तो १० मिनट चाहिए", "ओह, पर मैं कितना रुकूं मुझे तो गाड़ी पकड़नी है।" और आपने उसे उतार कर दूसरी गैस पर रख दिया, अब तो और भी अधिक समय लगेगा। तो जो लोग इस प्रकार पद्धतियों को बदलते रहते हैं

उस बिल्ली की तरह जो एक गद्दी से दूसरी गद्दी पर बराबर कूदती रहती है, उन्हें आराम या कुछ भी हासिल नहीं होता। यह असफलता का विचार हम सब को परेशान करता है—"क्या मैं असफल हूँ ?" "क्या यह असफलता मेरे सामने खड़ी है ?" आध्यात्मिकता कहती है नहीं पुत्र, यहाँ न सफलता है न असफलता है यह कोई व्यापार नहीं है जहाँ मैं अपनी प्रगति अपनी सफलता व असफलता से नाप सकूँ। यह विकासोन्मुख प्रक्रिया है जहाँ मैं विकसित होकर कुछ का कुछ हो जाता हूँ। इसमें समय लगता है। अब, इस में समय लगे या न लगे परन्तु यह एक बेमुरौव्वत प्रक्रिया है, कभी न असफल होने वाली प्रक्रिया जो एक बार प्रारम्भ हो गई तो फिर लक्ष्य पर पहुँच कर ही रुकती है—यह विश्वास हममें होना चाहिये।

परिवर्तन का भय

उसने जो कहा है सही है। यह ऐसा कुछ है, जैसे जब हमें कूदना होता है तो हम किनारे तक तो जाते हैं पर फिर वापस हो जाते हैं। परिवर्तन के भय से यह वापस जाने की प्रवृत्ति रहती है जब तक कि आप उसमें माहिर न हो जायें। जैसे उसने घोंसले की छोटी चिड़ियों का और माँ चिड़िया का उदाहरण दिया। जब तक आप उन्हें बाहर आने के लिये फुसलाते रहो वह नहीं आते और केवल खुराक की प्रतीक्षा करते हैं। एक दिन जब जबरदस्ती बाहर ढकेला जाता है वह तभी निकलते हैं। अब यही समस्या है। जानवरों की दुनिया में सब को जबरदस्ती बाहर निकाला जाता है। चिड़ियों के बच्चों को, शेर के बच्चों को आदि आदि। फिर वह अपनी देखभाल सीख लेते हैं या समाप्त हो जाते हैं किन्तु यहाँ "समाप्त" होने की इजाजत नहीं है, इस कारण जबरदस्ती बाहर ढकेलने की भी इजाजत नहीं है।

अतः आप में एक आन्तरिक परिवर्तन आवश्यक है ताकि आप अपने भय को उतारकर फेंक सकें। अब आप ऐसा कुछ नहीं फेंक रहे हैं जो आप ने संचित कर रखा है। वास्तव में आप फेंक रहे हैं, भय। अब जो ऐसे सब के सामने बोलने को तैयार नहीं हैं, वह जब अन्त में बोलने योग्य हो जाते हैं तो वह अपने शब्दों के साथ तो कुछ बाहर नहीं फेंकते हैं शब्दों से तो केवल विचार व्यक्त किये जा रहे हैं। इस प्रक्रिया से, वस्तुतः जो आप फेंक रहे हैं वह है भय, बोलने का भय, आलोचना का भय, प्रतिक्रिया का भय। और यह अच्छा संकेत है कि आप के अन्दर से भय जा रहा है। इसका अर्थ है कि आप और आगे प्रगति के लिये तैयार हैं। क्योंकि जब तक भय है तब तक वास्तविक प्रसार हो ही नहीं सकती।

मुझे याद है कि किसी कारणवश मैंने गुरुदेव को लिखा कि मुझे किसी कारण से आपसे मिलने में भय लगता है। उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया "यह गुरु का भय अपने हृदय से निकाल दो अगर यह ज्यादा देर रहा तो तुम्हारा आध्यात्मिक विस्तार रुक जायेगा।"

हमें किसी का भी भय नहीं होना चाहिये। न केवल गुरुदेव का ही बल्कि किसी भी चीज का भय नहीं होना चाहिये। कहा जाता है कि अगर आप

कुत्तों से डरते हैं तो वह हमेशा आप को ही देख कर गुर्राते हैं और भौंकते हैं क्योंकि उनकी यह प्रतिक्रिया आपके भय के प्रति है न कि आपके प्रति। कहा जाता है कि अगर आप डरते नहीं तो आप जंगल के बीच से गुजर सकते हैं बिना शेर चीते आदि से डरे-चाहे जो हो। आपके डर के कारण दूसरी ओर से प्रतिक्रिया होती है। जब आप नहीं डरते तो उनकी भी प्रतिक्रिया नहीं होती वे आप पर गौर ही नहीं करते। अत: हमसे जो चीज बाहर होती है वह है—भय।

बोलने द्वारा सीखना

ऐसी की वार्ता पर एक टिप्पणी है। उसने कहा कि महत्वपूर्ण विषयों पर बोलना कितना कठिन है। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकतर हम जो बोलते हैं वह महत्वहीन होता है। है न ? अतः मनुष्यों में अधिकांश वार्तायें केवल समय की बरबादी हैं।

प्रश्न—हाँ, क्योंकि हम अपने आप को प्रगट करने से डरते हैं ?

उत्तर—हाँ, तो फिर हम बात करें ही क्यों ? अगर हम अपना मुँह खोलते हैं तो कुछ महत्वपूर्ण कहने के लिये खोलें। परन्तु हम हर समय चिड़ियों की भाँति चीं चीं करते रहते हैं बिना कुछ महत्वपूर्ण कहे। हमारी वार्ता इस स्तर तक गिर गई है। बहुत कुछ बोला जाता है, पर कुछ कहा नहीं जाता। और आजकल यही प्रवृत्ति बन गई है। आप यह विज्ञान के बड़े सेमिनार या गोष्ठी में जाओ, वहाँ कितने शब्द कहे जाते हैं, गिनो तो शायद लाखों। मेरे विचार में इसी कारण बाद में जो कुछ विवरण वितरित करने के लिये छपता है वह मूलस्रोत से प्राप्तकर्ता के पास केवल कूड़ेदान में फेंके जाने के लिये आता है। 'न्यूयार्क टाइम' अखबार की तरह जिसका ५६ प्रतिशत छपाई का कागज सीधा कागज की मिलों को वापस जाता है।

सो हमें क्या सीखना चाहिए—मेरे विचार में बोलने में समस्या यह होती है कि जो हम कहना चाहते हैं वह कैसे दबा ले जायें और जो नहीं कहना चाहते हैं वह कैसे कहें। साधारण प्रवृत्ति यही है। अब यहाँ दो समस्यायें हैं: जो हम कहना चाहते हैं उसे छिपाना उतना ही कठिन है जितना वह कहना जिसे कहने की आवश्यकता नहीं है। यह कुछ ऐसा है जैसे किसी भी भाषा में अनाप-शनाप बोलना। अब मान लीजिये आप से एकदम कहा जाये कि किसी भी भाषा में बेसिर-पैर की बकवास करिये। आप को बहुत ध्यान से विचार करना पड़ेगा कि क्या कहा जाये। मेरा आशय यह है कि साधारण चुटकुलों व अतिशयोक्तियों को छोड़कर एक सचमुच रचनात्मक जोकर बनना अत्यन्त कठिन कार्य है। रचनात्मक श्लेष बोलना वस्तुतः कठिन है। कुछ भी अनाप शनाप रच देना उतना ही कठिन है जितना किसी सर्कस में जोकर का कार्य करना जो सभी दक्ष कार्यक्रम दुहराता तो है पर एक

जोकर की तरह।

हमें दो समस्याओं का सामना करना पड़ता है। एक साधारण वक्ता को दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहली यह कि जो वह कहना चाहता है उसे दबाने का प्रयत्न करना और दूसरी यह कि उसके बजाय कुछ भी निरर्थक बोलना जो कि न केवल श्रोतओं को उबाता है बल्कि वक्ता को भी बोर करता है। जब आप जो कहना चाहते हो वही बोलते हो और फिर समाप्त कर देते हो तो उसमें तो कोई समस्या है ही नहीं। वह तो नल से पानी बहने के तुल्य है। उस में एक अभिव्यक्ति की आवश्यकता का दबाव होता है जो सब बाहर निकालता है। परन्तु यहाँ उस चीज को दबाने की आवश्यकता है जिसे कह जाना है और उसके स्थान पर कुछ भी अनाप-शनाप बोलने का प्रवाह निर्मित करना है जो आप स्वयं ही नियंत्रित नहीं कर पाते हैं। इसी कारण हम बोलने से घबराते हैं या वक्ता के रूप में फेल हो जाते हैं। आप सब को इन समस्याओं से परिचित होना चाहिये। जो कुछ हम कहना चाहते हैं उसे बोलने में तो कुछ भी कठिनाई नहीं।

मेरे विचार में आपकी समझ में आ गया होगा कि मैं क्या कहना चाह रहा हूँ। बोलना इसलिये कठिन नहीं होता कि हमारे पास कुछ कहने को नहीं है परन्तु जो कहना चाहिये वह हम कहना नहीं चाहते और जो नहीं कहना चाहिये या नहीं कहा जा सकता उसे कहने का हम प्रयत्न करते हैं। एक बार हम इसके ऊपर उठ जायें तो हम सब बोल पायेंगे। अच्छा वक्ता जैसी कोई चीज नहीं है। हाँ कोई प्रभावकारी वक्ता हो सकता है। प्रभावकारी वार्ता सीधे लक्ष्य तक पहुँचाती है। जब आप वह कहते हैं जो आपके हृदय में है तो श्रोता के हृदय में इसकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी। परन्तु अगर वह केवल बौद्धिक है तो दूसरी ओर प्रतिक्रिया का कोई क्षेत्र नहीं होगा। सो कृपया वही कहिये जो आप के लिये महत्वपूर्ण है।

दूसरा जो प्रश्न उठता है, वह यह है कि जो भी चीज हमारी अन्तरतम व आत्मीय है, जिनको हम अपने आन्तरिक व्यक्तिगत अनुभव कहते हैं, उसे हम औरों को नहीं दिखाना चाहते, इसका संकेत मुझे तब मिला जब मैंने बाबूजी की आत्मकथा पढ़ी। उन्होंने बहुत सरल व खुले तौर पर सब कुछ लिखा है, कुछ भी नहीं छिपाया, छिपाने का है क्या ? यह तो उस भाँति हुआ जैसे एक स्त्री चुपके से अपना श्रृंगार करती है फिर शीशे में देखती है कुछ दाग धब्बे तो नहीं रह गये। यह तो अपने आप को धोखा देना है, है न ?

दूसरी बात है कि जब हम इन विषयों पर आरम्भ करते हैं तो हमें ज्ञात

होता है कि साधारणतः सभी मनुष्यों के यही अनुभव हैं और हरएक यही सोचता है कि यह अत्यन्त आत्मीय व अद्वितीय है। वह इस अर्थ में अद्वितीय है क्योंकि तुम्हारे साथ जैसा हुआ है, ठीक उसी भाँति किसी और को नहीं हुआ। हम सब ने दुःख का अनुभव किया है। उतकण्ठा, तिरस्कार का अनुभव किया है। एक के अनुभव और दूसरे के अनुभव में क्या अन्तर है ? जब तक हम इन्हें एक पवित्र सम्पत्ति की तरह अपने हृदय के किसी गहरे कोने में छिपाये रहते हैं यह अत्यन्त व्यक्तिगत मालूम होते हैं जो किसी को बताने लायक नहीं प्रतीत होते हैं। परन्तु एकबार जब हम उसे कहना प्रारम्भ कर दें तो हमें मालूम पड़ता है कि सब कुछ वैसा ही है।

यह नदी के पानी की भाँति है। चाहे नदी का कुछ भी नाम हो पानी तो सब का एक सा है। "नहीं नहीं यह मिसिसिपी का पानी है, यह मिसौरी का पानी है, और यह तो नील का पानी है।" पानी तो पानी है। हो सकता है कि उसमें कुछ खनिज तत्वों का थोड़ा बहुत अन्तर हो जो केवल वैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, साधारण तौर पर बिल्कुल नहीं।

इन सब को प्रकट करने का क्या महत्व है ? हम देखते हैं कि मानव जीवन की गहराई में यह अनुभवों की एकता है। जिस भाँति हम जीवन का सामना करते हैं, जो हम जीवन से सीखते हैं, जो हम जीवन में अपेक्षा करते हैं और अन्त में जो जीवन से प्राप्त करते हैं उन सब के पीछे एक तरह की एकता है, समता है, और यह सब एक भाईचारे की भावना का निर्माण करने में अत्यन्त मूल्यवान है। हम अन्त में देखते हैं कि जो चीजें हमने अपने अर्धचेतन मन में दबा कर या छिपा कर रखी हैं, वह समान है। परा-चेतना स्तर पर हमारी जो आकांक्षायें हैं वह भी एक ही हैं और बीच में है चेतन स्तर। हम अपने विषय में जो कुछ अद्वितीय समझते हैं उसमें कुछ भी अद्वितीय नहीं है। उसमें सारी मानवता साझीदार है। हम सब एक हैं।

मेरे विचार में अपने रहस्यों या गुप्त अनुभवों को व्यक्त करने से हम एक दूसरे के करीब आते हैं। क्योंकि हमें ज्ञान होता है कि "अहा, हम सब उन्हीं अनुभवों से गुजर रहे हैं इसलिये हम एक हैं।" बजाय किसी विशेष वर्ग के आधार पर या किसी काल्पनिक आधार पर एकता लाने का प्रयत्न करने से तो यह बेहतर आधार है कि हम सब मानव हैं इसलिये हम एक हैं। वह क्या चीज है जो हमें एक बनाती है ? जिस भाँति हम जीवन जीते हैं उसके प्रति जैसी प्रतिक्रिया करते हैं वही हमारी बातचीत में दिखाई देती है। इस कारण यह महत्वपूर्ण है। मैं आप सब से प्रार्थना करूँगा कि अपने आप

को व्यक्त करने के इस साहसिक कार्यक्रम में भाग लें और जानें कि जो रहस्योद्घाटन हमने किया है वह वही है जो दूसरे कर रहे हैं। यह एक अत्यन्त कीमती और आनन्दकर और इससे भी बढ़कर शक्तिदायक अनुभव है। एक ही वार में वह हमारे उस एकाकीपन को भी दूर कर देता है जिसमें दुर्भाग्यवश हमने अपने आप को कैद कर रखा है: जब हम अपने को अद्वितीय सोचते हैं हमारे पास केवल अपने अनुभव हैं जिन्हें हम बोतल में बन्द कर, दबाकर रखते हैं। "मैं अद्वितीय हूँ, मेरा अद्वितीय है, इन्हें मैं दर्शाऊंगा नहीं, ऐसा सोचकर एक अलगाव पैदा कर देते हैं जो वस्तुतः है ही नहीं। उस बोतल को तोड़ने पर हम देखते हैं कि जिस पानी को हमने उस बोतल में बन्द कर रखा था वह नदी या समुद्र का ही एक हिस्सा था। जो वस्तु उसका अलग व्यक्तित्व बनाये हुए थी वह महज थी शीशे की एक बोतल जो आसानी से तोड़ी जा सक्ती है।

यह जानना आश्चर्यजनक रूप से आनन्दकर है कि हम अद्वितीय नहीं हैं, चाहे वह हमारे भय के क्षेत्र में हो या इच्छाओं व आकांक्षाओं में हो और चाहे हमारे पाप में। मैं अक्सर डा. वरदाचारी का यह किस्सा सुनाने के लिये लालायित हो जाता हूँ। शायद आप में से अधिकतर लोगों ने यह सुन भी रखा हो। हम करीब आधा-दर्जन लोग सत्संग के लिये बैठे हुये थे—एक नौजवान हमारे पीछे बैठ कर बार बार नाक से कुछ आवाजें निकाल रहा था। कुछ लोगों ने सोचा कि शायद उसको जुकाम है। सत्संग समाप्त होने पर वह वरदाचारी जी के पैरों पर गिर कर रोने लगा। वरदाचारी जी ने उससे पूछा "क्या बात है बेटा ? तुम ऐसे क्यों रो रहे हो ?" उसने उत्तर दिया, "मैं पापी हूँ मेरी सहायता करो।" वरदाचारी जी बोले "पापी ? मेरे मित्र यह तुम्हारे अहं का प्रतिबिम्ब है। तुमने ऐसा क्या किया है जो अद्वितीय है ? शराब की बोतल या औरत ? किस बेवकूफ ने यह नहीं किया है ? मेरे पास तुम तब आना जब तुमने कुछ अद्वितीय किया हो।" यह उनके शब्द थे।

और वास्तव में ऐसा अद्वितीय क्या है जो एक मानव कर सकता है और उससे पहले किसी और ने नहीं किया होगा ? चाहे वह पुण्य हो या पाप, ज्ञान हो या अज्ञान, हम सब उन्हीं अनुभवों से गुजरते हैं। और हर एक यह सोचता है कि वह अद्वितीय है। उसका व्यक्तित्व अलग है। उसके भय व समस्यायें उसके व्यक्तिगत हैं जिनको बताया नहीं जा सकता। मैं क्षमा चाहूँगा, परन्तु यह अभिशाप है विशेषकर अंग्रेज समाज का जिन्होंने अपने आप को इतना अलग-थलग कर लिया है कि उसने एक बीमारी का रूप

धारण कर लिया है। ऊपरी तौर पर वह किसी भी विषय पर विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। "कितना सुन्दर दिन है ? यह एक आम शुभकामना है। इसके आगे शायद ही कोई अंग्रेज बढ़ पाये। अंग्रेज कुछ और अधिक साहस करेंगे तो कह देंगे "आपका दिन शुभ हो।"

यह एक पीड़ादायक तथ्य है कि अंग्रेज लोगों ने इस सीमा तक अपने आप को बन्द कर रखना सीख रखा है। उन्हें अपने आप को खोलना होगा। मुझे स्मरण है कि मुझे उस समय बहुत दुःख हुआ था जब बाबूजी ने १६७२ में कहा था कि आध्यात्मिकता इंगलैंड में उस सीमा तक प्रगति नहीं कर पायेगी जितनी संसार के अन्य भागों में। इसमें अनेक-अनेक वर्ष लगेंगे। मैं हैरान था क्यों ? उसका कारण यही समस्या है। उसके दूसरे सिरे पर हैं भारतीय। आप ट्रेन में उसकी बगल में बैठ जाइये और वह आपको अपनी अन्तरतम की बातें बता देगा। अंग्रेज और भारतीय जैसे पेन्डुलम के दो सिरे हैं, जो एक दूसरे के पूरक हैं। अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य निर्माण के समय में भी शायद अंग्रेजों के सबसे अच्छे दोस्त भारतीय थे, क्योंकि दोनों कौमें एक दूसरे की पूरक हैं—एक एकदम बन्द, दूसरी एकदम खुली। अनुशासित—एकदम अनुशासनहीनः श्वेत—अवर्णनीय रंगः ठन्डा, धुन्ध से भरा, दम घोटने वाला मौसम—गरम, चौधियाने वाला सूरज और गरम मौसम। (हास्य)

नहीं, मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ, यह अनुभव पर आधारित तथ्य है। कुछ वर्ष पूर्व जब मुझे लन्दन में काफी समय के लिये रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मेरे दोस्तों ने लन्दन में मुझे बताया कि वहाँ केवल साल में चार दिन धूप के होते हैं, और जैसे उन्होंने अपने अन्तर को बन्द कर रखा है उसी भाँति उन चार दिनों में भी वह घर बन्द करके उस धूप को बाहर ही रख देते हैं। सूर्य तेजी से चमक रहा होगा तो वह व्यक्ति बाहर निकल कर एक गहरी साँस लेता हुआ कहेगा "कितना सुन्दर दिन है, है न चारी ?" और फिर घर के सब परदे खींच कर बन्द कर देगा। (हास्य) और यही प्रवृत्ति बाह्य जगत का सामना करने में भी हमारी प्रकृति में दिखाई देती है। हम सब को अपने आप को ढीला छोड़ना सीखना है किसी को अधिक किसी को कम।

मैं अपने अंग्रेज भाई व बहनों को सुझाव दूँगा कि वे थोड़ा और खुलना सीखें। परस्पर अज्ञानता के महासमुंद्र में हर व्यक्ति का अलग अलग द्वीप बने रहने में कोई विशेष लाभ नहीं। अंग्रेजों के विषय में कहा जाता है कि

इंगलैंड में दोस्त बनाने में ४० वर्ष लगते हैं। वह अच्छे दोस्ताना किस्म के लोग हैं परन्तु उन्हें दोस्त बनाने में ४० वर्ष लगते हैं। जैसे उनके लॉन के बारे में कहा जाता है कि उन पर आप चल पायें इसके पहले वे १०० वर्ष पुराने हो चुकते हैं। एक बार मैंने एक दोस्त से पूछा आपको लॉन तैयार करने में कितना समय लगता है। वह बोला "ओ चारी पहले हम घास लगाते हैं फिर उसको दबाते हैं, फिर काटते हैं, फिर पानी देते हैं, फिर दबाते हैं, यह प्रक्रिया १० वर्ष तक चलती रहती है फिर कहीं जाकर लॉन तैयार होता है।" ऐसा द्वीप बनने में कोई लाभ नहीं, वह भी एक छोटा सा द्वीप उस महासमुद्र में जो स्वभावतः सार्वभौम है। ऐसे में संवाद कर पाना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। भले ही आपके यहाँ यह परिहास का जटिल मुहावरा प्रचलित है या अस्तित्व-पूरक तथ्य है कि "एक अंग्रेज का घर उसका किला होता है।" जिसको भेदा नहीं जा सकता, जिसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, परन्तु अपने आप को इस तरह बन्दीगृह में रखना अर्थहीन है। कई समाजों में इसे इस कदर गरिमामण्डित किया जाता है कि इसकी जरुरत आदमी की समझ के बाहर हो जाती है।—ऐसी दम घोटने वाली, घबरा देने वाली सीमाबद्ध करने वाली बन्द रहने की आदत।

तो हमें अपने आप को खोलना सीखना है और यह स्थान इस तरह की शिक्षा के लिये उचित है। क्योंकि हम सब भाई बहन हैं और एक ही गाड़ी में सफर कर रहे हैं—सहज मार्ग की गाड़ी। हमारा गन्तव्य एक ही है, उसमें अपने अनुभवों के विषय में उसी गाड़ी में यात्रा के दौरान बात करना उचित है। यह आत्म-दर्शन की ओर पहला कदम होगा—दूसरों को अपने विषय में बताने में नहीं, परन्तु स्वयं के प्रति स्वयं का उद्‌घाटन करने के लिये।

बोलने द्वारा हम बहुत कुछ सीखते हैं। जो कुछ भी मैं कहता हूँ उसका अधिकांश भाग मैं ने बोलने की प्रक्रिया द्वारा ही सीखा है, क्योंकि बोलने द्वारा हमें ज्ञात होता है कि हमें क्या नहीं पता। लज्जा, संकोच या और कुछ कभी हमें सहसा चुप नहीं करती। परन्तु अपने आप को उद्‌घाटित नहीं करना चाहते, वही हमें चुप रखता है। क्योंकि जब मैं कुछ कहता हूँ तो वह मेरे स्वयं के सामने आ जाता है कि "यह मैं हूँ"। तब तक हम आनन्दपूर्वक उसे कहीं अन्दर छिपा कर कल्पना करते हैं कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। इस कारण बोलनें में सब से अधिक भय अपने आप से है। अपने विषय में जो कुछ मैंने अपने आप से भी छिपा कर रखा था वह सब बाहर आ रहा है और यही समस्या है।

जब हम बोल पाते है तो कुछ हद तक तो वह यह दर्शाता है कि स्वयं को जानने का भय अब जा रहा है। और तभी वस्तुतः स्वयं को, स्वयं ही, स्वयं के लिये जानने की सम्भावना उत्पन्न होती है।

खोने को खोना

प्रश्न—(टेप पर नहीं आया)

उत्तर—मेरे विचार में हम यहाँ वही प्राप्त करते हैं जब स्थूलता हटा दी जाती है। बाबूजी कहते थे कि हम प्रकाश पर ध्यान करते हैं और जो स्थिति हमें प्राप्त होती है वह है "हल्कापन"। हम जैसे उस भारीपन से अलग हो जाते हैं। तो फिर क्या हम उड़ते हैं या हमें उड़ाया जाता है। यह कहना कि हम उड़ते हैं गलत होगा परन्तु हम जैसे पतंगों की भाँति उड़ाये जाते हैं। अगर आप अन्तरिक्ष में हों तो गतिमान बने रहते हैं; आपको न उड़ना पड़ता है, न चलना पड़ता है, न तैरना पड़ता है। सो, मेरे विचार में भौतिकता वाचक शब्दों में मुक्ति का भाव यही है हालाँकि उसमें भौतिक कुछ भी नहीं है। यह अच्छा है।

प्रश्न—अन्त में मुझे विचार आया कि मेरे पेट का नीचे का भाग अलग हो गया है ?

उत्तर—अच्छा है, बहुत अच्छा है।

प्रश्न—परन्तु मुझे थोड़ी सी चिन्ता हो रही है ?

उत्तर—तुम्हें चिन्ता हो रही है ?

प्रश्न—थोड़ी सी चिन्ता ?

उत्तर—जब भी हम कुछ खो देते हैं, हमें चिन्ता होती है, यद्यपि हमें उसकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—मुझे तो यह बड़ी कीमती लगी; पर मैंने कहा 'मैं उसे स्वीकार करुँगा' (हास्य)—अत्यधिक कीमत लगी (हास्य)—पर चाहे जो कीमत हो, मुझे यह करना चाहिये।

उत्तर—तुम्हें पता है खोने के विषय में यह एक अजीब बात है। जब तुम्हें इसकी चेतना होती है तो तुम्हें इसका भय होता है व बुरा लगता है। अगर तुम्हारा कुछ खो गया हो और तुम्हें इसका एहसास नहीं हो तो वह तुम्हें परेशान नहीं करता। तो क्या वह खोना है या यह खोने की भावना है जो परेशान करती है। स्वभावत: वह खोने की भावना ही है जो हमें परेशान करती है, है न ? और यह खोने की भावना हम स्वयं अपने लिये बनाते हैं

"हाय मेरा खो गया" उसको हटा दो तो कोई एहसास नहीं।

यह उस भाँति है जैसे एक पिल्ले को उसकी माँ के पास से हटा देना। अगर उसके पास छै पिल्ले हैं तो एक एक करके उनको हटा लें। कुछ क्षणों के लिये वह चकित सी होती है और उसके पश्चात कुछ नहीं—वह समाप्त हो जाता है क्योंकि उसमें खोने की इस भावना का एहसास नहीं कि "हाय मेरा पिल्ला कहाँ गया"। जब वह वहाँ है, तो है। जब नहीं है तो नहीं है। उसके साथ कोई स्मृति नहीं जुड़ी होती कि पहले था अब नहीं है। हम ऐसी स्मृतियों के परिणामस्वरूप कष्ट पाते हैं। इस अर्थ में स्मृति परेशान करने वाली चीज है। मेरे पास कोई चीज थी जो अब नहीं है।

अगर वह आवश्यक नहीं तो मैं उसे अपने पास रखूं क्यों ? जैसे किसी का उस गहने को खोने का दुःख मनाना जो उसने कभी पहना ही नहीं "हाय मेरा १०,000 पाउंड का नुकसान हो गया।" या जो बहुत अमीर हैं शेयरों की कीमत में थोड़ी गिरावट हो गई तो वे कहते हैं "हाय कल मेरा २०,000 पाउंड का नुकसान हो गया। मेरे शेयर तीन पाइंट नीचे गिर गये।" वास्तव में उनका कुछ नहीं खोया। सो वह सब खोने का विचार है। यह सब खोने का विचार क्षणभंगुर है जिसका हम स्वयं निर्माण करते हैं और उसका जन्म हमारी स्वामित्व (Possession) की भावना से होता है। जो मेरे पास नहीं है, उसे मैं खो ही नहीं सकता।

आध्यात्मिकता कहती है कि इस स्वामित्व की भावना को आने ही न दो। क्योंकि जब तुम्हारे पास कुछ होगा तो खोयेगा भी और फिर तुम्हें उसे खोने का दुःख भी होगा। वह दुःख तुम्हारे अन्दर संस्कार बनायेगा और इसी भाँति एक श्रृंखला सी बनती जाती है। इस कारण कुछ भी हमारा नहीं है, शरीर का आधा भाग ही क्यों, हम दूसरा आधा भी कभी न कभी खोने वाले हैं। जब तुम अपना हृदय बाबूजी को दे देते हो, तो ऊपरी अर्धांश फिर किसी अर्थ का नहीं रह जाता।

अब यह मुझे उस विषय पर वापस लाता है कि, कल नीचे का अर्धांग क्यों कट गया था—क्योंकि उसका अभी आपके जीवन में कुछ अर्थ था। अब वह जा रहा है और यह अच्छी बात है: क्यों, क्या आप ऐसा नहीं सोचते हैं ?

उत्तर—हाँ।

गुरुदेव से छिपाना

प्रश्न—(रेकार्ड नहीं हुआ)

उत्तर—क्या आप मुझे बता सकते हैं कि आनन्द क्या था ?

प्रश्न—स्वतन्त्रता के एहसास का आनन्द था। आनन्द था उसको छोड़ना जो मुझे रोके हुए था, वह डर जो मुझे रोके हुए था उसको छोड़ना।

उत्तर—यह भय से मुक्ति है।

प्रश्न—बिलकुल

उत्तर—नहीं, नहीं। यह भय से स्वतन्त्रता का एहसास है।

उत्तर—अधिकतर लोग इसे डुबकी लगाने का आनन्द समझने की भूल करते हैं।

प्रश्न—अरे नहीं, मेरा विचार है हाँ मुझे पक्का विश्वास है कि आप ठीक कहते हैं।

उत्तर—और वह बार बार डुबकी लगाते हैं।

प्रश्न—हाँ, बिलकुल। क्योंकि मेरे विचार में आप भयरहितता की नवोपलब्ध स्वतन्त्रता का आनन्द उठाते हैं।

उत्तर—हाँ

प्रश्न—इसी प्रकार मैं आशा करता हूँ कि मुझे इस बोलने के भय से भी मुक्ति की नई स्वतन्त्रता का एहसास होगा।

उत्तर—यह अच्छा है यह भव्य मुक्ति है।

बौद्ध मत में इस भव्य मुक्ति का विचार है, वह इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, परन्तु मैं मानता हूँ कि वह भय से मुक्ति है। जब भय चला जाता है तो सब कुछ चला जाता है। ईसाई धर्म में कहते हैं कि पूर्ण प्रेम भय का निवारण करता है। मैं इसको उलटी तरह से कहूँगा कि जब भय चला जाता है, तब प्रेम का आगमन होता है। प्रेम में भी हम प्रेम करने से डरते हैं क्योंकि उसके पीछे भय है। हमें भय होता है कि हमें कोई धोखा देगा, छोड़ देगा या हमसे फायदा उठायेगा। एक ओर भय है और दूसरी ओर-यह एक झूले (सी-सॉ) की भाँति है, जब एक सिरा ऊपर जाता है तो दूसरा नीचे आता है और जब दूसरा ऊपर तो पहला नीचे। इस कारण पूर्ण प्रेम भय को

निकाल फेंकता है, उसके विषय में यह सही है। बनाने वाला या बनाने वाले का...............(टेप टूटा है)

इसके पहले कि प्रेम का आगमन हो या प्रेम का अंकुरण हो सके, हमें भय को निकालना होगा। यही समस्या है। हर स्थिति में वह भय ही है, यहाँ तक कि मुक्ति का भी भय है। मेरे विचार में वूल्फगैंग था जिसने कहा था कि हम यहाँ मुक्ति के लिये नहीं परन्तु आराम के लिये आते हैं। यह दोनों बिलकुल भिन्न चीजें हैं। हम राहत चाहते हैं अपनी परिस्थितियों से, कष्टों से, दुःखों से, मुक्ति वास्तव में कोई नहीं चाहता, क्योंकि हमारे मन में अजीब विचार है कि मुक्ति हमें अस्तित्व के उस क्षेत्र से हटा ले जाती है जिसके हम अभ्यस्त हैं—एक आधा, पीड़ा और कुण्ठा, दूसरा आधा, आनन्द, हर्षोन्माद सफलता। हम एक आधे को तो हटाना चाहते हैं और दूसरे आधे को सुरक्षित रखना चाहते हैं और उसका आनन्द उठाना चाहते हैं।

मुक्ति का अर्थ है उन दोनों से परे जाना। हम अपने अन्तर में जाते हैं, एकदम गहराई में जाते हैं और हममें से अधिकतर इससे अत्यन्त डरते हैं। इसी कारण लोग ऐसी मूर्खतापूर्ण बात कहते हैं "ओह मुझे जीवन लुभावना लगता है, मैं बार-बार क्यों न आऊँ ?" बहुत लोगों ने ऐसा कहा है और कैसे लोग ऐसा कहते हैं ? जिन्होंने जीवन का केवल अच्छा आधा भाग देखा है। दूसरे लोग बार बार नहीं आना चाहते और यह अजीब नजारा दिखता है कि जो गरीब हैं, सताये हुए हैं, बीमार हैं वह जीवन से भागना चाहते हैं। जब आप उन्हें मुक्ति दिलाने का आश्वासन देते हैं तो यह रहस्यात्मक तत्व देखनें में आता है कि वह भी कहते हैं "आप मेरा जीवन कुछ सरल क्यों नहीं कर देते कि मैं इसी जीवन को जीते हुए फिर मुक्ति के विषय में सोचूँ।" सो एक उन्हीं परिस्थितियों को पकड़े रखना चाहता है, दूसरा उनमें बदलाव चाहता है, वास्तव में मुक्ति किसी को भी नहीं चाहिये। इसी कारण दिखाई देता है कि सहज मार्ग जैसे शुद्ध आध्यात्मिक मार्ग के इच्छुक भी बहुत कम हैं और उन कम के बारे में भी एक बार जब मैंने गुरुदेव से पूछा कि आपके विचार में मुक्ति के लिये यहाँ कितने लोग हैं ? तो उन्होंने उत्तर दिया "शायद दो या तीन।" (टेप टूटा है)

मेरे विचार में इसी कारण, एक साधारण भौतिक स्तर पर भी, जैसे कि यह सुधारगृह आपको पता है, एक आदमी को जेल से निकालकर आप उसे सुधारना चाहते हैं पर वह सुधरना नहीं चाहता। वह केवल चाहता है कि उसे छोड़ दिया जाये ताकि जिस जीवन को वह जानता है उसे अपने

तरीके से अच्छी तरह जीये।

आध्यात्मिक क्षेत्र में यही समस्या है। मुक्ति किसे चाहिये, गुरु के साथ एकात्मता किसे चाहिये ? इसी कारण प्रगति का अभाव है, हम आते हैं और चले जाते हैं, आते हैं और चले जाते हैं, प्राप्ति......हाँ, कुछ तो प्राप्त करते हैं परन्तु अधिक नहीं। इसी कारण आजकल जो लोग पहली बार आते हैं, उनसे मैं अक्सर पूछता हूँ आप यहाँ किसलिये आये हैं ? आप हमारे पास क्यों आये हैं ? क्या आपको मालूम है कि आप यहाँ किसलिये आ रहे हैं ?" बच्चों के विषय में हमारा नियम है कि अत्यन्त अपवादों को छोड़कर, १८ वर्ष की आयु के पूर्व हम उन्हें दाखिल नहीं करते। १८ क्यों। ताकि उनमें इतनी परिपक्वता हो कि वह जानते हों कि वे क्या चाहते हैं और क्यों चाहते हैं। हममें अनेक लोगों को यह जानकारी तो है कि हम क्या चाहते हैं परन्तु क्यों चाहते हैं यह नहीं पता होता। यह और भी अधिक ताकतवर बात है, जिसे हमें विकसित करना चाहिये कि "मैं यह क्यों चाहता हूँ ?" इसी कारण आयु निर्धारित की गई है ताकि हमें ज्ञान हो कि हमें क्या चाहिये, क्यों चाहिये और उसे कैसे प्राप्त करें। अब जो लोग यहाँ १०, १५, २० साल से हैं जब मुक्ति का प्रश्न आता है तो वह कहते हैं "हाँ हाँ बाबूजी वह तो आप हमें किसी भी समय दे सकते हैं तो क्यों न मेरी बेटी की शादी के बाद में। आपको तो पता ही है मेरे तीन बच्चे हैं, सब से छोटी १२ वर्ष की है उसकी शादी होने तक मुझे कम से कम १२ वर्ष और रुकना होगा इसके पूर्व कि उसका विवाह हो, तो क्यों न मुक्ति को थोड़े समय के लिये टाल रखें ? आप तो वह कभी भी दे सकते हैं। आपने लिखा है कि उसकी एक दृष्टि से मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है।" तो हम उसे टालना चाहते हैं।

हम केवल उसके स्थगित होने में ही संतुष्ट नहीं, बल्कि हम यह भी चाहते हैं कि बीच के १२ वर्ष आनन्दमय हों, उत्पादक हों, लाभप्रद हों, बीमारीरहित हों, समस्या रहित हों आदि आदि, यह सब आश्वासन भी उस वृद्ध महापुरुष को देना है। फिर १२ वर्ष के अन्त में जब तीसरी पुत्री की शादी होती है तब तक प्रथम पुत्री जिसका छै वर्ष पूर्व विवाह हुआ था उसका दूसरा बालक होने वाला होता है। हम उसको देखना चाहते हैं उसकी प्रगति का आश्वासन चाहते हैं और इस तरह हम दिन प्रतिदिन आगे-आगे खिसकते जाते हैं। मैंने अपने कई ईसाई, मुसलमान, बौद्ध तथा हिन्दू दोस्तों से पूछा है, हम मन्दिरों मस्जिदों, और गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करते हैं। अगर भगवान धरती पर आकर कहता मेरे भक्तों तुम्हें क्या चाहिये ? तो

तुम इधर उधर भागोगे। "अरे यह कैसा भगवान है जो जिन्दा होकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ है ?" मूर्ति, प्रतिमा व क्रॉस अच्छे हैं क्योंकि वह हमें उत्तर नहीं दे सकते।

अब गुरु के साथ यही समस्या है। ईसा, बुद्ध या क्रॉस की कोइं भी प्रतिमा मेरे हृदय में नहीं झाँक सकती। क्या वह भी वही उद्घाटित करेगा जो हम उद्घाटित करना चाहेंगे ? जिसे हम पाप की स्वीकृति कहते हैं और अपने पाप का बोझ हलका करके प्रसन्नचित्त घर लौट आते हैं। यहाँ हमें भय है कि यह जो व्यक्ति मेरे सम्मुख बैठा है मेरे अन्दर झाँक कर वह सब कुछ पता लगा लेगा जो मैं उसे नहीं दिखाना चाहता। परन्तु समस्या यह है कि उसे हर हालत में सब पता चल जायेगा—इतना तो हमें विश्वास है। तब हमें परेशानी होती है, अतः उनके सम्मुख नहीं जाना चाहते। मुझे पता है कि कुछ लोग शाहजहाँपुर जाकर भी बाबूजी के सम्मुख नहीं जाते थे—हाँ वह तीन हफ्ते वहाँ थी और बाबूजी की नजर के लिये तड़प रही थी—परन्तु मुझे उन लोगों का ज्ञान है जो तीन हफ्ते वहाँ रह कर भी बाबूजी के सम्मुख नहीं गये। वह ऊपर गेस्ट हाऊस में सोये हैं या बाजार में समोसा खा रहे हैं या दूध पी रहे हैं "आप बाबूजी के साथ क्यों नही ?" "नहीं नहीं मैं उन्हें तंग नहीं करना चाहता"। उनके सम्मुख न जाने की बड़ी सरल वजह है। यह तो जैसे गीले कपड़ों के बंडल को छुपा के लपेटकर घर में रख देना जैसा हुआ। बदबू कर रहा हो पर उसे सूखने के लिये धूप में फैलाना नहीं है।

जो दस व्यक्ति शाहजहाँपुर जाते हैं उनमें से नौ गुरुदेव के सामने जाने से डरते हैं। अब गुरु को सब मालूम है। यह भी मालूम है कि आप सामने क्यों नहीं आ रहे। उस दशा में वह गेट पर जाकर थूकने का बहाना करते हैं, जब आप अपना समोसा खाकर या दूध पीकर लौट रहे होते हैं। "अरे आप कब आये ?" जैसे कि उनको पता नहीं। "नहीं नहीं बाबूजी मुझे तो तीन दिन हो गये—"तीन दिन और मैंने तुम्हें देखा नहीं ?" "नहीं नहीं बाबूजी आपको तो सब पता है (हास्य) और वह कहते हैं "हाँ लालाजी की कृपा से किसी ने बताया था कि तुम आये हो परन्तु मैंने तुम्हें देखा नहीं।" अब इस देखने के पीछे कुछ और ही अर्थ है न कि भौतिक रूप से देखना। जैसे वह आश्वासन दिला रहे हों "चिन्ता मत करो जो अप्रिय चीजें तुम छिपा रहे हो वह मैं नहीं देखता, मेरे लिये उनका कोई महत्व नहीं। छिपाने लायक इन चीजों से रहित होकर मेरे पास कौन आता है।"

यह उस रोगी की भाँति है जो डाक्टर के दवाखाने पर जाता है परन्तु

छिपाने का प्रयत्न करता है। डाक्टर के पास तो बीमार ही जायेगा। है न ? तो हम क्या छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं, अपनी बीमारी का विवरण। उसके सम्मुख तो सब खुला है। जो भी डाक्टर के पास जाता है वह एक न एक बीमारी का शिकार तो है ही। तो उसमें क्या है ? बल्कि हमें उसे सब कुछ खुल कर बता देना चाहिये ताकि वह शीघ्रातिशीघ्र हमारी सहायता कर सके।" नहीं नहीं डाक्टर मुझे शर्म आती है।" कुछ बाह्‌य रूप से स्वस्थ दिखने वाले लम्बे चौड़े व्यक्ति भी, अपनी सुन्दर जैकेट पहन, मुँह में पाइप लगा कर जाते हैं और कहते हैं "नहीं नहीं डाक्टर मैं आपसे कोई राय लेने नहीं आया मैं तो केवल आपसे मिलना चाहता था।" और डाक्टर जानता है कि यह व्यक्ति बहुत बीमार है और उस बीमारी से इतना डरता है कि उसे स्वयं अपने से भी छिपाना चाहता है। वह कहता है "नहीं नहीं जॉन, ठीक है हम ऐसे ही बातें करते हैं। कहो तुम्हारा शिकार कैसा चल रहा है तुम्हारा निशाना कैसा है ? कल तुमने कितनी बतखें मारी ?" और वह उत्तर देता है "मेरा निशाना कुछ ठीक नहीं, शायद मेरी बन्दूक में कुछ खराबी है। शायद कुछ अन्दाज गड़बड़ लगता है।" इस तरह इधर उधर की बात करके थोड़ा थोड़ा निकालना पड़ता है और फिर शायद उसे कहना पड़ता है कि "जॉन मेरे विचार में तुम फिर कभी मुझे मरीज के रूप में आकर मिलना।"

इसी प्रकार हम गुरुदेव के पास जाते हैं और वापस आ जाते हैं। आपको तो पता है कि बाइबिल में उस बालटी की कहानी है जिसको बार बार कुएँ में डाला गया पर वह कभी नहीं भरी। केवल यह ही काफी नहीं कि हम गुरुदेव के पास जायें और यह विचार करें कि उन्हें तो सब पता है, मैं क्यों बताऊँ ? हमें उन्हें बताना है क्योंकि वह केवल उन्हें जानकारी ही नहीं देता बल्कि यह भी दर्शाता है कि हम अपना सब कुछ, लज्जा, अपराध भावना, भूल कर अपने आपको उनके सम्मुख खोलते हैं और कहते हैं "मैं जैसा हूँ उसे स्वीकार करो।" अन्यथा तो यह अहं ही है जो बोलता है।

अतः जब हम अत्यन्त व्यक्तिगत और दोस्ताना तौर पर गुरुदेव के समक्ष अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहते हैं "बाबूजी मुझे यह चीजें परेशान कर रही हैं।" और वह कहते हैं "अरे ! मैं तुम्हें बताता हूँ, मुझे भी यही समस्या थी जब मैं लालाजी के पास गया था, यह उनकी कृपा थी जो उन्होंने कहा 'अच्छा' और वह गायब हो गई।" और वह भी 'अच्छा' कहते हैं और वह गायब हो जाती है। मैंने बाबूजी से पूछा है 'आप यह क्या खेल अभ्यासियों के साथ खेलते रहते हैं ? आप कुछ करते क्यों नहीं।" वह कहते

थे "उनका बताना आवश्यक है। जब वह बताते हैं तो इसका मतलब है कि वे इसे दूर करना चाहते हैं और मुझ में विश्वास व्यक्त करके अपना अहं फेंकने को तैयार हैं। आप कवच पहन कर किसी से अपनी त्वचा चीरकर आपरेशन करने के लिये कैसे कह सकते हैं ? कवच तो हटाना ही पड़ेगा।" नहीं नहीं मुझे डर लगता है इसलिये मैं इसे हमेशा पहने रहता हूँ—इसे मैंने एक नीलामी में ७२० पाऊँड का खरीदा था।" "ठीक है, तुमने अपने ऊपर कवच चढ़ा रखा है, मैं तुम्हारा आपरेशन नहीं कर सकता।" अधिकतर अभ्यासी यह बुद्धिवादी तर्क देते हैं, "बाबूजी को तो सब मालूम है, फिर मैं उन्हें क्यों बताऊँ ?" तुम्हें उन्हें बताना है क्योंकि तुमको ही बताना है। तुम्हें उनसे कहना है "मेरे प्रभु मेरी ओर देखो, मैं यह-यह हूँ और उसे तुम्हारे सम्मुख रखता हूँ इसलिये नहीं कि तुम्हें पता नहीं, बल्कि इसलिये, कि अपना अन्तरतम तुम्हारे समक्ष खोलकर रखने के लिये मुझे इतनी नम्रता और साहस को विकसित करना है कि मैं यह कर सकूँ। और उस उद्घाटन की प्रक्रिया में आप अपनी दिव्यता का अंश मुझमें डाल सकें और.....(टेप टूटा हुआ है)

अतः यह कहना "कि उन्हें मालूम है, मैं क्यों बताऊँ ?" एक अति अनावश्यक, बल्कि आत्मघाती क्रिया है। फिर कुछ समस्या होने पर हम उनके पास क्यों भागे जाते हैं। वह भी तो उनको मालूम है। सुसंगति तो तब है, जब हम बाद में समस्या लेकर भी उनके पास न जायें। घर बैठे कहें "बाबूजी को सब पता है। अगर वह ठीक करना चाहेंगे तो कर देंगे।" यह तो बाद में आता है जब हम में पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है और तब हमें गुरुदेव को कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं होती। समझे ? "बाबूजी सब जानते हैं" जिस प्रकार अधिकतर लोग इसका प्रयोग करते हैं वह मैंने सहजमार्ग में कभी भी स्वीकार्य नहीं समझा और अब हम पाते हैं कि लोग वह कर रहे हैं जो उन्हें नहीं करना चाहिये और कहते हैं "नहीं, नहीं, अगर गुरुदेव की ओर से मुझे अनुमति न होती तो मैं भला ऐसा कैसे कर सकता था ?" औचित्य सिद्ध करने का यह एक तीसरा तरीका है। अगर हम इसी भाँति चलते गये तो रस्सी की तरह गुरु का सहारा लेकर, नीचे ही नीचे गिरते जायेंगे। यह तो ऐसा कहने जैसा है कि "उसे एक रस्सी दे दो तो वह स्वयं ही अपने को फाँसी लगा लेगा।" इसके लिये जल्लाद की रस्सी जरुरी नहीं है। यह गुरु की रस्सी भी हो सकती है।

गुरुदेव का प्रयोग हम किस प्रकार करते हैं यह हम पर निर्भर करता

है। वह हमारा प्रयोग कैसे करते हैं यह बात उन पर निर्भर करती है। इसके पहले कि वह हमारा प्रयोग करें हमें अपने आप को उनकी इच्छानुसार प्रयोग के लिये प्रस्तुत करना पड़ता है। और यह हम समर्पण की क्रिया में करते हैं। समर्पण का प्रथम चरण यह है कि हम अपने 'निषेधों' को विसर्जित करके उनसे कहें "यह मैं हूँ"। और वह कहते हैं "मैं जो हूँ सो हूँ"। हमें यह कहने का हक है "मैं यह हूँ"। जब यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो 'यह' 'वह' में भी बदल सकता है, क्योंकि हममें वह नम्रता है, जिसमें अहंकार का निषेध और किसी अन्य व्यक्ति में विश्वास कर पाने की क्षमता निहित है। इसके अभाव में आध्यात्मिक यात्र कभी पूर्ण नहीं हो सकती।

आशा मत करो

अब देखिए ज्ञान की एक और समस्या है। यहाँ फिर आपकी बुद्धि काम कर रही है। "क्या उसे यह मालूम है ?" इसकी आवश्यकता नहीं। (टेप टूटा है)

सूर्य चमक रहा है............(टेप टूटता है)

"क्या तुम्हें मालूम है कि मैं चमक रहा हूँ या नहीं ?" या बहती हुई हवा जानना चाहे कि "क्या तुम्हें मालूम है मैं बह रही हूँ या नहीं ?" अब देखो, इलौन की ही समस्या पर बात करें—क्या जिसे वह प्रेम करती है उसे पता है कि वह उससे प्रेम करती है या नहीं ? अगर वह असली है तो वही एक चीज है जो किसी को पता होती है। मैंने कई बार कहा है कि मेरे विचार में जब हम उसे अभिव्यक्त करते हैं तो हम एक गलती तो नहीं बल्कि यूँ कहिये कि उसे नीचे खींच लेते हैं। किन्तु मेरे विचार में यह एक मानवीय आवश्यकता है।

परन्तु जब कोई प्रेम करता है तो अपने स्वयं के लिये यह जानना ही पर्याप्त है कि वह प्रेम करता है। प्रतिदान की आशा ही समस्त भावनात्मक समस्याओं और सम्भावित कुण्ठा, निराशा और क्रोध को जन्म देती है। मेरे विचार में यह एक तरह से पाश्चात्य रूमानी परम्परा की दुखद विरासत है। जैसे कि प्रत्येक "मैं तुमसे प्रेम करता हूँ "का उत्तर" मैं भी तुम से प्रेम करता हूँ" ही होना चाहिये। मैं आपको दोष नहीं दे रहा हूँ, यह तो एक सामान्य बात है।

इस विषय में मैं अपनी ही बात कहने से अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ—मुझे याद है मैंने एक बार बाबूजी को लिखा था—एक चीज जो सहज मार्ग में मेरे लिये हैरानी का विषय थी, मैं उस विषय में बात नहीं करना चाहता क्योंकि वह अत्यधिक व्यक्तिगत व एक रूप में मेरे लिए बहुत पवित्र है। भारत में हम अपने प्रेम के विषय में चर्चा करने में विश्वास नहीं रखते। हमारी परम्परा है कि हम प्रेम को एक अत्यन्त व्यक्तिगत, एक अत्यन्त कोमल चीज मानते हैं जो गोपनीय नहीं बल्कि अत्यन्त पवित्र चीज है और जो केवल दो व्यक्तियों से सम्बद्ध है। उसमें, बीच में किसी तीसरे व्यक्ति

का कोई सरोकार नहीं होना चाहिये। इसी कारण भारत में हमें यह अजीब सामाजिक स्थिति देखने में आती है कि कई बार आप पति पत्नी को देख कर यह पता नहीं लगा सकते कि वह एक दूसरे से प्रेम करते हैं या घृणा करते हैं और कई बार शादी शुदा भी नहीं लगते फिर भी उनकी आराम से गुजर होती है क्योंकि जो पवित्र है उसको एक बाजारू स्तर पर लाकर अपवित्र नहीं करना चाहते। यह पूर्व की परम्परा है। कई बार लोग इसे गलत समझ लेते हैं और कहते हैं कि "पूर्व में लोगों को प्रेम करना नहीं आता।" मुझे सदैव यह मजाक जैसा लगा, क्योंकि मेरे विचार में पूर्व के लोग प्रेम में निपुण हैं। मेरा मतलब आन्तरिक रूप से है न कि लोगों को दशनि या शब्दों में व्यक्त करने से। हमारे काव्यों में भी इसका केवल संकेत होता है न कि खुल्लमखुल्ला वर्णन। उदाहरणार्थ, शेक्सपियर ने प्रेम के ऊपर बहुत खुल कर कहा है। हमारे यहाँ भी कुछ कवि हैं जिन्होंने इसके विषय में अश्लीलता के स्तर तक स्पष्ट उल्लेख किया है, व्यक्त किया है। शायद इस क्षेत्र में स्पष्ट लिखने का प्रयत्न करने के चक्कर में। परन्तु साधारणतः प्रेम को पवित्र माना जाता है और इसीलिये गुरु और शिष्य के बीच का प्रेम भी अत्यधिक पवित्र चीज होनी चाहिए। उदाहरणार्थ—मुझे बाबूजी से ही मालूम हुआ कि उनके और लालाजी के बीच बहुत ही कम व्यक्तिगत आदान-प्रदान हुआ था। यह सभी जानते हैं कि वह लालाजी से बहुत कम बार मिले, शायद पूरे जीवन में दस बार। फिर भी उनके लिये यह सम्भव हुआ कि वह लालाजी को असीम प्रेम कर सके और पूरे सत्संग में किसी को भी इस आन्तरिक सम्बन्ध के विषय में नहीं मालूम था। यह एक सम्बन्ध है। जब हम भौतिक स्तर पर प्रेम की बात करते हैं तो वह बहुत निम्न स्तर की अभिव्यक्ति हो जाती है। जब हम भावनात्मक स्तर पर इसकी बात करते हैं तो शायद यह उससे थोड़ा उच्च है, फिर भी है निम्न स्तर की बात। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जब हम उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं तो भी वह निम्न स्तर की है। परन्तु जब वह परिपक्व होकर दो जनों के बीच में एक शाश्वत सम्बन्ध में बदल जाता है जिसको किसी भी बाहरी रूप में व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं तो वह प्रेम का उच्चतम स्वरूप है। अब वह एक उपस्थिति है, कोई अभिव्यक्ति नहीं, भावना नहीं, आवेग नहीं, केवल प्रेम की उपस्थिति।

ऐसा ही कुछ बाबूजी और लालाजी के बीच में था। एक चीज, जिस ने इस सम्बन्ध को स्थापित करने में गुरुदेव की सहायता की वह यह थी कि

बाबूजी लालाजी से अधिक नहीं मिल पाये। आपको मालूम ही है कि जब आप किसी को ज्यादा नहीं मिल पाते, आपको उस व्यक्ति के प्रति अपने प्रेम पर निर्भर रहना पड़ता है, जबकि अगर आप बार बार मिलते हैं तो आपको एक दूसरे के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति द्वारा परस्पर आश्वासन ढूँढने के तरीकों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार भौतिक सम्पर्क शायद सच्चे प्रेम के विकास में बाधक है। फिर भी व्यक्तिगत मुलाकातें जरूरी हैं—न बहुत जल्दी जल्दी, न बहुत विरल, क्योंकि अगर प्रेम मर गया तो दूसरे मिलन का कोई अर्थ नहीं, कोई महत्व नहीं और सब बेकार है। और अगर मिलन बहुत जल्दी हो तो प्रेम भी उस भाँति है जैसे बहुत अधिक मीठा या मिठाइयाँ खाने से लगता है कि दिल मिचला रहा है जिसे तमिल में 'थाराथाडु' कहते हैं। यह उस भाँति है जैसे बिजली के दो तारों के बीच में चिन्गारी पैदा करना, उसमें फासला बिलकुल सही होना चाहिए। अगर वह बहुत करीब है तो करेंट एक तार से दूसरी तार में बिना चिन्गारी के चली जायेगी और अगर अधिक दूरी है तो करेंट एक से दूसरे में नहीं जा पायेगी। उतनी ही दूरी की आवश्यकता है जिससे चिन्गारी बन सके। जो वेल्डिंग (जोड़ने) का कार्य करते हैं वह जानते हैं कि जोड़ने वाली छड़ को कितनी दूरी पर रखना चाहिये।

यह एक अजीब चीज है, मैं इसे 'बकवास चीज' कहने जा रहा था, प्रेम, जिसमें नजदीकी चाहिये परन्तु थोड़ी दूरी के साथ। अब इस "नजदीकी परन्तु थोड़ी दूरी के साथ" का क्या अर्थ है। नजदीकी की आवश्यकता है प्रेम पैदा करने के लिये और दूरी की आवश्यकता है उसका एक उच्च स्तरीय अस्तित्व, विद्युतीकरण करने के लिये, जो अभिव्यक्ति के परे हो, क्योंकि अस्तित्व और अभिव्यक्ति एक ही वस्तु नहीं है। आत्मा है, परन्तु जब वह मानव रूप में जन्म लेती है तभी वह अभिव्यक्त होती है। ऐसा नहीं है कि उसके पहले वह थी नहीं परन्तु शरीर धारण कर लेने पर वह उसका अस्तित्व होता है। अभिव्यक्त इस अर्थ में कि हम उस व्यक्ति को छू, देख सकते हैं। प्रेम की एक अस्तित्व के रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं। जब वह अभिव्यक्त होता है तो उसका कारण आध्यात्मिक नहीं बल्कि कुछ अन्य होता है जैसे कि पारस्परिक सन्तोष, एक दूसरे की भावनात्मक व दूसरी आवश्यकताओं के सहारे के लिये।

अतः हमें दो चीजों का प्रयत्न करना पड़ता है, एक तो प्रेम करना और दूसरे उसे उच्चतम स्तर पर बनाये रखना तथा गुरु की सहायता से उसे

ऊपर से और ऊपर की ओर उठाते चले जाना।

प्रश्न—परन्तु

उत्तर—नहीं नहीं कृपया अब कोई "किन्तु-परन्तु नहीं"। अब यहाँ क्या समस्या है। हम इनसान हैं और हमें भावनात्मक स्तर पर इसकी पुष्टि चाहिए कि जिस व्यक्ति को हम प्रेम करते हैं वह भी हमें प्रेम करता है। कल हम सार्वभौम प्रेम की बातें कर रहे थे और सार्वभौम प्रेम में समस्या यह है कि हम नहीं कह सकते कि गुरुदेव किसी विशिष्ट व्यक्ति से प्रेम करते हैं और न ही कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति से प्रेम नहीं करते। यह एक समस्या है। यह सूर्य के चमकने जैसा है। वह पूरी सृष्टि के लिये चमकता है, जो बाहर खड़ा है उसके लिए यह व्यक्तिगत हो जाता है और वह सोचता है सूर्य मेरे लिए चमक रहा है। जो अपने को खिड़की दरवाजे बन्द कर कमरे में बन्द कर लेता है वह कहता है "सूर्य कहाँ है ?"

अब यहाँ आवश्यकता यह आ खड़ी होती है कि हम प्रेम की अपेक्षा न करें बल्कि गुरुदेव से जो सार्वभौम प्रेम का प्रवाह बह रहा है उसमें अपने को भी मिला दें। यह किसी नदी में कूदकर उसमें नहाने या तैरने जैसा है। नदी तुम्हारे घर में नहीं आयेगी, तुम्हें नदी में जाना पड़ेगा। यह राज जानने की इच्छा कि गुरुदेव किसी अभ्यासी या शिष्य को प्रेम करते हैं कि नहीं इसलिए होती है कि हम किसी रूप में गुरुदेव का प्रेम चाहते हैं परन्तु उस प्रेम की धारा के सामने जाने से शरमाते व डरते हैं। हम उस प्रवाह या धारा से परे रहना चाहते हैं। तो आध्यात्मिकता में यह एक समस्या है।

मानवीय स्तर पर इस प्रश्न को हल करना सरल है। आप ने प्रश्न पूछा और यदि उत्तर 'हाँ' में है तो आप जान गये। यदि उत्तर 'नहीं' में है तो भी आप जान गये। परन्तु आध्यात्मिकता में, जैसा कि मैं आपसे मेरे और मेरे गुरुदेव के बीच जो कुछ घटित हुआ उसे बताने जा रहा था परन्तु मुझे झिझक व शरम आती है क्योंकि वह अत्यन्त व्यक्तिगत था। परन्तु उसका सारांश कुछ ऐसा है कि जैसे हम एक बीज को यह देखने के लिये काटते हैं कि उसमें जीवन है या नहीं, तो उस क्रिया से उसको नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार जब हम प्रेम को खोल कर देखने का प्रयत्न करते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं, बौद्धिक रूप से उसे देखने व पकड़ने का प्रयास करते हैं, उसके अस्तित्व का प्रमाण चाहते हैं तो हम एक प्रकार से उस प्रेम को नष्ट कर देते हैं।

मेरे विचार में यहीं पर बौद्धिक क्रिया अधिकतर लोगों के प्रेम में बाधक

होती है। क्या मैं प्रेम करता हूँ ? क्या यह वास्तविक है ? क्या यह वास्तविक हो सकता है ? क्या मेरा यही तात्पर्य था ? अब ऐसे अनेक नये फिल्मी गाने हैं, हिन्दी सिनेमा में भी, कि यह प्रेम क्या चीज है। सुरैया के पुराने जमाने से लेकर "वह पास रहें या दूर रहें, नजरों में समाये रहते हैं, इतना तो बता दे कोई मुझे, क्या प्यार इसी को कहते हैं।" अब शायद कोई कहेगा "हाँ"। पर अगर आप पूछें तुमने हाँ कैसे कहा, क्यों कहा तो वह नष्ट हो गया। प्रेमी को पता होना चाहिये कि वह प्रेम करता है या नहीं। जैसा कि बाबूजी कहा करते थे "तुम्हारा प्रेम ही पर्याप्त होना चाहिए।" "यह कोई लेन-देन करने की बाजारू चीज नहीं, कि मुझे १० रुपये का या २० पाऊंड का प्रेम दे दो।" (टेप टूटा हुआ)

—और जहाँ हम लेन-देन करते हैं "मुझे मेरे प्रेम के बराबर प्रेम दो", तब हम कर क्या रहे हैं ? मान लीजिए मैं आपको दो सेव दूँ और आप मुझे दो सेव दें, तो हिसाब बराबर। आप यह तो नहीं कहेंगे मैंने उसे दो सेव दिये उसने मुझे दो सेव दिये। लेन-देन का प्रश्न क्या जब अन्त में सब बराबर जैसे कुछ अदल-बदल हुआ ही नहीं था। अतः सच्चे प्रेम में प्रेमिका से वापस प्रेम की अपेक्षा नहीं होती। इसका यह अर्थ यह नहीं कि अपेक्षा नहीं है परन्तु प्रेमी के दिल में इसकी अपेक्षा होनी नहीं चाहिए। चूंकि प्रेम करना तुम्हारा स्वभाव है इसलिए तुम प्रेम करते हो। अगर बगीचे का गुलाब कहे "मैंने तुम्हें इतनी खुशबू दी है, मुझे कुछ खुशबू वापस दो, मैं भी कुछ गुलाब की खुशबू सूँघना चाहता हूँ।" या आकाश में गाती हुई कोयल कहे "तुमने मेरा इतना गाना सुना है, अब तुम बदले में क्यों नहीं मेरे लिये गाते ?"

यह नियम है कि देने वाला ले नहीं सकता। जब इस नियम का उल्लंघन होता है, तो समस्या होती है। जैसे कि राजा देता है ; नदी पानी देती है। हम नदी में पानी वापस तो नहीं डालते ताकि वह हमें दे सके। नदी बहती है, मैं जरुरत भर पानी ले लेता हूँ और जो मुझे नहीं चाहिये वह वापस उस में चला जाता है। प्रकृति उसका बहाव बनाए रखती है। नदी बहती रहती है, हमें जो चाहिए हम लेते हैं, जो बचता है उसे वह सागर में डाल देती है। क्योंकि वह अनासक्त शाश्वत रुप से देती रहती है। इस कारण प्रकृति इस बात की निगरानी करती है कि वह खाली न हो, और वह सागर से पानी उठाकर उन पहाड़ों पर वापस भेज देती है : इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है—यह प्राकृतिक है।

मैंने शायद आप में से किसी से यह कहा भी है, इसी प्रकार माता-पिता

व उनके बच्चों का सम्बन्ध है। वह अपने बच्चों के लिये इतना कुछ करते हैं, पढ़ाते लिखाते हैं, बेटियाँ हों तो शादी करते हैं, फिर वह यह गलती करते हैं कि आशा करते हैं "ओह मेरा बेटा मेरे लिये कुछ नहीं करता, मेरी बेटी मुझे भूल गई है।" अपने कर्त्तव्य का पालन करना आपका काम है, उसे करो और भूल जाओ। वह कर क्या सकते हैं ? मान लीजिए मैंने अपने पुत्र को पढ़ाया है, तो क्या वह बदले में मुझे पढ़ायेगा ? नहीं, नहीं पिताजी अब आप व्यापारिक प्रशासन में एक कोर्स कर लो, उसका खर्चा मैं दूँगा। वह केवल मुझे प्रेम कर सकता है और आभारी हो सकता है—आभार का दूसरा स्वरूप प्रेम है। अतः हम कुछ देते हैं और बदले में मिलता है प्रेम। हम सब गुरुदेव से इतना प्रेम क्यों करते हैं ? यह एक अजीब बात है, आप में से कई लोगों ने कहा है कि जब आप बाबूजी के पास जाते थे कभी आप उनसे नाराज होते थे, कभी उनसे निराश होते थे कि उन्होंने आकर यह नहीं कहा "तुम आ गये, स्वागत।" फिर भी आप उनसे प्रेम करते थे, क्यों ? क्योंकि यह हृदय की प्रतिक्रिया है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि उसने कुछ पाया है।

एक बहुत मोटे उदाहरण के रूप में, जब कोई भरपेट खा लेता है तो उसे डकार आती है। वह उसके पेट की खाने के प्रति प्रतिक्रिया है। इसके ऊपर आपका कोई नियंत्रण नहीं। अब, सभ्य समाज में इसकी आशा नहीं की जाती। परन्तु कई बार ऐसी परिस्थिति होती है जिस पर आपका कोई नियंत्रण नहीं। मेरे विचार में प्रेम की यह एक परिभाषा है कि यह हृदय की उस चीज के लिये एक प्रतिक्रिया है जिसे केवल वही जानता है कि उसने क्या पाया है। जब आप उसकी बौद्धिक व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं कि "मैंने क्या पाया है जिसके लिये मेरा हृदय आभारी है ?" तो हृदय कहता है "अपनी जगह पड़े रहो, यह तुम्हारा कार्य नहीं" प्रेम तो हृदय से हृदय का मामला है।

जब हम कहते हैं आओ दिल की बातें करें तो आम तौर पर यह एकान्त की बातें होती हैं जिन्हें प्रेस वाले 'कैमरा में बन्द' बातें कहते हैं। आध्यात्मिकता में शब्द व्यर्थ हैं। जैसे बाबूजी कहते थे "प्राणाहुति देने में शब्दों की आवश्यकता नहीं, यह देने वाले के हृदय से पाने वाले के हृदय में जाती है।" यह बात है। गुरुदेव के प्रति हमारा प्रेम हमारे हृदय की एक प्रतिक्रिया है जो कि जानता है कि उसने गुरुदेव से पाया है और जो पाया है उसको कुछ वापस देने का प्रयत्न है। तो आप कैसे और क्योंकर गुरुदेव से उसके एवज में पुनः कुछ वापस पाने की आशा करते हैं। आप समझे कि

समस्या क्या है ?

प्रश्न—परन्तु अगर जानने की आवश्यकता हो ?

उत्तर—आपको इसके ऊपर विचार करना है, पूछना नहीं, यह मेरी वार्ता है। (हास्य) (वह भी मुसकुराते हैं)

जो मैं कहना चाहता हूँ वह पूरा हो गया। मेरी आशाओं से कहीं परे कृपा का जो वरदान मैंने पाया है, उसके लिये मेरा हृदय वही प्रतिक्रिया कर रहा है जो उसे करनी चाहिए। जैसे हम एक फूल का बीज डालते हैं, उसे सींचते हैं बड़ा करते हैं, और एक दिन जब वह फूल बन कर खिलता है तो वह तुम्हें अपनी सुन्दरता व खुशबू देता है। वह केवल उसी भाँति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकता है। क्या वह अपने तने से अलग हो कूदकर आपको 'धन्यवाद' कह सकता है ? नहीं। जब हम किसी चीज का पालन करते हैं तो उसका अस्तित्व ही उसका आभार है जो मुझे प्राप्त होता है, और कुछ नहीं। आखिर, मैं कोई पौधा क्यों लगाता हूँ ?

कोई कहता है फिल एक माली है। तुम बागवानी क्यों करते हो ? इसलिए नहीं कि पौधे तुमसे कहें "फिल मैं तुम्हारा आभारी हूँ, तुमने मुझे पानी दिया, मुझे खाद डाली, मुझे काटा, सँवारा या मेरी घास को काटा, उनका अस्तित्व ही उनके आभार की अभिव्यक्ति है।

अब हमारे आभार की अभिव्यक्ति क्या है ? मेरे हृदय का अस्तित्व। वह हृदय जो मलिनता, भारीपन से ढका था जैसे स्टील के जाल में बन्द था, इतना दबा व घुटा था कि साँस भी लेना कठिन था, अब वह नरम, व नमनशील बन गया है, और अब वह अपनी धड़कने, अन्तः प्रेरणा-कुछ भी कहो, भेज सकता है। हमारा प्रेम उस आभार की अभिव्यक्ति है जो हम गुरुदेव को भेंट करते हैं—जो कोई भी शब्द व उपहार व्यक्त नहीं कर सकते—उस समय जब हमारी प्रत्युत्तर देने की क्षमता असमर्थ हो जाती है, और शब्द कुछ नहीं कह पाते। मेरा मतलब है, यह कहना कितना निरर्थक है कि "जीवन के उपहार के लिये धन्यवाद ।" इसी कारण ऐसी परिस्थितियों में जब हम इतना पाते हैं कि हम धन्यवाद भी नहीं कर पाते तब लोग रोने लगते हैं। रोना आभार की अभिव्यक्ति है।

मुझे एक अवसर स्मरण आता है, मैं मद्रास में एक मित्र के साथ समुद्र के तट पर बैठा था। रात के करीब १० बजे होंगे और एक मूँगफली बेचनेवाला आया!, उसके पास पूरी मूँगफली की टोकरी थी जो बिक नहीं पाई थी। वह आया और पूरी टोकरी हमारे सामने रखकर चुपचाप खड़ा हो गया,

वह कुछ भी नहीं कह सका। वह भावों के वेग में दबा हुआ था, क्योंकि कुछ भी बिक्री नहीं होने की हालत तें उसे भूखा रहने की नौबत आ गई थी। अब जो कुछ बेच कर आपको पैसे घर ले जाने हैं उसे आप खा तो नहीं सकते। अब मेरे मित्र ने कहा "जाओ हमें कुछ नहीं चाहिए।" मैं उस व्यक्ति की पीड़ा को समझ रहा था। मैंने मजाक करते हुए पूछा, पूरी टोकरी कितने की होगी ? उसने कहा "दो रूपये" मैंने उसे दो रूपये देते हुए कहा "इसको यहीं छोड़ दो। आपको मालूम है ? वह रोने लगा। उसके लिये दिन के अन्त में यह सब से बड़ा उपहार था—शायद दिन के अन्त के भी बाद, जब कि वह पूरे दिन में एक मूँगफली भी नहीं बेंच पाया था और यहाँ प्रभु की कृपा व दयालुता, कुछ भी कहिए, कि उसकी पूरी टोकरी बिक गई। अब वह एक आशा के साथ घर जा सकता था। वह धन्यवाद नहीं कह पाया केवल आँसू।

तो आप देखते हैं कि बहुत पवित्र अवसरों पर अश्रु आते हैं—यद्यपि ऐसे बुरे अवसर भी होते हैं जब हम पीड़ा, दुःख व अन्य कारणों से रोते हैं—परन्तु कोई ऐसा पुनीत अवसर होता है जब हम गुरुदेव के सम्मुख खड़े होते हैं या बैठे होते हैं, जबकि हमारा हृदय आभार व्यक्त करने की इच्छा से फटा जा रहा होता है, कोई भी जाने पहचाने भाव उसे व्यक्त नहीं कर पाते और फिर जैसे सब कुछ पिघल कर हमारी आँखों से धारा बन बह निकलता है। यह उच्चतम अभिव्यक्ति, यह गुरुदेव के प्रति प्रेम की उच्चतम अभिव्यक्ति, यह गुरुदेव के प्रति प्रेम का उच्चतम उपहार है, न कि फूल या चाकलेट या चीज। हाँ—

(टेप टूटा है)

रहस्यवादी साहित्य में—

(टेप टूटा है)

—हृदय से समझा जाता था। हम क्रियाओं की ऊपरी सतह से चिपके रहते हैं, आशा से चिपके रहते हैं और दुःख-दर्द पाते हैं।

आध्यात्मिक प्रेम ऐसा है जैसे कोई मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा है, उसके पैर तो हमेशा धरती पर होते हैं, परन्तु सिर किसी भी ऊँचाई पर हो सकता है, वह धरती से ६ फुट ऊपर या २७ फुट ऊपर या २७०० फुट ऊपर हो सकता है। यह उस पर निर्भर करता है आप किस ऊँचाई तक बढ़े हैं। परन्तु पैर हमेशा वहीं रहेंगे। इसी कारण सहज मार्ग में यह अजीब स्थिति देखने में आती है कि लोग पूछते हैं कि आपकी संस्था में ब्रहमचर्य का क्या

स्थान है। क्योंकि भारत में विभिन्न सन्यासोन्मुख संस्थाओं में घर-बार छोड़ कर ब्रह्मचर्य जीवन बिताना आवश्यक है। या यह न खाओ वह न खाओ और इसी प्रकार की अनेक वाहियात चीजें। सहज मार्ग में यह विचित्र चीज देखने में मिलती है कि गुरुदेव के छै बच्चे। कई लोग पूछते हैं कि आप के गुरु छै बच्चों के पिता होकर सन्त होने का दावा कैसे करते हैं। हम कहते हैं "वह सन्त नहीं अपितु सन्तों को बनाने वाले हैं।" आपको मालूम है ? यह कैसी अजीब चीज है कि कस्तूरी को लोग 'सन्त कस्तूरी' कहते हैं परन्तु कोई गुरुदेव को सन्त नहीं कहता। वह सन्तों के निर्माणकर्ता थे, जैसे राजा या सिंहासन के पीछे जो शक्ति है, वह स्वयं तो राजा नहीं पर उससे ऊपर है, परे है।

समस्या यह है कि हमने आध्यात्मिकता बल्कि कहिये कि धार्मिक जीवन के साथ कुछ मूल्यों को जोड़ रखा है। किन्तु आप पाते हैं कि वे नियम टिकने वाले या जिन्हें जीवन में धारण किया जा सके इस योग्य नहीं थे। आज आप देखते हैं कि कैथोलिक चर्च भी इस विषय पर ढील दे रहा है और साधुओं को भी शादी और बच्चों की अनुमति दे रहा है। जैसा कि मेरे गुरुदेव ने अपनी बुद्धिमत्ता से कहा "गृहस्थ जीवन में ही प्रेम व बलिदान जैसे गुणों का सीखना सम्भव है।" ईसा मसीह के विदा हो जाने के २००० वर्ष बाद अब ईसाई चर्च इस सत्य की ओर जागृत हो रहा है। बुद्धिमत्ता कोई ऐसी चीज नहीं जो क्षणिक बिजली की चमक की भाँति हमारे जीवन में आती है। उसके लिये हमें धैर्य पूर्वक प्रयत्न करना पड़ता है, सीखना पड़ता है, जैसे एक बालक लड़खड़ा कर गिरता है, फिर चलना सीखता है। अगर आप उसे गिरने से रोकने का प्रयत्न करें तो वह चलना कभी भी नहीं सीख पायेगा। यह कुछ चीजें हैं जिनके विषय में मैं विशेष रूप से बात करना चाहता था क्योंकि आध्यात्मिक प्रेम, सर्वव्यापी प्रेम, गुरुदेव के प्रति प्रेम के विषय में बहुत बातें होती रहती हैं। सदा से यह मेरी शरारत भरी कोशिश रही है कि हजरत मूसा के दस निर्देशों में यह ग्यारहवां निर्देश भी जोड़ दूँ "आशा मत करो ताकि तुम्हें निराशा का सामना न करना पड़े।"

छोड़ना

इस साधना पद्धति की सुन्दरता इस में है कि जैसे जैसे हम प्रगति करते हैं वैसे वैसे हम अधिकाधिक नई जानकारी पाते जाते हैं। इसमें एक सौन्दर्य या दो सौन्दर्य नहीं होते कि हम कह दें कि "हाँ वह सुन्दर है, मैंने उसे सुन्दर पाया" और वहीं रुक जायें। खूबी यह है कि इसकी खूबियां निरन्तर प्रगट होती हैं। व्यवहारतः, हम रोज ब रोज इसमें नई खूबियां पाते चले जाते हैं। यह जैसे कभी न समाप्त होने वाला आश्चर्य है। और यही इस पद्धति की वास्तविक सुन्दरता है।

मुझे स्मरण है कि जब मैं पहली बार अपने गुरुदेव के पास आया तो जो पहली शिक्षा उन्होंने मुझे दी वह थी कि तुम्हारे और प्रभु के मध्य में कोई बिचौलिया नहीं होना चाहिए। मैंने उनसे पूछा " और गुरु के विषय में क्या राय है ?" अब यह तो एक पूछने लायक स्पष्ट प्रश्न है क्योंकि प्रभु हैं, मैं हूँ और बीच में गुरुदेव हैं। उन्होंने सहज भाव से कहा "लालाजी की कृपा से तुम्हें स्वयं उत्तर मिल जायेगा" जाहिर है कि वे यह तो कह नहीं सकते थे कि वे क्या हैं ? या ईश्वर क्या था या है। अतः जो प्रथम उत्तर मुझे मिला वह वस्तुतः उत्तर नहीं था फिर भी वह इस अर्थ में उत्तर था कि उत्तर ढूंढने के लिये मुझे प्रयत्न करना है। जैसा कि मैंने अनुभव किया कि सहज मार्ग की खूबियों में एक खूबी यह है कि यहां हमें गढ़े-गढ़ाये उत्तर नहीं दिए जाते जो शुष्क और नीरस हों परन्तु इस पद्धति में उन्हें अन्दर से स्वतः विकसित होना पड़ता है।

जैसे कि आप गाड़ी में बैठते हैं परन्तु बैठते ही तो लक्ष्य आपके सम्मुख नहीं पहुँच जाता। आपको धीरे धीरे उसकी ओर जाना पड़ता है। मुझे यह पता लगने में कुछ समय लगा कि परमात्मा और मेरे बीच कोई नहीं है। जब मेरे हृदय ने मुझे बताया कि जो मेरे सम्मुख बैठा है वह और कोई नहीं स्वयं परमात्मा ही है जिसके विषय में वह स्वयं बात कर रहा है, वह भी ऐसे जैसे वह कहीं और हो। ऐसा, जैसे किसी के पैर के अंगूठे में दर्द होने पर वह कहता है कि "ओह मेरे पैर के अंगूठे में दर्द हो रहा है।" वह यह भी कह सकता है कि "मै दर्द कर रहा हूँ" । यह मेरा ही अंग है परन्तु यह विशेष है

और वह सामान्य होगा।

दूसरी चीज जो मैंने अनुभव की वह थी रोने के सम्बन्ध में। बाल्यावस्था में हम तभी रोते हैं जब दु:ख में, तकलीफ व दर्द में होते हैं। सहज मार्ग में मैंने इसका विपरीत अनुभव किया। आपने देखा होगा कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समय रोया होगा जब कभी उसे उस असीम राहत या आभार का अनुभव हुआ होगा जैसे कि एक बालक राह भटक जाने के पश्चात जब घर वापिस पहुँचा दिया जाता है और वह माँ की गोद में गिर कर रोता है। वह उस राहत की भावना से रोता है कि भटक गया था पर फिर अब वापिस पहुँच गया है। या जब कोई मरीज बीमारी की उस हालत में हो कि डाक्टर जवाब दे चुका हो और उसके बचने की कोई आशा न हो और ऐसे में पुरोहित को बुलाया जाय और फिर एक चमत्कार के परिणामस्वरूप वह पुरुष या स्त्री बच जाय तब उस अवस्था में सभी रोने लगते हैं। इसलिए नहीं कि वह मर गया परन्तु इसलिए कि वह बच गया है एक आभार की बाढ़ उनके हृदय को भर देती है और उनकी आँखें अश्रुओं से भर जाती है। अब यह मुझे नहीं मालूम था क्योंकि मेरे जीवन में इतनी दु:खद घटनाएं घटित हुई जिनका आरम्भ मेरी माँ की मृत्यु से हुआ जब मेरी आयु केवल ५ वर्ष थी। प्रसंगत: इस घटना ने मेरे जीवन से नारी तत्व समाप्त कर दिया। क्योंकि मेरी कोई बहन भी नहीं थी। मेरी एक बहन जो मेरी माँ की मृत्यु के समय पैदा हुई थी, कुछ ही देर पश्चात उसकी भी मृत्यु हो गई। इस सब ने हमें एक बढ़े चढ़े पुरुषोचित साँचे में और भी कड़ा कर दिया, कि पुरुषों को रोना नहीं चाहिए, दु:खी नहीं होना चाहिए, अपनी पीड़ा को व्यक्त नहीं करना चाहिए आदि आदि। एक विकृत उदासीनता का रवैया। अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी शिक्षा ने इसे और भी बढ़ा कर पक्का कर दिया था। मेरी शिक्षा क्राइस्ट चर्च बायज़ स्कूल में हुई जहाँ पर अंग्रेज शिक्षक विलायत से बुलाए जाते थे न कि अंग्रेजों की नकल करते काले अकड़ू भारतीय।

हाँ तो वह पेड़ की छाल (Bark) के विषय में बात कर रही थी न कि कुत्ते के विषय में। अब छाल का एक बचावकारी कार्य है। इसी भाँति हम अपने व्यक्तित्व में छाल जैसा बचावकारी कवच बना लेते हैं जिससे अपने आप को सुरक्षित रख सकें और वह इतना कड़ा हो जाता है कि बचाव के विपरीत हम स्वयं उसके बन्दी बन कर रह जाते हैं। अब प्रकृति की ऐसी प्रक्रिया व करिश्मा है कि जैसे पेड़ बड़ा होता है वह छाल गिर जाती है और

एक नई छाल अन्दर से बन जाती है। उसमें कोई एक ही छाल नहीं होती जो कड़ी होकर पेड़ के बढ़ने में रुकावट डाले। परन्तु जब हम बाह्य रूप में एक सख्त कड़ा स्वरूप बनाते हैं तो हम स्वयं उस कवच के बन्दी बन जाते हैं और फिर हम बढ़ नहीं सकते।

इस प्रकार पेड़ की छाल तो अच्छी है, प्राकृतिक है, जीवित है और जैसे जैसे पेड़ की गोलाई बढ़ती जाती है वह गिरती जाती है और उसके स्थान पर नई छाल निकलती आती है। दुर्भाग्यवश हम अपने लिये ऐसी छाल बनाते हैं जो दिन पर दिन कड़ी होती जाती है। इसी कारण कई बार हमें यह समझने में अत्यधिक कठिनाई होती है कि जो बाहर से इतने सख्त दिखते हैं उन व्यक्तियों का दिल वास्तव में बहुत नरम है। वह अपने नरम, दयालु अन्तःकरण को छिपाने के लिए कड़ा बाह्य स्वरूप धारण कर लेते हैं और इस प्रक्रिया में सब कुछ खो बैठते हैं। क्योंकि कई बार वह स्वयं भी भूल जाते हैं कि वह अन्दर क्या हैं और अपने बाह्य स्वरूप से ऐसे जुड़ जाते हैं कि पीछे नहीं हट सकते क्योंकि वह गर्व और प्रतिष्ठा का प्रश्न हो जाता है। मैं कई ऐसे लोगों को जानता हूँ। मेरे एक चाचा थे जो अन्दर से ऐसे नर्म दिल-जैसा मैंने कोई और नहीं देखा—परन्तु बाह्य स्वरूप एक शिकारी कुत्ते की भाँति। उनका दिल करता कि आप को सौ रुपये दे दें, परन्तु वे आप को खाली हाथ वापस भेज देते और फिर स्वयं रोते थे। वह मृत्यु-शय्या पर पड़े मित्र को देखने हस्पताल जाते तो वहाँ सब को भाषण देते कि हमें बहादुर और धैर्यवान होना चाहिए आँसू नहीं बहाना चाहिए, हस्पताल में कैसा व्यवहार किया जाता है आदि आदि और स्वयं बाहर आकर गाड़ी में बैठकर रोते। यह मेरे लिए शिक्षा थी। मुझे पता है कि इस कारण उन्हें कितना दुःखी होना पड़ता था। जब तुम प्राकृतिक रूप में अपने स्वभाव के अनुरूप व्यवहार नहीं कर सकते तो तुम्हें छिप कर अकेले में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देनी पड़ती है और यह अत्यन्त दुःखद है। दुर्भाग्यवश जब वह थोड़ा बदल रहे थे और उनका बाह्य रूखापन कम हो रहा था तो अचानक ७२ वर्ष की आयु में वह बीमार हुए और चल बसे। तब तक बहुत देर हो गई थी।

सहज मार्ग हमें यह शिक्षा देता है कि हमें अपनी आन्तरिक स्थूलता को तो हटाना ही है जो मालिक हटाता है उसके लिए हम अनन्त तक उसके आभारी हैं, साथ ही हमें अपनी बाह्य कठोरता जो हमने अपने इर्द गिर्द बना ली है उसे भी तोड़ना है और यह हमारा कार्य है। वह कैसे करें ? आपको

तो मालूम ही है जब लोहे में जंग लग जाता है तो उसे साफ करने के लिये तेजाब में भिगो देते हैं। परन्तु यहाँ हमें अपनी आन्तरिक सफाई का बिलकुल उलटा करना होता है। हमें अपनी वास्तविक प्रकृति को, नम्रता को, दयालुता को धीरे-धीरे बाहर आने देना है ताकि हमने जो कठोरता निर्मित कर रखी है, वह उस पर प्रभाव डाल कर उसे अन्दर से घुला सके और फिर एक दिन हम देखते हैं कि वह गिर गई।

अब समस्या यह है कि उस स्थिति में हम अपने आप को अनावृत और अत्यधिक सुभेद्य अनुभव करते हैं फिर हम कहते हैं कि "अब जब मेरे चारों तरफ कोई सुरक्षा कवच नहीं है तो मेरा क्या होगा ? मैं इतना सुभेद्य हो गया हूँ कि मुझे बाहर जाने में डर लगता है। ऐसे में अपने आप को अन्दर समेटने की प्रवृत्ति होती है और ऐसे में अगर उसे रोका न जाए तो शायद हम सदा के लिए खो जायेंगे।

चूँकि यह मूल भय का पुनः पुष्टीकरण है इसलिये यह गहरा होता जाता है और बाद में जब हम अपने इर्द गिर्द कड़ेपन की जो परतें चढ़ायेंगे वे इतनी कड़ी हो जायेंगी कि उन्हें तोड़ने की कोई सम्भावना नहीं होगी। उसी समय समस्या का आरम्भ होता है। अब मेरे अपने बनाये हुए अन्तर नहीं बचे। मैं अपनी आन्तरिक कोमलता और विनम्रता के वशीभूत होकर स्वयं एक मनुष्य के लिये स्वाभाविक रूप से सुलभ सौम्यता और दानशीलता के साथ अनावृत हो गया हूँ। ऐसे समय में अगर मैं सही वातावरण में सही लोगों के साथ नहीं हूँ तो यह ऐसा होगा जैसे एक छोटी मछली को समुद्री पक्षियों की खुराक बनने के लिये छोड़ दिया जाय। वह केवल एक चोंच मारेगी और आप समाप्त। इससे मुझे अपने सत्संगी भाई बहनों के साथ रहने की क्या आवश्यकता है इसकी शिक्षा मिली। ऐसा नहीं कि सत्संग के सभी भाई बहन समुद्री पक्षियों से एकदम बदल गये हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है और अधिकांशतः हम एक ही परिवार के सदस्य हैं। अधिकतर यहाँ एक दूसरे के आध्यात्मिक क्रिया कलाप में एक दूसरे को सहारा देते हैं, एक दूसरे की सुरक्षा करते हैं। जब तक हम ऐसे समूह में हैं जो एक दूसरे की सहायता व सुरक्षा कर रहा है तब तक हम इन सुरक्षा कवचों को जो हमने अपने चारों ओर बनाए हैं त्याग सकते हैं।

फिर क्या होगा ? कभी हमें ऐसे स्थानों पर भी जाना होता है जहाँ हमें इन भाई बहनों की सुरक्षा उपलब्ध नहीं होती। प्रारम्भिक दिनों में जब कि मिशन के सदस्य गिने चुने थे जिनको हम दहाई सैकड़ा में गिन सकते थे तब

कैसे करें ? उससे तीसरी शिक्षा मिली। अपने आस पास के लोगों पर मत निर्भर करो परन्तु केवल उस पर निर्भर करो। किस भाँति ? हमेशा यह कल्पना करो कि गुरुदेव तुम्हारो चारों ओर हैं, जैसे कि तुम एक साबुन के बुलबुले के अन्दर हो और वह बुलबुला वह हैं। और यह चमत्कारिक रूप से काम करता है।

Very good

सो आप देखते हैं कि कैसे यह कठोर घोंटने वाली, बन्द करने वाली परत जो कि हमने स्वयं बनाई है उसे स्वयं चेष्टा करके परे फेंकने के पश्चात गुरुदेव में श्रद्धा होने पर हम उसे ऐसी सुरक्षित परत में बदल देते हैं और वह परत और कोई नहीं स्वयं गुरुदेव हैं। जब वह अवस्था आती है तब हम उस दिव्य स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं जहाँ हम बिना किसी शोषण के ठीक वैसे ही रह सकते हैं जो वस्तुतः हम हैं। यह स्वतन्त्रता की बातचीत, मदान्ध स्वतन्त्रता, स्त्रियों की स्वाधीनता, शरीर पर कुछ न पहनने की स्वतन्त्रता आदि आदि यह सब स्वतन्त्रता की बहुत स्थूल धारणायें हैं। हम स्वतन्त्रता को मूल्यवान क्यों मानते हैं ? हम अपने घर के चारों ओर बड़ी बड़ी दीवारें व झाड़ियाँ क्यों लगाते हैं—ताकि अगर हम सूर्य में स्नान करना चाहें तो बिना कुछ पहने अपने लॉन में धूप-स्नान कर सकें और कोई हमें न देख पाये। है न ? उन्हें हम चोरों और लुटेरों के डर से नहीं बनवाते हैं बल्कि उत्सुक नजरों से बचने के लिए बनवाते हैं। अब अगर मैं बिना शर्म के निर्वसन ही घूम सकूँ तो मुझे घर के इर्द-गिर्द दीवारें बनाने की क्या आवश्यकता ? मुझे कब शर्म नहीं होती ? जब मुझे इसकी चेतना नहीं होती जैसे एक बालक को अपनी नग्नता का कोई बोध नहीं होता। नग्नता का बोध और कपड़े पहनने का ख्याल उसे हम, कपड़ा पहनाकर और नियम आरोपित करके देते हैं।

मुझे एक प्रसिद्ध उपन्यास याद आता है, आप में से अधिकांश ने शायद उसे पढ़ा हो: पेन्गुइनद्वीप अनातोले फ्रॉंस द्वारा लिखी हुई। यहाँ पेन्गुइन (एक प्रकार की चिड़िया) अपनी मूल अबोध स्थिति में है और वहाँ एक दानव आकर कहता है। "अहा ! यह सभ्यता अति शुद्ध, अबोध, प्रेमपूर्ण, परस्पर निर्भर है, मुझे इसे भ्रष्ट करना चाहिए।" और वह अपना सीना फुला कर उसमें से एक बिकनी निकालता है (हास्य) और अब सब पेन्गुइन बिकनी पहनना आरम्भ कर देते हैं। उसको उसने बहुत सुन्दर वाक्य में लिखा कि "अब सब पेन्गुइनों की नजर पेन्गुइन शरीरों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्रों पर केन्द्रित थी।" वे कुछ और नहीं देखते थे। दानव ने कितनी

सरलता से उस सभ्यता को, जो अबोध थी, निष्कपट थी, भ्रष्ट कर दिया।

सो यह सब स्वतन्त्रता झूठी स्वतन्त्रता है। मैंने पन्द्रह एकड़ जमीन में घर बनाया है जिसकी सात फुट ऊंची दीवारें है, जो झाड़ियों से ढकी है, खिड़कियों में परदे हैं। यह सब एकान्त के लिए नहीं है परन्तु घुसपैठ का डर है। शारीरिक या हिंसात्मक घुसपैठ नहीं परन्तु किसी की उत्सुक नजर की घुसपैठ। ताकि कोई मेरी ओर न देखे। इन दिनों एक और अजीब चीज है बहुत कम लोग एक दूसरे से आँख मिला सकते हैं। और अगर आप किसी की ओर जरा सा ज्यादा देर देख लें तो बुरा माना जाता है। सभ्यता ने जैसे प्राकृतिक ढंग से अपना एक समय निर्धारित कर लिया है कि आप केवल कुछ निर्धारित क्षणों के लिए एक दूसरे की ओर देख कर फिर नजरें हटा लें और अगर तनिक भी ज्यादा देर के लिए देख लिया तो दूसरा व्यक्ति आपको ऐसी घूरती नजर से देखेगा कि आप स्वयं डर कर हट जायेंगे। और इससे हम डरते हैं। हम दूसरों की नजर से क्यों डरते हैं ? क्योंकि नजरें उन आँखों के पीछे क्या छुपा है अन्दर तक देख सकती हैं और इसी कारण हम आँखों से डरते हैं।

यह अजीब बात है कि सहज मार्ग में मेरा जो पहला आध्यात्मिक अनुभव हुआ, वह ध्यान के दौरान हुआ—मैंने देखा गुरुदेव की एक आँख मुझे देख रही है। एक क्षण के लिए तो मैं डर गया। हम सबकि आदत है कि गुरुदेव हमें बाहर से देख रहे हैं। परन्तु हे भगवान ! मेरे अन्दर से ही मुझे निहारना जहाँ मेरी कोई सुरक्षा नहीं। उस समय मैंने अपने आप को पूर्ण रूप से बेकाबू तौर पर अनावृत महसूस किया। मुझे समझ में नहीं आया कि हसूँ या रोऊं। मैंने इस बात को अपने तक ही रखा और अपनी डायरी में लिख लिया। कुछ दिन बाद वही फिर हुआ। तत्पश्चात मैं जब भी गहरे ध्यान में जाता मुझे बाबूजी की वह बाईं आँख दिखाई देती। अब तो मुझे गुरुदेव से पूछना ही पड़ा "बाबूजी यह क्या, मुझे यह आँख बार बार क्यों दिखाई देती है ?" उन्होंने कहा "कस्तूरी देखो इसे भी वही अनुभव हो रहा है जो तुम्हें हो रहा था।" ऐसा लगता है कि उन्हें भी बाबूजी की आँख दिखाई देती थी। मैंने कहा इसका क्या अर्थ है ? उन्होंने कहा "इसका अर्थ है कि गुरु सर्वव्यापी है" मैंने कहा वह तो मुझे मालूम है परन्तु मुझे आँख क्यों दिखाई देती है ? तो उन्होंने उत्तर दिया "इसका अर्थ है वह तुम्हें तुम्हारे अन्दर से देख रहा है और तुम उससे कुछ नहीं छुपा सकते।" अब मैं हृदय के अन्दर कवच कैसे पहन सकता हूँ, बाहर तो पहन सकता हूँ। फिर मैंने बाबूजी से

एक प्रश्न पूछा "क्या यह सबके साथ होता है ?" उन्होंने उत्तर दिया "नहीं" मैंने कहा "क्यों नहीं" तो उन्होंने उत्तर दिया "कभी किसी विशेष मामले में जब गुरुदेव को विशेष ध्यान देना होता है किसी भक्त पर या सम्भावित भक्त या उम्मीदवार भक्त पर या किसी विशेष परिस्थिति में उसे खास निगरानी की आवश्यकता है, या जब किसी पर शक होता है (मुस्कुराते हुए) कि व्यक्ति क्या कर रहा है ? अन्त वाली बात तो मेरे विचार में भय की उपज थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि उनकी नजर मुझ पर थी। मैंने फिर कुछ महीनों पश्चात उनसे पूछा क्योंकि मैं द्विविधा में था कि एक आँख ही क्यों दिखाई देती है दूसरी क्यों नहीं। आखिर उनकी दो आँखें हैं। मैं पूछा "बाबूजी मुझे एक आँख ही क्यों दिखाई देती है, दोनों क्यों नहीं।" तो उन्होंने इसका विचित्र उत्तर दिया "तुम्हें तो गुरु का आभारी होना चाहिए कि उनकी एक आँख तुम पर है। क्या तुम्हारे विचार में उनकी दूसरी आँख दुनिया पर नहीं होनी चाहिए ? अब ऐसे लालची मत बनो कि उनकी दोनो आँखें हर समय तुम्हीं पर रहें।"

सो यह एक पिता की भाँति या माता की भाँति आप जैसा भी कहें एक दिव्य निगरानी थी। उसका नाजायज फायदा उठाने के लिए नहीं जैसा कि निगरानी शब्द से समझा जाता है, परन्तु इसलिए कि वह उसका विशेष ध्यान रख सकें जिसमें उनकी रुचि है या शायद जिसे वह प्यार करते हैं, मुझे ठीक पता नहीं।

सो यह सहज मार्ग का करिश्मा है। जब हम उन सब अवरोधों को हटा देते हैं जो हमने स्वयं को अपने आप से, समाज से, लुटेरों से, घुसपैठियों से बचाने के लिये स्वयं अपने इर्द गिर्द बना रखे हैं, तब उसका आगमन होता है। सर्वप्रथम उस बाह्य बुलबुले की भाँति जिसकी हमें कल्पना करने को कहा जाता है कि वह हमारे चारों ओर है और उस बुलबुले को भेदना असम्भव है और तत्पश्चात आश्चर्यजनक रूप से वह हमारे अन्दर आ जाता है और वहाँ से हमारी सुरक्षा करता है। अब मुझे किसी बाह्य सुरक्षा की आवश्यकता नहीं। मैं दुनिया की नर्म से नर्म चीज बन सकता हूँ और कोई मुझे भ्रष्ट नही कर सकता, नष्ट नहीं कर सकता, जला नहीं सकता, मुझे कुछ नहीं हो सकता।

यह विशाल विश्वास हमारे में केवल अपने सहज मार्ग के अनुभव से आ सकता है जो कि ध्यान की विभिन्न स्थिति में कदम ब कदम प्रगति की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए हम प्राप्त करते हैं। और फिर वह अन्तिम करिश्मा होता

है जैसे कि रॉस ने पेड़ का उदाहरण दिया। मैं सदैव पेड़ की जड़ से अचम्भित होता हूँ। वह स्थान जहाँ पेड़ का तना व जड़ें मिलती हैं वह इतना मोटा और कड़ा होता है जैसे कि पथरा गया हो। परन्तु जड़ को देखो तो उसके बारीक बाल जैसे रेशे जो आसानी से मिट्टी में चले जाते हैं, चट्टानों में, पत्थरों के बीच से और वही वास्तव में उसका पोषण करते हैं। वह इतने बारीक होते हैं कि कभी कभी दिखाई नहीं पड़ते परन्तु वही पूरे पेड़ को सहारा देकर खड़ा रखते हैं और उसके अस्तित्व का आधार हैं। जहाँ पेड़ नहीं भेद सकता वहाँ यही भेदते हैं, यह मिट्टी को तोड़ सकते हैं चट्टान को तोड़ सकते हैं। पत्थर के महीन से महीन छेद में घुस कर कड़े हो जाते हैं। फिर फैलते हैं और फैल कर चट्टान को किनारे खिसका देते हैं। फिर भी, यदि तुम उस पर जरा सा भी जोर डालो तो वह टूट जायेंगे नष्ट हो जायेंगे। यह क्या करिश्मा है कि सब से नाजुक व नरम चीज सब से सख्त चीज में घुस सकती है। जब कि केवल एक सख्त चीज ही सख्त चीज को तोड़ सकती है। क्या तुम एक छड़ से पीट कर पानी को तोड़ सकते हो ? तुम उसे तोड़ नहीं सकते केवल उसकी कुछ बूंदें उछाल सकते हो, परन्तु चट्टान को तोड़ सकते हो।

अब मानव शरीर में क्या ऐसा सूक्ष्म है, जो कि एक बाल की तरह बारीक एक पेड़ की जड़ों के रेशों के समान है ? हाँ, वह 'दिल' है। अब किसी को अगर आप सख्ती से बदलने का प्रयत्न करो तो उसे अपनी भाँति सख्त बना सकते हो। शासन, सैनिक प्रशिक्षण या अकड़ूपन यह सब हम अपनी सख्ती से प्राप्त कर सकते हैं। नाजी लोगों ने तो उसे पूर्णतः प्राप्त किया था। वह एक मानव को एक बेदिल बेरहम विनाशकारी दानव भी बना सकते थे। विशेषकर जो प्रशिक्षण वह अपने एस. एस. सैनिकों को देते थे। मैंने कहीं पढ़ा था कि जब कोई व्यक्ति उस सैनिक प्रशिक्षण के लिए चुना जाता था तो उसे एक पिल्ला दिया जाता था जिसे वह अत्यन्त प्रेम व सेवा से पालते और जब दो साल के प्रशिक्षण के पश्चात परेड होती और वह अपनी चमकदार वर्दी में लाइन बना कर खड़े होते तो उन्हें आदेश दिया जाता कि अपने पिल्ले को "मार दो" । और उन्हें झुक कर अपने पिल्ले की गरदन तोड़नी होती। जिस को उन्होंने इतने प्रेम से पाला पोसा होता, सेवा व लगन से बड़ा किया होता, प्रशिक्षण दिया होता, उसी का एक पकड़ में गला तोड़ना—यह विशेष सैनिक, आप सोच सकते हैं कि कितना भयानक प्रशिक्षण होगा। जान बूझ कर आपको उस असहाय, कोमल चीज को प्रेम

करना सिखाया जाता है और फिर उसी को परेड के दिन मारने को कहा जाता है। और उन्हें पहले से इसकी कोई खबर नहीं होती थी। नहीं तो उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जाये। अगर वह उस आदेश को न मानें तो शायद उन्हें गोली से उड़ा दिया जाता होगा। क्योंकि जो इस योग्य नहीं उसे उस स्तर पर बाहर नहीं निकाला जा सकता और शायद वह भी पिल्ले के पीछे दूसरे संसार में भेज दिये जाते। अब यह बहुत सरल है। युद्धों के इतिहास पढ़ने से हमें ज्ञात होता है कि एक इनसान को दानव बनाना कितना सरल है। परन्तु एक दानव को इनसान बनाना अति कठिन, कल्पना से परे है। और यही कठिन कार्य मेरे गुरुदेव कर रहे हैं। शायद उस दानव को इनसान में परिवर्तन करने में उन्हें स्वयं का बलिदान देना पड़ता है। कल्पना कीजिए, ऐसे व्यक्ति को कितना विशाल बलिदान देना पड़ता है। जहाँ उनका हृदय हमारे कदमों में होता है—स्वीकार करें या ठुकरा दें। कल मेरी बहन ने कितनी आसानी से गाना गाया था जिसमें उन्होंने अपना हृदय गुरुदेव के कदमों में डाल देने की इच्छा की थी, बाकी उनकी मर्जी पर है स्वीकार करें या न करें। किन्तु हम कभी गुरुदेव व उनके दिल के विषय में नहीं सोचते, जो वह हम सब को बार बार दे रहे हैं। और जब हम उसे ठुकरा देते हैं तो उनकी क्या भावनाएं होती होंगी। हमारा तो एक दिल है जो एक बार स्वीकार किया जा सकता है या अस्वीकार किया जा सकता है। परन्तु उनका दिल तो करोड़ बार ठुकराया जाता है और एक बार स्वीकार होता है। तो उनका जीवन कितना भयानक होगा। कितनी निराशा, वेदना, दुःख, कुण्ठा का सामना वे करते होंगे। अभ्यासी यह अनुभव करते हैं कि उन्हें अस्वीकार किया गया है। उनके लिए यह अनुभव करना सरल है। परन्तु गुरुदेव यह अनुभव करें जिनको हम ईश्वर कहते हैं, संसार का मालिक कहते हैं और उन्हें बार बार ठुकराया जाए, कभी आरम्भ में कभी साल, दो साल बाद। हम ठुकराए हुए प्रेमियों की बात करते हैं और यहाँ वह व्यक्ति है जो अनन्त से अपने को लिए बैठा है—और हम कभी उसे आरम्भ में ठुकरा देते हैं, कभी एक साल के प्रेम के पश्चात, कभी पाँच, कभी दस साल के प्रेम के पश्चात, कभी तो बिलकुल अन्त में जब कि अभ्यासी गुरु स्वरूप बनने ही वाला होता है, वह उसे ठुकरा देता है। कल्पना कीजिये अगर सब से नरम जड़ यह सोचने लगे "नहीं नहीं मैं अब और जोखिम नहीं उठा सकती, मैं भी पेड़ की भाँति कड़ी व सख्त बन जाती हूँ।" तो पेड़ मर जायेगा। पेड़ के सब से नरम हिस्से को अपने समाप्त होने का जोखिम

उठाना ही पड़ता है ताकि पेड़ जीवित रह सके। जब हम सब अपना हृदय देते हैं तो हमें यह जोखिम तो उठाना ही पड़ता है—सब से नर्म भाग सौंपते हैं ताकि शेष पूरी व्यवस्था जीवित रह सके।

वह जो पूरे संसार का सार है उसे भी अपने हृदय का जो उसका सब से कोमल भाग है जो उसकी प्रकृति का प्रतीक है, उसे ठुकराये जाने का जोखिम उठाना पड़ता है ताकि वह स्वयं जीवित रह सके। यही नियम लगता है कि जब तक मैं अपने सब से कोमल भाग को निरावृत करने को तैयार नहीं, तब तक मेरा अस्तित्व भी नहीं रह सकता। इसमें चाहे मुझे ठोकर लगे या ठुकराया जाए। इसके विपरीत जब हम उसे सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, और उसे जैसे स्टील की डिब्बी में बन्द कर देते हैं, बचाने के लिए, तो सब कुछ घुट कर रह जाता है। वह जिसे फैलना चाहिए बढ़ना चाहिए जो अन्त में सारा विश्व बन सके उसे जब हम इस हाड़ मांस के पिंजरे में बन्द कर देते हैं तो वह मर जाता है, ताकि उसे दुबारा इस संसार में आने का मौका मिल सके, जहाँ वह शायद दुबारा यह सीख सके या उसे यह मौका मिल सके कि हम यह दाँव लगा सकें, जहाँ हम अपना हृदय खोल सकें चाहे उसे ठोकर लगे या चोट।

मेरे विचार में दिल ही वह चीज है जो हमें बाँध सकती है या मुक्ति दिला सकती है। इसी कारण सहज मार्ग में हम हृदय पर ध्यान करते हैं और यह केवल संयोग नहीं। वह हृदय से ही प्राणाहुति देते हैं। यह...........(टेप टूटा है)

........एक खाली डिब्बा, खाली डिब्बा ही है, अगर मैं उसमें लाख रुपये डाल दूं तो वह अमीर डिब्बा हो जायेगा। यह दिखाने के लिए कि उसमें पैसे हैं मुझे डिब्बे को सोने के डिब्बे में बदलने की आवश्यकता नहीं। जो उसके अन्दर है वह उस के विषय में बतलाता है। सो हृदय जो मेरा तत्व है मेरी पहचान है। अगर वह बदल गया तो इनसान बदल गया और अगर वह दिव्य बन गया तो जिसमें वह है वह भी दिव्य हो जायेगा। शायद यह एक बेवकूफी भरा उदाहरण है, परन्तु अगर एक बोतल में शराब है तो हम उसे शराब की बोतल कहते हैं, अगर उसमें दूध है तो उसे दूध की बोतल कहते हैं, अगर उसमें पानी डाल दो तो वह पानी की बोतल बन जायेगी। बोतल को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं चाहे वह प्लास्टिक की हो, शीशे की, चाँदी की, सोने की या जड़ाऊ। महत्वपूर्ण यह है कि उसके अन्दर है क्या ? तुम बरतन नहीं बल्कि उसके अन्दर जो है वह पीते हो। इसी भाँति जब

आप किसी हाड़-माँस के इनसान का आलिंगन करते हैं तो उसके शरीर को नहीं परन्तु उसके हृदय की कामना करते हैं। अगर उसमें दिल ही नहीं तो वह केवल एक हाड़-माँस का पुतला है। शायद सुन्दर शायद कोमल परन्तु बेदिल। ऐसा अनुभव करने पर आप उसे छोड़ कर चले जाते हैं।

यही असलियत है, मुझे पता नहीं, कैसे मेरे गुरुदेव और उनके गुरुदेव ने इस खूबसूरत सरल प्रक्रिया का विकास किया। कैसे वह इस मानव अस्तित्व के अन्तरतम तक पहुँचे—मैं उसे ज्ञान नहीं कहूँगा क्योंकि वह बहुत छोटा शब्द लगता है। उन्होंने इस रहस्य को कैसे भेदा कि पिछले दस-पन्द्रह हजार वर्षों के अलिखित भारतीय मानव इतिहास में भारतीय भी केवल शरीर, इन्द्रियाँ, स्नायु प्रवाह या मानसिक शक्तियों का ही विश्लेषण करते रहे। अपने सब योगों में, वैदिक ज्ञान, अतीन्द्रिय ज्ञान इत्यादि में, वे भी केवल मानव परिवर्तन के स्थूल तत्वों पर ही सीमित रहे। और फिर यह दो मानव आये जो शायद उनके मुकाबले में अनपढ़ थे परन्तु इनमें वह विशाल दृष्टि—नहीं, शायद दृष्टि भी वहाँ असफल हो जाती है—जिनमें विशाल प्रेम था सारी मानवता के लिए। शायद लालाजी ने सोचा होगा "वह क्या चीज है जिसके कारण मानव पीड़ा का अस्तित्व है ?" क्या वह स्वयं दुःख ही है ? क्या वह दर्द है और इन सब को किनारे खिसकाते हुए वह इस तत्व के अन्तरतम तक पहुँच सके। इटली वाले भी इसे 'quore' दिल ही कहते हैं। और उन्होंने कहा कि "यही सारे अस्तित्व का आधार है। यहीं पर आनन्द, पीड़ा, कुण्ठा, दुःख सब कुछ यहीं है—इसे बदल डालो तो सारे मानव को बदल सकते हैं, और मानव को बदल दें तो सारे विश्व को बदल सकते हैं।"

मुझे समझ में नहीं आता कि इसे अनुसंधान कहूँ या और कुछ। मेरे विचार में यह अनुसंधान नहीं हो सकता क्योंकि यह एक चेतन प्रक्रिया नहीं थी। यह आत्म प्रगति भी नहीं हो सकती थी जिसने उन्हें इस आश्चर्यजनक खोज तक पहुँचा दिया। यह रहस्योद्घाटन भी नहीं, क्योंकि इस भारतीय धरा पर उसकी भी कमी नहीं थी जहाँ हर एक क्षेत्र में बड़े बड़े महान लोगों ने जन्म लिया। और यह दो बौनों ने शायद वह कर दिखाया जो पुरातन विशाल हस्तियाँ प्राप्त न कर सकीं। क्यों ? शायद जिस प्रकार जड़ के बारीक रेशे, बाल से महीन वहाँ तक पहुँच जाते हैं जहाँ किसी और की पहुँच नहीं। शायद यह लोग अपने अत्यन्त नम्र स्वभाव व अत्यन्त शून्यता के कारण वहाँ घुस पाये जहाँ कुछ और नहीं घुस पाया। न ज्ञान पहुँच पाया, न

साहस पहुँच पाया और न ही प्रभु में विश्वास पहुँच पाया। परन्तु यह लोग शायद प्रभु के हृदय तक पहुँच कर इस रहस्य को खोज पाये कि—अपने हृदय में झाँकों और तुम्हें दिखाई देगा कि तुम्हारे हृदय में वही है जो मेरे हृदय में है। बस इतनी सी बात है।

इसी कारण सहज मार्ग में हृदय को इतनी महत्ता दी गई है। कई बार मैंने अनुभव किया विशेष रूप से अनुशासन की बात करते समय, कि जब हम अनुशासन बाह्य रूप से लागू करते हैं जैसा कि परम्परागत धर्मों में तथा अन्य पद्धतियों में होता है तो शायद हम कहीं कुछ खो बैठते हैं। परन्तु मैंने अनुभव किया और पाया, अब मुझे मालूम है कि वह भी भ्रम था। क्योंकि कोई भी अनुशासन जो आन्तरिक न हो, वह अनुशासन नहीं है। क्योंकि वह जबरदस्ती थोपा जाता है और जब वह शक्ति जो इसे हमारे ऊपर लागू कर रही है समाप्त हो जाती है तो वह भी समाप्त हो जाता है। जैसा कि मुहावरा है कि बिल्ली के न रहने पर चूहे हुड़दंग मचायेंगे, और यह कोई अनुशासन नहीं। पुनः यह मेरे गुरुदेव की मेरे विचार में दयालुता नहीं वरन् उनका महान अतिदिव्य ज्ञान, दर्शन कुछ भी कहो, था जिसने कहा कि "वास्तविक स्थाई अनुशासन वही है जो व्यक्ति अपने अन्दर उत्पन्न करता है।" अतः मैं भी उसे खोजूं। मैं भी अपने हृदय को दृढ़ करूँ, शुद्ध करूँ, ताकि वह अन्दर से विकसित हो। यह एक बहुत बड़ा जोखिम लालाजी व बाबूजी इन दो गुरुओं ने उठाया। यह एक मक्खन का घर बनाने की भाँति था और उसे बना कर अन्दर आने वालों से यह कहना कि मशालें अपने हाथों में थाम लो। सब कुछ पिघल जायेगा। परन्तु उन्हें यह करीब करीब मूर्खतापूर्ण विश्वास था कि कोई भी कोमल चीज टूट नहीं सकती।

हमारी परियों की कहानियों में भी यह लिखा मिलता है कि जब हवा तेज चली तो जो कड़े पेड़ थे, जो झुकने को तैयार नहीं थे, उन्हें हवा ने तोड़ दिया या उड़ा कर ले गई। और नरम पेड़ जो झुकने को तैयार थे वह हवा से पृथ्वी तक झुक गये परन्तु बाद में ठीक हो गये। सदैव नम्र व कोमल चीजें ही लड़ाई में विजयी होती हैं न कि सख्त, वह सदैव टूट जाती है। परन्तु नरम व कोमल, उसे संसार में कुछ भी नहीं तोड़ सकता। आप सब को ज्ञात है कि पानी की एक एक बूंद चट्टान पर गिर कर उसमें छेद बना सकती है परन्तु चट्टान उसमें छेद नहीं बना सकती।

सो मेरे प्यारे भाई या बहन या बेटी जो कुछ भी समझो, सहज मार्ग हमें सिखाता है कि शोषण किये जाने का जोखिम उठाकर भी कोमल बनो, नम्र

बनो, दयालु बनो, प्रेम करो। शोषण क्या है ? शोषण का अर्थ है तुम्हारे पास कुछ है और तुम्हें बराबर भय हो कि वह तुम से छीना जा रहा है। उसे दे दो। इसके पहले कि कोई उसे तुम से माँगे उसे दे दो, कि मैं उसकी जगह और ले आऊँगा या पैदा कर लूँगा। फिर यह आश्चर्य दिखाई देता है कि जो देने के लिए बाँहें खोल देता है तो लेने वाला सबकुछ कभी नहीं ले सकता। तुम लेते जाओ, लेते जाओ परन्तु वह कभी नहीं चुकता। क्योंकि वह कहता है मेरा शोषण करने की कोशिश मत करो।" यह मनुष्य मेरे आदेशानुसार नम्र है, मेरे आदेशानुसार शोषित होने को तैयार है, मेरे आदेशानुसार खुला है—मैं उसका रक्षक हूँ, अब मैं उसके अन्दर हूँ और तुम मुझे लूट रहे हो। मैं तो अनन्त हूँ सो ले लो। देखें, तुम कब तक और कितना ले सकते हो।" अतः मेरे गुरुदेव जैसे गुरु बिना किसी भय के, ढिठाई के साथ, कह सकते थे "मुझे लूट लो" । कोई भी लूट नहीं सका। क्योंकि असीम को कौन समाप्त कर सकता है, अनन्त को कौन समाप्त कर सकता है ?

इसका सुन्दर उदाहरण हमें महाभारत की कथा में मिलता है। जहाँ पाँच पांडव व उनके सौ कौरव भाई युद्ध की स्थिति में हैं। सब से बड़े भाई अपना सब कुछ यहाँ तक कि पाँचों भाइयों की पत्नी द्रौपदी को भी जुए में हार गया था। और ये सौ निष्ठुर कठोर कौरव, पाँचों भाइयों को नीचा दिखाने के इरादे से भरा सभी में द्रौपदी का वस्त्र हरण करने का निश्चय करते हैं। कहा जाता है कि श्री कृष्ण उसके अपने भाई थे। कौरवों में सब से निष्ठुर भाई दुःशासन से उसकी साड़ी उतारने को कहा जाता है। वह उसकी साड़ी खींचता है और द्रौपदी उसको कस के पकड़े शर्म से रो रही है, और जब आखिरी हिस्सा भी खिंचने वाला होता है वह अपने हाथ फैलाकर पुकारती है "कृष्ण ! तुम कहाँ हो" तभी चमत्कार होता है। दुःशासन साड़ी खींचता जाता है और वह बढ़ती ही चली जाती है। अन्त में वह गिर पड़ता है। उसकी शक्ति इतनी समाप्त हो गई थी कि वह खड़ा भी नहीं रह सकता था।

द्रौपदी उसी भाँति साड़ी पहने रहती है और जमीन पर गजों साड़ी का ढेर लगा होता है। उधर कृष्ण वरदमुद्रा में खड़े हैं। यहीं पर इस कहानी का महत्वपूर्ण नैतिक संदेश आता है। द्रौपदी श्रीकृष्ण से पूछती है "तुम कहाँ थे ? तुम तब तक नहीं आये जब तक मैंने तुम्हें पुकारा नहीं।" और वह कहते हैं "बहन मैं तो सदैव तुम्हारे पास था, जब तक तुम पकड़े थी मैं कैसे सहायता करता। जब तुमने सब कुछ छोड़कर "हरे कृष्ण" पुकारा तब तुम्हें

संभालना मेरा दायित्व हो गया, और परिणाम तो तुम देख ही रही हो।"

इस से हमें समर्पण की आवश्यकता का उदाहरण मिलता है। समर्पण किसका ? जिसका आप समर्पण करने को तैयार नहीं, हमारी लज्जा की भावना का। मनुष्य जो अपने आप को दिव्य कहता है उसमें लज्जा की भावना कैसे हो सकती है ? शर्म है क्या, सिवाय एक और सुरक्षित परत के जो हमने अपने चारों ओर बना रखी है। (टेप टूटा है)

........यह लज्जा, नजाकत जैसी वाहियात चीजें। यह सब लज्जा की भावना नजाकत की भावना आदि यह सब और कुछ नहीं बल्कि एकान्त की कामना का ही हिस्सा है। जब वह......एक स्त्री किस चीज की सर्वाधिक सुरक्षा करना चाहती है ? जब वह सब फेंकने को तैयार हो जाती है और सब छोड़ कर प्रभु को पुकारती है तो वह रक्षा करता है।

अब इस से हमें सबसे बड़ी, सबसे महत्वपूर्ण, शिक्षा मिलती है। जब तक हम पकड़े रहते हैं, वह कहता है "चले चलो, तुम सोचते हो तुम जिम्मेदार हो, तुम सक्षम हो, मुझे इस पर कोई एतराज नहीं। तुम्हारी वह क्षमता भी मेरी ही है, उसका उपयोग कर लो। परन्तु याद रहे जब तक तुम्हारा अपने पर भरोसा है मेरा कोई दायित्व नहीं। जब तुम और अधिक सक्षम नहीं रहोगे, और जब तुम्हारी सीमायें चुक जायें तब मुझे बुलाना, मैं आ जाऊँगा।" आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता कहती है "तुम इतनी देर प्रतीक्षा क्यों करना चाहते हो ?" शुरू में ही बुला लो।" तुम्हारे पास चाहे कुछ भी हो, तुम चाहे कितने ही सक्षम क्यों न हो, तुम्हारे पास कितनी ही ताकत क्यों न हो, और तुम्हारे पास कितना ही धन क्यों न हो, वह उसके राज्य में एक अणु से भी कम है। तुम वास्तव में समर्पण क्या कर रहे हो ? उसे उनके चरणों में डाल दो और कहो "प्रभु यह सब लो और मुझे भी इसके साथ स्वीकार करो" और फिर करिश्मा देखो। समर्पण करने के लिए तुम्हें दस वर्ष, पन्द्रह वर्ष या बीस वर्ष तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। आज ही समर्पण कर दो, और लड़ाई जीत ली गई।

यह सब कुछ बहुत महत्वपूर्ण धारणायें हैं या मैं कहूं सत्य हैं। मुझे समझ में नहीं आता कि क्या कहूं सत्य, या वास्तविकता या तत्व या सहज मार्ग—सहज मार्ग यही सब कुछ है। जो यह समझते हैं और अपने आप को दे सकते हैं.........अब वह क्या चीज आप दे सकते हैं जिस से वास्तविक अर्थ में अपने आप को दे दिया समझा जा सकता है ? आपको ज्ञात है कि जब आप किसी नौकरी के लिए जाते हैं तो आप अपना श्रम बेच रहे हैं।

अगर आप एक अध्यापक की नौकरी कर रहे हैं तो आप अपना ज्ञान बेच रहे हैं। युद्ध में जाते हैं तो आप अपनी शक्ति बेच रहे हैं विशेषकर पुराने दिनों में। एक वेश्या अपना शरीर बेचती है। अब आप ऐसा क्या दे सकते हैं कि जिससे कहा जाए कि आप स्वयं को दे रहे हैं आपका हृदय।

इसलिये, मेरे गुरुदेव बाबूजी कहते हैं "मुझे केवल तुम्हारा छोटा सा मुट्ठी भर दिल चाहिए, और कुछ नहीं। और उसके बदले में तुम्हें क्या मिलता है। वह जो केवल मैं तुम्हें दे सकता हूँ।" अब यहाँ सहज मार्ग का सबसे कठिन चरण आता है कि हम सब कुछ देने को तैयार हैं, अपना समय, अपना पैसा अपनी सुविधाएं—जमीन पर सोओ, अपनी स्लीपिंग बैग में ठण्ड में सोओ, सर्दी में ठण्डे पानी में नहाओ आदि आदि। हम सब करने को तैयार हैं परन्तु यह ? क्योंकि यह या तो मेरी प्रेमिका के पास है या मेरी होने वाली प्रेमिका या बीती हुई प्रेमिका के पास, जवाहरात की भाँति पूरी तरह सुरक्षित। जैसे कि इंगलैंड में ताज के जवाहरात किसी किले में सुरक्षित रखे जाते हैं, जहाँ न उन्हें कोई देख सकता है, न छू सकता है, न उपयोग कर सकता है—जैसे कि वह जमीन के नीचे दफनाए गयें हों।

यही हम देने को तैयार नहीं हैं। गुरुदेव भी धैर्य से प्रतीक्षा करते हैं "तुम अपने हृदय के साथ फुटबाल खेल रहे हो, तुम उसे ऐसे लोगों के सम्मुख फेंक रहे हो जो उसे ठोकर मारेंगे इधर उधर फेकेंगे और गोल में पहुँचा देंगे। एक दिन तुम्हें मेरे ही पास आना पड़ेगा। क्योंकि मैं ही वह व्यक्ति हूँ जो तुम्हारे दिल का उस भाँति सौदा करता है, जैसा उसका सौदा होना चाहिए। उसको पवित्र बना कर, विशाल बना कर, दिव्य बना कर उसे एक सार्वभौम हृदय बना सकता है, नहीं तो वह केवल एक रबड़ के टुकड़े की भाँति है जिसे हम इधर उधर ठोकरें लगाते रहते हैं। आप कब तक उसके साथ खेलना चाहेंगे ?" "ओह अगले तीन जन्म।" "जाओ खेलो, मैं प्रतीक्षा कर सकता हूँ। आगामी ३०० जन्मों तक ? ठीक है, मैं फिर भी प्रतीक्षा कर सकता हूँ। "बाबूजी आप कैसे प्रतीक्षा कर सकते हैं ?" "मेरे पुत्र, अगर तुम तीन जन्मों या ३०० जन्मों तक खिलवाड़ कर सकते हो तो क्या मैं तुमसे कुछ कम हूँ ? मैं अनन्त काल तक प्रतीक्षा कर सकता हूँ।"

गुरु कौन ?

आज शाम कुछ आत्मकथात्मक बातें कहना चाहूँगा—मैं समझता हूँ कि अब यहाँ वेल्स में अधिक बातचीत के लिए समय नहीं बचा। अगर कोई बोलने वाला बचा हो तो मैं क्षमा चाहूँगा समय की कमी के कारण।

मैं अपने गुरुदेव के पास १९६४ में आया। जाहिर है कि जब मैं उनके पास आया मुझे कुछ भी जानकारी नहीं थी, सहजमार्ग क्या है ? आध्यात्मिकता क्या है ? गुरु क्या है ? मेरे विचार में मैंने "मेरे गुरुदेव" में लिखा है कि, मैं इसमें संयोगवश ही आया। मुझमें कोई उच्चतर जीवन जीने की आकांक्षा थी, सम्भवतः यह मेरी पलायनवादी प्रकृति रही हो, मुझे वास्तव में मालूम नहीं। मेरे परिवार में तमाम दुःखद घटनाए हुईं, तमाम निराशायें और इसी तरह की कुछ अन्य बातें हैं, जिनके कारण मैं गीता इत्यादि पढ़ने में लग गया। एक चीज से दूसरी चीज में प्रवेश होता गया और दस साल गुजरने के बाद बड़ी किस्मत से मैं सहज मार्ग में आ खड़ा हुआ। उस समय मैं ३० वर्ष का रहा होऊंगा (मैंने यह सब १८ वर्ष की आयु में शुरु किया था)। जब मैंने पहली बार अपने गुरुदेव को देखा उन्हें मास्टर कह कर पुकारा, क्योंकि सभी यही कहते थे, मास्टर या बाबूजी। बाबूजी तो मेरी समझ में आता है क्योंकि यह अंग्रेजों के जमाने का बचा खुचा शब्द है। बाबू होता है क्लर्क, और 'जी' सम्मान के लिए जोड़ा जाता है। इसलिए बाबूजी का अर्थ अधिक कुछ नहीं, बस इतना कि अंग्रेज लोग क्लर्कों को अपने दफ्तर में यही कहकर बुलाते थे जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी आरम्भ हुई। और मास्टर ? मैंने कभी भी परवाह नहीं की कि पूछता कि मास्टर क्या होता है और उसे कैसा होना चाहिए, उसमें क्या गुण व योग्यताएं होनी चाहिए। सब उन्हें मास्टर कह कर बुलाते थे, सो मैं भी मास्टर कहता। मेरा कुछ सम्पर्क ईसाई धर्म से भी था तो वहाँ मैंने पाया था कि ईसा मसीह के शिष्य उन्हें मास्टर कह कर बुलाते थे। मुझे मालूम नहीं कि मूल हिब्रू या अरबी भाषा में क्या शब्द था परन्तु अंग्रेजी अनुवाद में ईसा को आम तौर पर मास्टर कहा गया है। मुझे नहीं मालूम कि मेरे मास्टर को मास्टर क्यों कहते थे। मैं समझता हूँ कि किसी में भी इतनी योग्यता या क्षमता नहीं कि वह कह

सके कि मास्टर कैसा होना चाहिए, उसमें क्या करने की क्षमता होनी चाहिए, क्या योग्यता व क्या क्या गुण होने चाहिए। इस अर्थ में मास्टर कह कर बुलाने के ढंग की व्याख्या नहीं की जा सकती।

जैसे जैसे मैं बाबूजी महाराज की सोहबत में बढ़ा मुझे अपने में दो वृत्तियां दिखाई दीं। एक तो उनके लिए सम्मान व श्रद्धा में इतनी वृद्धि कि उनके प्रति एक पूजनीय प्रवृत्ति सी हो गई जहाँ मैं उन्हें मास्टर, शायद "मास्टर" एक बड़े "म" के साथ पुकार सकता। कभी कभी मैंने मन ही मन उन्हें "दिव्य" या "मेरे प्रभु" और भी बहुत कुछ कहा है। और साथ ही साथ एक इच्छा थी अधिक से अधिक प्रेम व नजदीकी की। ऐसे भी अवसर आये जब मैंने उनके साथ वास्तव में अपने लड़के, अपने बच्चे या छोटे भाई की भाँति व्यवहार किया, विशेषकर जब वह अस्वस्थ होते और उन्हें देखभाल की आवश्यकता होती, एक माँ के समान सेवा की आवश्यकता। तो एक तरफ बढ़ता हुआ सम्मान व श्रद्धा और ईश्वर की तरह पूजने की भावना जिसमें उन्हें मास्टर कहना स्वभाविक था! दूसरी ओर इसके विपरीत उनके साथ अधिक से अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क की इच्छा। फिर कुछ समय ऐसे आते हैं जब सम्बन्ध इतने गहरे हो जाते हैं कि उनके लिये कोई भी सम्बोधन उपयुक्त नहीं होता। अंग्रेजी में "प्यार" 'प्रेमिका' ' प्यारे' आदि शब्द हैं, पर मास्टर को कोई प्रिय कह कर तो नहीं सम्बोधित कर सकता। कम से कम पुरुष अभ्यासी एक पुरुष मास्टर को तो कदापि नहीं। तो ऐसी स्थिति में क्या कह कर बुलाया जाए ? तो यह दोनों वृत्तियां इतनी मिली-जुली थीं कि कभी कभी मैं गड़बड़ा जाता था। कभी कभी जन समूह में जब मेरा मन गुरुदेव के प्रति भावना से भरा होता उस समय उन्हें 'मास्टर' कहना कुछ नकली लगता। कुछ अन्य अवसरों पर जब मैं उनसे कुछ उखड़ा होता या कभी कभी हमारा झगड़ा भी होता था, उस समय मैं जानबूझ कर उन्हें मास्टर कहता जैसे उकसाने के लिए। अन्य अवसरों पर निर्भीक प्रेमी की भाँति पीछे से उन्हें बाँहों में समेटना ज्यादा ठीक लगता।

मैं कहते कहते यहाँ तक क्यों आ गया ? क्योंकि कुछ अभ्यासियों की माँग थी कि अपनी स्थिति स्पष्ट करूँ। अब कुछ लोग मुझे मास्टर कह कर सम्बोधित करते हैं। हालाँकि पश्चिम में अधिकतर लोग मुझे चारी कहते हैं। इधर कुछ फैशन सा बन गया है कि चारीजी कहा जाता है। 'जी' शब्द तो बेमतलब ही जोड़ा जाता है क्योंकि 'चारी' ही पर्याप्त है। चूँकि मेरा विश्वास है कि सम्मान का उद्गम हृदय में है इसलिए कोई सम्मानसूचक शब्द पहले

या बाद में जोड़ना व्यर्थ है। यह आपका निर्णय है। जैसा कि सब जानते हैं बच्चे तक मुझे चारी कहते हैं विशेषकर अमरीका में और उससे भी विशेषकर डेनमार्क में जहाँ के लोग अति प्रेमी हैं और जब बच्चे प्रेम से मुझे चारी कह कर बुलाते हैं तो मेरा दिल भर आता है। वह जैसे पुकारते हैं, उसके पीछे कितना प्यार छिपा है। अब मैं तो प्यार पाना चाहूँगा न कि नाम के पहले एक दो सम्मानसूचक शब्द जोड़ा जाना पसन्द करूँगा। यह सब बेकार है, इससे कोई फरक नहीं पड़ता।

परन्तु कुछ लोग मुझे मास्टर कह कर बुलाने पर ही जोर देते हैं। इस बात से मैं नाराज भी होता हूँ क्योंकि उसके दो-तीन कारण हैं। एक तो यह कि इस बात ने मुझे उन कुछ पुराने अभ्यासियों से अलग कर दिया है जो समझते हैं कि मैंने यह पद हथिया लिया है, जिसका मैं अधिकारी नहीं, जिस तक मैं पहुँचा नहीं हूँ। कुछ ने तो यहाँ तक कहा है कि मास्टर की असामयिक मृत्यु का मैं उत्तरदायी हूँ। यह तो रही पहली बात। अब दूसरी बात यह है कि मैंने स्वयं कभी मास्टर होने का दावा नहीं किया। मेरा मतलब है कि एक तो मुझे यही नहीं मालूम कि मास्टर होता क्या है। जैसा कि मैंने पहले बताया है जब मैं सहजमार्ग में आया और मैंने अपने मास्टर को अच्छी तरह जाना, एक मनुष्य के रूप में, ऐसे मनुष्य के रूप में जो जैसा चाहे कुछ भी कर सकता है। वह कहते थे कि वह पूरे ब्रह्माण्ड को लट्टू की तरह नचा सकते थे, परन्तु इसके साथ-साथ कभी कभी उन्होंने असफलता का मुँह भी देखा। कभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी आतीं जिन्हें वह सुलझा नहीं पाते थे। मुझे नही मालूम उनके पास शक्ति थी या नहीं। मेरे विचार में शक्ति थी, परन्तु शायद प्रकृति उसे रोक देती थी, या शायद लालाजी उसे रोक देते थे। तो मेरे मास्टर में भी इस प्रकार की परस्पर विरोधी चीजें थी। एक तरफ तो वह कहते वह जो चाहे कर सकते हैं, जो कुछ ईश्वर कर सकता है, वह सब भी वह कर सकते हैं। बल्कि वह इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहते जो ईश्वर भी नहीं कर सकता उसे वह कर सकते हैं, क्योंकि ईश्वर अपने जैसा दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता जबकि वह अपने जैसा दूसरा व्यक्ति निर्मित कर सकते थे। इस दृष्टि से गुरु की तुलना में ईश्वर अक्षम है। लेकिन अपने मास्टर को करीब से जानते हुए बहुत करीब से जानते हुए—जैसे मैंने उन्हें नहलाया, धुलाया, सुलाया, खिलाया, कभी कभी बच्चों की भाँति उनकी सफाई भी की, फिर भी मैं यह नहीं बता पाऊंगा कि मैं उन्हें मास्टर क्यों कहता था, उसका क्या अर्थ था, मास्टर जैसी कोई

चीज है भी या नहीं, मास्टर कौन है ? मास्टर क्या है ? मास्टर क्यों है ?

अब यदि मैं अपने मास्टर के विषय में यह सब नहीं जानता, और मैं यह जानता हूँ कि अपने मास्टर की तुलना में मैं एक साधारण मनुष्य से भी कम हूँ फिर भी आखिरकार मैं उनका शिष्य हूँ। यह कहना हास्यास्पद है कि मैं मास्टर होने का ढोंग कर रहा हूँ या मास्टर होने का दावा कर रहा हूँ। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि चूंकि हम लोग मेरे मास्टर को मास्टर कहते थे इसलिए उसी की नकल में मुझे भी मास्टर कह कर बुलाते हैं।

अतः मैं सारी बात साफ कर देना चाहता हूँ। शायद यह वार्ता आखिरकार भारत तक पहुँच ही जायेगी। भारत में कई लोगों ने कहा है कि वह खुले आम कहें कि "मैं मास्टर नहीं हूँ।" पर मैंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि मैंने स्वयं किसी से नहीं कहा कि कोई मुझे मास्टर कह कर बुलाए। तो मैं इसे मना भी क्यों करुं। शायद सीधा कारण इसका यही है कि मुझे मालूम नहीं कि मास्टर क्या होता है ? यह बात नहीं कि मैं यह नहीं जानता कि मेरे मास्टर एक मास्टर थे। मैंने स्वयं बाबूजी से पूछा था मास्टर क्या होता है ? उन्होंने कहा "जो मास्टर है, वही मास्टर है।" जैसे जब मैंने प्रश्न किया कि "ईश्वर क्या होता है ?" तो उन्होंने उत्तर दिया "ईश्वर ही ईश्वर होता है, भला ईश्वर और क्या हो सकता है।" सहज मार्ग में सन्त की एक परिभाषा है। जिसे प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार हो, वह सन्त है। हम सब को पता है कि अपनी साधना पद्धति में बाबूजी महाराज ने कम से कम एक मान्यताप्राप्त सन्त बनाया है—कस्तूरी। यह बात सन्देहरहित है क्योंकि बाबूजी ने स्वयं उन्हें सन्त कह कर बुलाया है। इसलिए शायद मास्टर वह है जो सन्त बना सके। अब क्योंकि एक सन्त को प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार होता है तो आवश्यक है कि मास्टर को ऐसे व्यक्ति पर अधिकार होना चाहिए जिसे प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त है। यह एक देखने की प्रतिविम्बत्मक दृष्टि है जैसे कि दो शीशों के बीच में छाया देखना। तो कृपया मुझे यह कहने दीजिए कि हर प्रकार से व्यवहारिक दृष्टि से अपनी नजरों में मैं अपने मास्टर के शिष्य से अधिक और कुछ नहीं हूँ। यह बात सदैव रहेगी। मान भी लो कि एक दिन मैं वह बन जाऊं जिसे लोग मास्टर कहते हैं, यदि उनकी इच्छा हो, तो फिर भी वही बात रहेगी। शायद मैं मास्टर हो भी गया होऊँ, मुझे पता नहीं। पर चाहे मैं मास्टरों का मास्टर भी बन जाऊं, परन्तु अपने मास्टर का तो मैं सदैव शिष्य ही रहूँगा। मेरे लिए तो वह हमेशा मेरे मास्टर ही हैं। मेरी दृष्टि में तो केवल एक ही

मास्टर है—मेरे मास्टर।

अब लोग लालाजी के बारे में पूछते हैं ? देखिए, वह मेरे मास्टर तो नहीं। वह मास्टर के मास्टर थे। मैं उन्हें प्रेम करता हूँ उन पर श्रद्धा करता हूँ, उनका आभारी हूँ कि उन्होंने हमें एक मास्टर उपलब्ध कराया; मैं व्यक्तिगत रूप से उनके विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानता। मैं जानता हूँ कि उन्होंने इस पद्धति को पुनः खोज कर पुनर्जीवन दिया और उसे संसार को दिया। मेरे मास्टर उन्हें अपना मास्टर कहते थे।

तो मैं आप सब के लिए चाहे कुछ भी हूँ, मुझे नहीं मालूम क्या हूँ पर निश्चय ही एक भाई तो हूँ ही। दुर्भाग्य से आप सबकी बहन तो हो नहीं सकता क्योंकि पुरुष होने की सीमा है। परन्तु आशा करता हूँ निश्चित रूप से भाई तो हूँ, क्योंकि यहाँ मूलतः भाईचारा है। आप के साथ मैं भी उसी नाव पर सवार हूँ। यह उसी प्रकार है जैसे कैप्टेन जो सब यात्रियों को पार उतारता है, स्वयं भी उसी नाव पर सवार होता है। जैसा कि कल मैं कह रहा था, जेल का आफिसर भी उसी जेल में बन्द होता है जिसमें कैदी। अब यह बात अलग है कि उसके पास चाभी है और वह जब भी चाहे बाहर जा सकता है पर इससे कोई फरक नहीं पड़ता। सारा दिन और कैदियों की भाँति वह भी जेल में बन्द रहता है। इसलिए एक प्रकार से हम सब एक जैसे हैं और दूसरी ओर एक जैसे होते हुए भी थोड़ा फर्क। जैसे प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल में सब बराबर होते हुए भी वह मुख्य है—प्रधानमंत्री।

मैं अपने मास्टर के लिए क्या हूँ ? उनका शिष्य, उनका उत्तराधिकारी और आध्यात्मिक प्रतिनिधि। मेरे विचार में मैं ही उनका एकमात्र खुलेआम स्वीकृत शिष्य हूँ। आप सब जानते हैं कि बाबूजी अभ्यासियों को सहयोगी कहते थे। एक बार बंगलौर में बोलते हुए मैंने एक बात कही कि यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि उस समय तक बाबूजी को एक भी शिष्य नहीं मिला था, ऐसा शिष्य जो पूरी तरह अनुशासन में हो, जैसा कि स्वयं मास्टर ने कहा है। तो मैं विशेषरूप से कह सकता हूँ कि मैं उनका शिष्य हूँ, क्योंकि ऐसा उन्होंने कहा है। मैं उनका आध्यात्मिक प्रतिनिधि हूँ क्योंकि उन्होंने कहा है। मैं रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष पद का उत्तराधिकारी क्यों हूँ क्योंकि उन्होंने मुझे नामांकित किया है। इसके अलावा मैं कुछ दावा करुंगा तो वह केवल मेरी नजर में होगा और माननीय नहीं होगा। मैं आपका भाई हूँ यह एक सत्य है। मैं हमेशा अभ्यासी रहूँगा क्योंकि सहज मार्ग में हम सदैव लक्ष्य की

ओर बढ़ते रहते हैं अनन्त की ओर, और यात्रा कभी पूरी नहीं होती। मेरे मास्टर बहुत महान थे, बहुत ही सच्चे थे और कहते थे कि लालाजी अब भी केन्द्र की ओर सागर में तैर रहे हैं और अपनी उपलब्धियाँ हमारे मास्टर को देते जा रहे हैं। मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि बाबूजी महाराज अपनी उपलब्धियाँ मुझे देते चले जा रहे हैं। इसलिए यह सोचना व्यर्थ है कि इस यात्रा में किस जगह कौन मास्टर बन जाता है। बस यही कह सकते हैं कि यह एक नाम है जो विरासत में मिला है, जैसे कि एक राजा बस राजा है। कुछ लोग ही जानते होंगे कि राजा क्या है ? क्यों है ? उदाहरणार्थ ब्रिटिश बादशाहत को ले लीजिए जिसमें रानी या राजा होता है। किसी को भी यह पता नहीं कि वह क्या करते हैं ? वह कार्य क्यों करते हैं ? कैसे करते हैं ? करते भी हैं या नहीं ? परन्तु बादशाहत की परम्परा कायम है और अंग्रेजों में अभी भी इसका आकर्षण है। हो सकता है कि पर्यटकों के द्वारा होने वाली आमदनी भी इसके कारणों में एक हो। मैं नहीं जानता। वहाँ पर खूबसूरत महल है, खूब अच्छा रख-रखाव है परन्तु वहाँ कोई राजा, राजा की भाँति कार्य नहीं कर रहा। पर क्या किसी आध्यात्मिक पद्धति में ऐसा हो सकता है कि मास्टर हो परन्तु मास्टर की भाँति काम न करता हो। यह चीज ऐसी है जिसका निर्णय आपको स्वयं करना है। कृपया धैर्यपूर्वक सुनें कि मैंने कभी मास्टर होने का दावा नहीं किया और न ही मास्टर होना पसन्द करूँगा, क्योंकि एक प्रकार से मास्टर बनना हमें मानवता मात्र से अलग कर देता है। हालाँकि मेरे मास्टर कभी मानवता से अलग नहीं थे। मुझे ऐसा लगता है कि यह किसी कम्पनी के बोर्ड-निर्देशकों में सब से ऊँचे पद पर पहुँचना है। आप सब से अधिक ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं, ठीक उसी भाँति जैसे एक चोटी पर रहता है—सबकी पहुँच से बाहर, खतरनाक, अकेला।

वास्तव में मेरी बातचीत का कुल मिलाकर तात्पर्य आप लोगों से यह बिनती करना है कि मुझे मास्टर कह कर बुलाना छोड़ दीजिए। मुझे यह कई कारणों से उचित नही लगता। मैं इसके योग्य हूँ या नहीं यह प्रश्न नहीं है—यह तय करना मालिक का काम है। पर मेरे हिसाब से जैसा कि मैं अपने बारे में सोचता हूँ, मैं हमेशा आपका भाई, आपको राह बताने वाला आपका सहायक ही रहूँगा और यही रहना पसन्द करूँगा, क्योंकि इससे हमारा साथ ज्यादा पक्का होता है जो और किसी तरीके से नहीं हो सकता। मेरा काम आपके मुझे मास्टर कहने से आसान नहीं हो जाता या

मास्टर न कहने से कठिन नहीं। तो फिर अनावश्यक रूप से मास्टर कह कर क्यों बुलाना ? इससे कई अभ्यासी चिढ़ जाते हैं और भारत में मेरे लिए तमाम कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, विशेषरूप से बहुत पुराने अभ्यासियों के साथ। और मुझे ऐसा लगता है कि जैसे मैं दिखावा पसन्द आदमी हूँ। क्योंकि मुझे इस तरह पेश किया जाता है जैसा मैं हूँ नहीं, मुझे इस तरह बना कर प्रस्तुत किया जाता है जो कुछ लोगों के हिसाब से मैं हूँ नहीं। बस पक्की तौर पर वे सीधे सीधे इनकार करते हैं कि मैं मास्टर नहीं हूँ। जब दूसरे लोग मुझे मास्टर कहते हैं तो यह काफी हद तक अंग्रेजी के राजा कन्यूट की कहानी से मिलती जुलती बात लगती है। उस बेचारे राजा से लोग झूठ बोलते, मक्खनबाजी करते और कहते आप बहुत महान हैं, उसे समुद्र के किनारे खड़ा कर के कह दिया "अब आप सागर की लहरों को रोक सकते हैं।" आप सब को तो यह कहानी पता ही है। अंग्रेज लोगों को तो अवश्य पता होगी। मैं भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में हूँ। आखिर यह सब मनमानी किस लिए ? कृपा करके मुझे अपना भाई ही बना रहने दीजिए, और उन्हें मालिक बना रहने दीजिए। तब हम लोगों में एक दूसरे के लिए ज्यादा जगह रहेगी। तथा मुझे आप लोगों से अधिक कुछ कहना सुनना नहीं पड़ेगा। क्योंकि एक भाई के रूप में यह हक मुझे नहीं होगा। बड़े भाई की भाँति एक चपत भले ही कभी लगा लूँ पर बातचीत ज्यादा नहीं। मैं समझता हूँ कि इससे हमारे लक्ष्य के प्रति अधिक कार्य हो सकेगा और नजदीकी भी अधिक रहेगी। विश्वास भी अधिक पनपेगा। क्योंकि आज मैं देखता हूँ कि सब बातों की आशा मुझ से की जाती है जो शायद मुझमें नहीं है; चीजों का पूर्वानुमान, उनको सही करना, दिव्य दर्शन (विजन) आदि तथा सैकड़ों प्रतिदिन आने वाले फोनों से मैं उलझन में पड़ जाता हूँ। योरोप से अमरीका तक से टेलीफोन जिसमें कि बिगड़ी हुई, हाथों से बाहर हुई, अन्तिम साँसें गिनते हुए मरीजों आदि के विषय में तथा तमाम और समस्याओं को मेरे सामने रखा जाता है। मैं तो सिर्फ प्रार्थना ही कर सकता हूँ। यह मेरे मास्टर की कृपा, उनकी शाश्वत उदारता है, हमारे प्रति प्रेम कि अभी तक सभी मामलों में उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार की है। मालूम नहीं यह मेरी प्रार्थना है जो स्वीकार हुई है या आपकी। इससे फर्क नहीं पड़ता। जब कभी कोई सच्चे हृदय से प्रार्थना करता है, मालिक उसे स्वीकार करते हैं। इस तरह मेरे ऊपर ऐसे उत्तरदायित्व डाले जाते हैं जिन्हें सम्भालने के योग्य मैं अपने आप को नहीं समझता। इस तरह मेरी अपनी यात्रा में प्रगति के इस स्तर

पर मेरे ऊपर ऐसी समस्यायें लादी जाती हैं जो नहीं करना चाहिए। इन सब से कभी कभी मेरे मास्टर भी परेशान हो जाते थे। जब उन्हें इस भाँति के तार आते थे "फलां आदमी मरने वाला है, प्रार्थना है उसका जीवन लम्बा कर दीजिए।" अब हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कुछ ऐसी बाते हैं जिसमें कि मास्टर भी कुछ नहीं कर सकता। जैसे जिन्दगी या मौत। बच्चे को कब पैदा होना है यह मास्टर नहीं तय कर सकता" बाबूजी मेरी बहन के बच्चा होने वाला है, कृपया ऐसा करिए कि यह बच्चा १७ सितम्बर १९८७ को ही जन्म ले उस दिन पाँचों ग्रह शुभ स्थिति में हैं।" मास्टर यह नहीं कर सकता। यदि मास्टर ऐसा कर सकता तो ऐसी कितनी और चीजें कर देता। उन्होंने अपने मास्टर का देहान्त नहीं होने दिया होता। लालाजी महाराज को इस संसार से जाना पड़ा जब कि उनका उत्तराधिकारी उस समय तक मास्टर बन चुका था, जिसके बारे में लालाजी ने कहा कि "मैंने तुम्हें बिलकुल अपने जैसा बना दिया है।" परन्तु बाबूजी महाराज को कोई अधिकार नहीं कि ऐसी स्थिति में प्रकृति के काम में हस्तक्षेप करें। वह लालाजी को जाने से नहीं रोक सके। वास्तव में उन्हें पता तक नहीं चला कि लालाजी महाराज किस समय चले गये। उन्हें केवल एक तार द्वारा सूचना मिली।

इससे एक प्रश्न उठता है कि मास्टर जब मास्टर हैं तो भी क्या उनकी सीमाएं हैं ? लगता है कि उनके मास्टर उनके ऊपर जब चाहें, जब आवश्यक हो तो रोक लगा सकते हैं। आप सब ने यह बात सुनी होगी कि एक बार जब बाबूजी महाराज किसी अभ्यासी को नौ बिन्दु बढ़ाना चाहते थे, तो एक सिटिंग में उन्होंने उसे तीन पाईंट उठाया तब ऊपर से लालाजी बोले "यह क्या बेवकूफी है ? रोको।" तो मैंने बाबूजी से पूछा कि क्या एक मास्टर होने के नाते आपको यह खुली छूट नहीं कि आप जो चाहें करें ? उन्होंने उत्तर दिया—आखिर वह मेरे मास्टर हैं, उनका कहना पत्थर की लकीर है। बाबूजी महाराज हमारे मास्टर भले ही थे, जो इस ब्रह्माण्ड को लट्टू की तरह नचा सकते थे, परन्तु अपने मास्टर के तो वह केवल शिष्य ही थे। वह एक कदम भी उनके कहे बगैर या उनकी इच्छा के बगैर नहीं बढ़ा सकते थे। उन्होंने मुझे बताया था और मैंने कहीं लिखा था कि वह लालाजी की इजाजत के बगैर पानी भी नहीं पी सकते थे। तो मास्टरी काहे की है ? अतः मैं आप से हार्दिक निवेदन करता हूँ कि मेरी समस्याओं को और न बढाइये। मेरे पास पहले से ही काफी समस्यायें हैं। यह शब्द कह कर जो

कि मैं शायद नहीं हूँ, ऐसी जिम्मेदारियाँ सौंपकर जो कुछ लोग समझते हैं कि मैं निभा नहीं पाऊंगा, और मुझमें अर्ध-देवत्व आरोपित करके, जो कि मैं होना नहीं चाहता मेरी समस्यायें बढ़ाइये मत। खास तौर पर इसलिये कि इसके प्रयोग मात्र से विश्व भर में मेरे लिए कितनी समस्यायें खड़ी हो जाती हैं।

मैं हमेशा से लोगों को बताता आ रहा हूँ कि विश्व में केवल एक सम्बन्ध है जिसे तोड़ा जा सकता है वह है पति पत्नी का। और केवल एक सुरक्षित सम्बन्ध है भाई बहन का। यह एक प्राकृतिक सम्बन्ध है और इसमें कहीं स्वीकृति या वैधता का प्रश्न नहीं उठता। यह कितनी अजीब बात है कि जिन माँ बाप द्वारा भाई बहन का जन्म होता है उनका सम्बन्ध टूट भी सकता है। परन्तु बच्चे एक दूसरे को तलाक नहीं दे सकते। एक बहन अपने भाई को तलाक नहीं दे सकती। तो यह सम्बन्ध चिर स्थाई और निभने वाला है। इन तमाम उलझे हुए सम्बन्धों में एक सम्बन्ध गुरु और शिष्य का और क्यों बढ़ाया जाए। पहली बात तो यह है कि यह अनावश्यक है और मास्टर कहलाने वाले के लिये अहंकार का द्योतक है और फिर यह मेरे लिये तो बिलकुल ठीक नहीं बैठता, मैं तो सदैव से ही मानवीय ही रहा हूँ अत्यधिक मानवीय। हो सकता है कि कल को मैं कोई आध्यात्मिकता का प्रतीक चिन्ह बन जाऊं जो मैं कतई पसन्द नहीं करूँगा। परन्तु इस समय तो मैं वह रहना चाहता हूँ जो मैं हूँ, उनकी कृपा से आध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर। और वह काम कर रहा हूँ जो मुझे दिया गया है। मैं उसे ठीक ढंग से कर रहा हूँ या गलत, अच्छी तरह कर रहा हूँ या बुरी तरह, यह फैसला करना उनका काम है। अपने काम का निर्णय मैं स्वयं नहीं कर सकता। आप यह बता सकते हैं कि आप कैसा अनुभव कर रहे हैं परन्तु मेरे कार्य का निर्णय नहीं कर सकते। वास्तविक निर्णयकर्ता तो वह मालिक ही है। सम्भव है कि अपनी राय वह मुझे बाद में बताएं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि लालाजी १९३१ में समाधिलीन हुए और उनका बाबूजी के साथ पहला अन्तः-सम्पर्क १३ वर्ष बाद हो सका। आशा है, हालाँकि आशा कहना मैं पसन्द नहीं करता, यह अमरीकी लहजा है; पर आशा है कि जल्दी या देर से मुझे भी कुछ संदेश मिलेगा, मैं जानूँगा मैं क्या हूँ, कौन हूँ, क्यों हूँ, तब तक हम सब को भाई बहन की भाँति रहने दीजिए—परस्पर निर्भर, परस्पर विश्वास और सहायता करते हुए, ऐसा व्यवहार करते हुए जैसा एक ही नाव पर सवार लोग करते हैं। जब गम्भीरता की आवश्यकता हो तो

गम्भीर। अगर नाव में छेद हो जाय तो सब मिल कर उलीचें, और जब मौसम साफ हो, नाव में खाने पीने का सामान भरा हो तो मिलकर मौज करें।

लिट्ल ग्रोव, इंगलैंड

२८—३0 अगस्त १९८७

एकता

मौन ईश्वरीय भाषा है। इसी कारण जब हम दिव्य स्तर पर या अस्तित्व के विभिन्न दिव्य स्तरों पर सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं, तब हम मौन होने का प्रयत्न करते हैं, और यह सब हम ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं। मानवीय स्तर पर हमें भाषा का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि यहां मौन संवाद सम्भव नहीं। ईसाई सम्प्रदाय में टावर आफ बेबल इस बात का उदाहरण है कि वाणी रहित संवाद असंभव है पर अत्यधिक बोलने से भी संवाद हो पाना और कठिन हो जाता है। क्योंकि उसका जितना उपयोग हम अभिव्यक्ति के लिये करते हैं उससे अधिक अपने मनोभाव छिपाने के लिये करते हैं। जब लोग सत्य कहते हैं तब संवाद आसान हो जाता है। परन्तु जब दोनों व्यक्ति झूठे हों तो संवाद असम्भव हो जाता है क्योंकि उस दशा में भाषा अर्थहीन हो जाती है। साथ ही अगर उसमें सत्य व झूठ की मिलावट हो तो कभी कभी हम खुद भी भूल जाते हैं कि क्या सत्य है क्या झूठ। यह मजाक नहीं। एक झूठे को पता है कि झूठ को बनाए रखना कितना कठिन है। वह एक व्यक्ति के सामने एक झूठ बोलता है और उसी व्यक्ति की उपस्थिति में दूसरे व्यक्ति को कुछ और झूठ कह देता है और पकड़ा जाता है।

सो झूठ बोलना सरल नहीं। सत्य बोलना सरल है। झूठ बोलना कठिन है क्योंकि उसके पीछे स्मरण-शक्ति का होना आवश्यक है, "मैंने रौस से क्या कहा था ? मैंने हिलेरी को कल क्या कहा था ? "उसी चीज के बारे में। मुझे देखना पड़ेगा कि दोनो वहाँ उपस्थित तो नहीं हैं और फिर कुछ ऐसा तीसरा झूठ ढूँढ़ना पड़ेगा जो दोनों को आश्वस्त कर दे। झूठ बोलना एक कला है जिस के पीछे बुद्धि की आवश्यकता है, योग्यता की आवश्यकता है और उस क्षमता की आवश्यकता है जो उसे बनाए रखे। बौद्धिक विकास व झूठ बोलने में बड़ा सम्बन्ध है। सीधे सादे लोग झूठ नहीं बोल सकते। कम ही देखने में आता है कि एक किसान या एक चरवाहा झूठ बोले। अगर वह झूठ बोलना भी चाहे तो मौका आने पर बोल नहीं पायेगा और उसके मुँह से सच निकल आयेगा। तो जितना ही कृत्रिम समाज होगा उतना ही वहाँ

झूठ होगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण समानान्तरता है कि बौद्धिक स्तर पर हम जितने विकसित होते जाते हैं उतनी ही हममें कृत्रिमता आती जाती है और उतने ही हम अपने लिये तथा औरों के लिये भी झूठे और मक्कार होते जाते हैं। जितने हम सीधे सादे व प्रकृति से जुड़े होते हैं उतने ही हम सच्चे होते हैं। क्योंकि उस स्थिति में हमें यह ज्ञान ही नहीं होता कि झूठ क्या है। यह बालकों के समान है जिसका मैं अक्सर उदाहरण देता हूँ उन्हें झूठ बोलना नहीं आता। फिर हम उन्हें झूठ बोलना सिखाते हैं। "पापा कहाँ हैं ?" यह पूछने पर कहना "वह आफिस गये हैं" और वह स्वयं अन्दर बैठकर सिगार पी रहे हैं। तो जब बालक कहता है "परन्तु पापा आप ने तो मुझे सिखाया था झूठ नहीं बोलना और अब आप ही मुझे झूठ बोलने को कह रहे हैं कि आप अन्दर नहीं।" तो आप कहते हैं "चुप रहो मैं तुम्हारा बाप हूँ।" सो आप अपने अधिकार से झूठ बोलने की अनुमति उसे देते हैं। जितने अधिक शक्तिशाली आप होंगे उतना ही बड़ा झूठ आप बोल सकते हैं। और अगर आप के पास कोई शक्ति नहीं, आप समाज में कुछ भी नहीं तो आप झूठ नहीं कह सकते। इसलिए इस धरती पर सब से बड़ा व्यक्ति सब से अधिक और सब से अच्छा झूठ बोल सकता है।

इस प्रकार आप देखते हैं कि शक्ति का स्तम्भ अहं का स्तम्भ बौद्धिकता का स्तम्भ यह सब साथ साथ चलते हैं और उनसे पैदा होता है केवल झूठ। फिर एक मदारी की भाँति आप अपने सिर पर एक प्याला फेंकते हैं और उसे समन्वित रखते हैं फिर उसके ऊपर दूसरा तीसरा चौथा और इस प्रकार नौ, दस या ग्यारह कप एक के ऊपर एक सम्भाले रखते हैं और जरा सा समन्वय बिगड़ा तो सब गिर जाते हैं। इसी भाँति आर्थिक सत्ताएं, शक्ति सत्ताएं, भ्रष्टता की खुराक दे देकर बनाये रखना पड़ता है। क्योंकि अगर हम उसमें से कुछ भी निकाल दें तो वह एक मदारी के प्याले की भाँति सब ढह जाती हैं। इसी कारण व्यापारिक सत्ताएं, राजनैतिक सत्ताएं जिनकी नींव झूठ पर रखी होती है ठहर नहीं पातीं। न ही वह धीरे धीरे करके समाप्त होती हैं। वह एक दिन अचानक खड़ी हो जाती हैं और ताश के पत्तों की ही भाँति अचानक एक दिन ढह जाती हैं।

अत: यह है संवाद के पीछे का दर्शन अथवा मनोविज्ञान कि जब तक हम सब इतने सरल नहीं हो जाते कि हमारे अन्दर केवल '**वह**' हो और कुछ नहीं, तब तक हम द्वैत की भाषा बोलते हैं—मेरी आवाज, उसकी आवाज, मेरे विचार उसके विचार, मेरे संवाद का तरीका, उसके संवाद का

तरीका। अब सतत स्मरण क्या करता है या कैसे हमारी सहायता करता है ? जितना हम उसे स्मरण करते हैं, अपने आप को भूलते जाते है जैसा कि रौस ने कहा। और अपने को भूलने पर, उसके विचार हमारे में आ जाते हैं और उतना ही उसके संवाद का तरीका हममें आता जाता है; हमारे विचार पवित्रतर और दिव्यतर होते जाते हैं; संवाद का तरीका अधिकाधिक मौन होता जाता है।

अन्त में हम उस स्थिति पर पहुँच जाते हैं जहाँ भाषा नहीं होती, केवल मौन होता है। प्रेमियों के बीच में ऐसा दिखाई देता है। कई कारणों वश मैं प्रेमियों को बहुत पसन्द करता हूँ। आरम्भ में उन्हें संवाद की बहुत आवश्यकता होती है, शारीरिक स्तर पर, मौखिक स्तर पर, एक दूसरे को जानने की, छूने की आदि आदि। ढेर सारी बातचीत और ऐसी ही अन्य चीजों की जरुरत पड़ती है। एक दूसरे को अपने अमिट प्रेम का विश्वास दिलाने के लिये। परन्तु जैसे जैसे उनका प्रेम परिपक्व होता जाता है उन्हें कम संवाद की आवश्यकता होती है। शारीरिक संवाद समाप्त हो जाता है, मौखिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। और अगर दो प्रेमी १०, २०, ३० वर्ष तक एक दूसरे से प्रेम करते रहें हो तो वह केवल एक नजर से सब कुछ कह देते हैं कभी कभी बिना नजर के भी। एक नजर, और उन्हें पता होता है कि वह क्या कहना चाहता है उसका क्या तात्पर्य है। यह करिश्मा हमें उन बुजुर्ग दम्पत्तियों में देखने को मिलता है जो समय चक्र व घटनाओं के थपेड़ों से गुजर चुके हों। यह उस पानी के जहाज की भाँति है जो युद्ध के समय अनेक स्थलों से गुजरा हो और, टॉरपीडो व खतरनाक बारूदी सुरंगों से गुजरा हो परन्तु बड़े गर्व के साथ अपने घावों के साथ घर की ओर लौटता है। उसे देखते ही तुम्हें सब पता चल जाता है।

सो जीवन का आरम्भ संवाद से होता है। क्योंकि जब बच्चा पैदा होता है तो जीवन का प्रथम चिन्ह उसका रोना है। अगर वह नहीं रोता तो नर्स उसका नारा काटने के बाद उसे उलटा लटका कर थपकियां लगाती है, मैंने कभी देखा नहीं परन्तु ऐसा ही होता होगा-तो बच्चा चीखता है और अगर उसकी वह चीख व रोने की आवाज न सुनाई दे तो सब घबरा जाते हैं। और इस चीख से उसके फेफड़ों में आक्सीजन भर जाती है जो अब तक उसके नारे द्वारा माता पर निर्भर थे और उसका जीवन एक पराश्रयी जीवन था। अब जब उसे आत्मनिर्भर होना होता है तो उसे हवा से आक्सीजन खींचना पड़ता है। उसे साँस लेना सीखना पड़ता है। और वह पहला रोना

इस बात का सूचक है कि वह साँस ले सकता है और उसके माध्यम से वह आक्सीजन लेकर आत्मनिर्भर हो सकता है। और यह उसका वह पहला संवाद है जो मां तथा आसपास के लोगों को आश्वस्त करता है कि वह जीवित है।

यह संवाद या भाषा दो आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। एक तो वह सूचना देता है कि मैं यहाँ हूँ और सब ठीक-ठाक है और दूसरे यह कि वह कुछ कहना चाहता है। इसी कारण तुम्हें कई बार दिखाई देता है कि बच्चे अंधेरे में जेब में हाथ डाले जिसमें मुट्ठी भिंची हो और धड़कते दिल से अपने को खूब साहसी दर्शाते हुए जोरों से सीटी बचाते चले जाते हैं यह सिद्ध करने के लिए वह कितने साहसी हैं। सीटी केवल शोर मचाने व अपने आप को ढाढ़स बंधाने के लिये है कि सब ठीक है।

संवाद केवल दूसरों के साथ ही नहीं अपने साथ भी हो सकता है। कभी कभी हमें स्वयं, स्वयं के साथ भी संवाद करना पड़ता है। कई बार आप लोगों को अपने आप से बातें करते देखते हैं। आखिर दिवास्वप्न क्या है ? हम धूप में बैठकर सोचते रहते हैं, हवा में किले बनाते हैं। आखिर वह अपने आप का अपने आप से संवाद ही तो है। उस समय या तो मैं स्वयं को आश्वस्त करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, या अपने को कुछ और बनाने के लिये प्रोत्साहित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ या किसी उपलब्धि के निमित्त सक्रिय होने के लिये स्वयं में शक्ति-संचार करने का या स्वयं में साहस भरने का प्रयत्न कर रहा हूँ अथव स्वकल्पित किसी उपलब्धि के लिये अपने को बधाई तक दे रहा होता हूँ।

इस प्रकार स्वयं से संवाद होता है, औरों से संवाद होता है और परम सत्य से भी संवाद होता है। मुझे पता नहीं मैंने तो संवाद के ऊपर किसी कोर्स में हिस्सा नहीं लिया। मेरा विश्वास है कि आजकल संवाद की संस्थायें भी हैं। वह क्या सिखाते हैं मुझे नहीं मालूम। मेरा विश्लेषण है कि संवाद के तीन स्तर हैं: अपने आपसे, दूसरों से और उससे (परमात्मा)। स्वयं के साथ यह मूक हो सकता है, विचारों द्वारा व स्वप्नों द्वारा चाहे वह जागृत अवस्था में देखे जाने वाले स्वप्न या सोते समय जब आपका अचेतन मन आपके चेतन मन से कुछ कहने का प्रयत्न कर रहा है या उसको कोई संकेत, या चेतावनी या सहायता दे रहा है। दूसरों से सम्पर्क भाषा द्वारा व शारीरिक रूप में और शायद विकास होने पर मौन द्वारा भी। परन्तु 'उसके' साथ संवाद केवल मौन संवाद ही हो सकता है, हम ईश्वर से बातें नहीं कर

सकते। सो एक सच्चे सहज मार्गी होने के नाते उन पुरानी कहानियों व गाथाओं पर विश्वास करना कठिन है जिसमें पैगम्बरों ने ईश्वर से बात की। मुझे इसमें विश्वास नहीं चाहे वह हिन्दू परम्परा की हो या ईसाई। ईश्वर से बात करना सम्भव नहीं है क्योंकि उसके न तो आवाज है न भाषा है, फिर आप उससे बोल कैसे सकते हैं ?

इसलिये हमें यह विसंगति दिखाई देती है कि सब धार्मिक परम्परायें अपने महापुरुषों, सन्तों, द्रष्टाओं और पैगम्बरों के विषय में यही बताती हैं कि वह पहाड़ों पर या रेगिस्तानों में अकेले स्थानों पर जाकर ध्यान के द्वारा ईश्वर से संवाद करते थे। फिर उस घटना में थोड़े से झूठ का मिश्रण आ गया है कि वापस आ कर उन्होंने या किसी और ने कि कहा कि फलां फलां ने ईश्वर से बातें की थीं। अगर हम यह कहें कि उन्होंने ईश्वर से संवाद किया तो वह सही होगा। तो जब हम उस परम सत्य से संवाद स्थापित करना चाहते हैं तो वह केवल अपने को मौन करके, ध्यान द्वारा किया जाता है। अब इस मौन से तात्पर्य क्या केवल मौखिक मौन से है जहाँ हम मुख बन्द कर चुपचाप बैठते हैं ? मेरे विचार में नहीं। हमें अपने अन्तर में छिपी मौन की गहराइयों तक जाना पड़ता है जहाँ पहले वाणी मौन होती है फिर मानस मौन होता है और फिर सम्भवतः आत्मा तक को मौन कर देना होता है१

आपको मालूम है कभी जब आप पहाड़ों में बहुत ऊपर जाते हैं, जहाँ कोई भी नहीं होता, वहाँ आप मौन को सुन सकते हैं। मैंने इस मौन को सुना है, विशेषकर रात्रि के समय जब आप बिल्कुल अकेले में अपनी खिड़की से बाहर आकाश में चमकते सितारे देखते हैं जो शायद मैदानों में ऐसे नहीं चमकते, उस समय आपको सुनाई पड़ती है विस्मय से अभिभूत कर देने वाली शांति, और उस समय आप किसी भी शोर के लिये लालायित होते हैं चाहे वह दरवाजे के चरमराने की आवाज ही क्यों न हो। उससे यह एहसास तो होता है कि दूसरे कमरे में कोई है। यह भयप्रद भी हो सकती है। क्यों ? क्योंकि हम वास्तविकता से दूर हो गये हैं, जिससे हम संवाद करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमें पता नहीं कि वह वहाँ है कि नहीं। यह एहसास होने पर कि मैं अकेला हूँ, मैं डर जाता हूँ। जब अचानक एक बालक देखता है कि माँ नहीं है तो वह डर जाता है, वह उसे ढूँढता है उसके लिए चिल्लाता है। इसी भाँति जब हम सोचते हैं कि हम उसके साथ हैं उस स्थिरता में, उस शून्यता में, उस विस्तृत आकाश के नीचे उस असीम सागर

में तो अचानक भय का वह क्षण हमें घेर लेता है। हम चारों ओर देखते हैं, वहाँ कुछ भी नहीं है न एक कुत्ता, न कोई समुद्री चिड़िया और सागर की लहरें भी जैसे शांत हो गयी हों। हम जल्दी से उठ जाते हैं और छुपे हुए भय से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं और हम कोई साथी ढूँढने चल पड़ते हैं।

जब तुम्हें **'उसका'** साथ नहीं मिलता तो तुम यह साथ खोजते हो। मनुष्य अकेला रहने के लिये नहीं बना है। उसे भी जानवरों जैसा ही कुछ होना चाहिये। हमें साथ चाहिये। अब एक विकसित आत्मा की क्या पहचान है ? यह कि वह ज्यादा मौन रह सकता है, भाषा में मौन, मानस में मौन और अपनी अन्तरतम गहराई में मौन। वह अधिक से अधिक अकेला व मौन रह सकता है यहाँ तक कि वह अपने आप से भी अलग हो जाता है। वह अकेलापन केवल शारीरिक अकेलापन नहीं, कि मेरे साथ कोई नहीं। यह अकेलापन भी नहीं कि मैं यहाँ हूँ और मेरे साथ कोई नहीं क्योंकि उसमें एक "मैं" है जो कहता है कि "मैं" यहाँ हूँ "और उसमें दो 'मैं' हैं। अन्तिम अकेलापन वह है जहाँ मुझे कुछ मालूम नहीं। मुझे नहीं मालूम कि मैं वहाँ हूँ और न मुझे मालूम है कि मैं वहाँ नहीं हूँ। मुझे नहीं मालूम कि मैं मौन हूँ और न ही मुझे मालूम है कि मैं मौन नहीं। जहाँ पर कुछ जानने लायक नहीं, देखने लायक, प्रशंसा लायक नहीं। मेरे विचार में उस स्तर पर हम कह सकते हैं कि जो वहाँ पर उपस्थित है वह तुम्हारी उपस्थिति नहीं परन्तु **'उसकी'** उपस्थिति है जो सदैव हमारे अन्दर विद्यमान है। तो संवाद के पीछे यह रहस्य है। अब हम इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचते हैं जैसा कि मैं बता रहा था। वह एक श्रमसाध्य चीज है।

अब मैं इस बात में ही कुछ और बात जोड़ना चाहूँगा। ध्यान क्या है ? मैं देख रहा हूँ कि नए नए लोग आ रहे हैं। आज ध्यान के समय जब कि सब कुछ स्थिर था मुझे विचित्र अनुभव हुआ। मुझे लगा कि कुछ लोग भुनभुना रहे हैं, शायद कुछ प्रार्थना कर रहे हैं। आप जब बिलकुल स्थिर हों तो दूसरे के मन में क्या हो रहा है वह सुन सकते हैं। बाबूजी उसे पढ़ना कहते हैं। मैंने अक्सर यह देखा है कि कुछ अभ्यासी जब ध्यान करते हैं तब भी अपनी पहले की जप की आदत नहीं छोड़ सकते। कोई अपनी हिन्दू प्रार्थना करते हैं कोई ईसाई। अब ध्यान करते समय अगर आप अपने दिमाग को जप या मंत्र आदि क्रिया से भर देंगे तो जैसे दो चीजों का द्वन्द्व सा हो जायेगा और कोई भी उपाय सफल नहीं होगा। क्योंकि दिमाग के एक भाग से आप ध्यान द्वारा स्थिरता पैदा करने का प्रयत्न कर रहे हैं और दूसरी

ओर विचार देकर आप विचार की क्रिया पैदा कर रहे हैं। यह दोनों परस्पर विरोधी हैं तथा साथ ही यह मूल सिद्धान्त है कि दिमाग अविभाजित और एक होना चाहिए। हम उसके विपरीत उस शक्ति को दो अलग धाराओं में बाँट रहे हैं, इस कारण हम दोनों क्रियाओं में असफल हो जाते हैं। न मंत्र ही लाभप्रद हो पाता है और न ध्यान ही।

सो मैं यह राय देना चाहता हूँ विशेषकर अपने भारतीय भाई व बहनों को कि अगर वह सहज मार्ग ध्यान साधना चाहते हैं तो वह उसे पूर्णतः करें बाकी सब कुछ त्याग कर। हमारे दो ईश्वर या दो पद्धतियाँ नहीं हो सकतीं और न ही हमारे दिमाग में दो साथ साथ चलने वाली धाराएं हो सकती हैं। सो यह बात है, क्योंकि मैं स्थिर था इसलिये मुझे जहाँ-तहाँ वह आवाजें सुनाई पड़ गईं। दो चार ऐसी आवाजें थीं। अतः जब हम ध्यान करते हैं तो हमें केवल ध्यान करना चाहिए। हम किस पर ध्यान करें ? हृदय में प्रकाश पर। अब यहाँ दूसरी समस्या है। हम पाते हैं कि ईसाई ईसा पर ध्यान करना चाहते हैं, बौद्ध बुद्ध पर ध्यान करना चाहते हैं, सिख गुरु नानक पर ध्यान करना चाहते हैं। आप दो अलग पद्धतियाँ नहीं स्वीकार कर सकते। यह तो जैसे शाकाहारी मांस बनाने जैसा है। या मांसयुक्त बैंगन। यह सम्भव नहीं।

अब इस सरलता में दो चीजें हैं। एक सरलता तो हम समझते हैं: जैसे एक मशीन सौ पुर्जों से चलती है और दूसरी वैसी ही मशीन पचास पुर्जों से बनी है—वह कम है, ज्यादा सरल है, कम पेचीदा है। वही मशीन अगर २५ पुर्जों से बनी हो तो और भी सरल है। अन्त में हम वह मशीन बनाते हैं जो केवल एक पुर्जे से बनी है—वह सरलतम है। और अगर वह मशीन सूर्य की भाँति हो जो अपना ईंधन स्वयं बनाता है, तो वह आश्चर्यजनक रूप से सरल है। अणु शक्ति का सिलसिला वह स्वयं जलता है और प्रक्रिया स्वरूप उस ऊर्जा से अपना-ईंधन स्वयं बनाता रहता है और साथ ही विशाल शक्ति—ऊर्जा शक्ति उत्सर्जित करता जाता है। मेरे विचार में दो करोड़ टन ईंधन प्रति क्षण जलता है फिर भी यह सूर्य करोड़ों करोड़ों वर्ष तक रहेगा, हमारे जाने के करोड़ों वर्षों बाद तक—जब वह स्वयं अपना पोषण कर सकता है तो वह पूर्णतया सरलतम है।

सरलता की पूर्णता का स्तर ईश्वर है—जिसका न कभी निर्माण हुआ, जो न अपना पोषण करता है, न जिसे खाना चाहिए, न ही व्यायाम चाहिए। उसे अस्तित्व की आवश्यकता नहीं इसलिये वह मर नहीं सकता। हम पैदा

हुए हैं इसलिए हमारी मृत्यु होगी। वेद उसके विषय में कहते हैं "वह अनश्वर है क्योंकि उसका जन्म नहीं हुआ। "जो जन्मा है वह मरेगा। हो सकता है कि वह १०० लाख वर्ष जिये, फिर भी उसे जाना होगा। इसलिए भौतिक संसार का अवश्य ही नाश होगा क्योंकि कभी उसका निर्माण हुआ था। जो समय के एक काल में बना था वह दूसरे काल में नष्ट भी होगा। जो हम सब को भिन्न करती है वह है उन बिन्दुओं की दूरी और समय की लम्बाई। अब मेरी कल्पना से इस परम सरलता का पूर्ण उदाहरण जो स्वयं अपना पोषण करता है, कोई अंग नहीं, कोई क्रिया नहीं कोई वाणी नहीं कोई भाषा नहीं, कोई विचार नहीं और इन सबको व्यक्त करने के लिए कोई अंग नहीं—वह ईश्वर है।

तो जब हम सरलता पर आते हैं या अपने अस्तित्व के सरलीकरण पर आते हैं, जैसा कि बाबूजी ने कहा "सरल बनो और प्रकृति के साथ सुर मिला कर रहो "तो हम केवल निर्मित चीजों के पेचीदापन से अनिर्मित चीजों की सरलता व शाश्वतता पर जा रहे हैं और उसके सहारे अनश्वर, शाश्वत, समय, आकाश व कारण के परे जा रहे हैं। अब अगर इस प्रक्रिया में हम निर्मित वस्तुओं को मिलाते जायेंगे जैसे मंत्र या देवी देवता, तो हम पीछे की ओर चल पड़ते हैं। यह जैसे कार में एक पैर से ब्रेक और दूसरे से एक्सलेटर दबाने जैसा है। भाग्यवश अभी तक कोई ऐसी गाड़ी नहीं बनी जिसमें यह हो सके क्योंकि दोनों का नियंत्रण एक ही पैर से होता है। मान लीजिए कोई हठपूर्वक दूसरे पैडल पर से पैर उठा कर ऐसा करे तो हम केवल गाड़ी को खराब कर देंगे। इसी प्रकार जब हम दो पद्धतियों से ध्यान करें या दो गुरुओं को मानें या दो परस्पर विरोधी मानसिक चीजों से आगे चलें तो हम अपने को ही हानि पहुँचा रहे हैं चाहे उसमें एक अच्छा भी हो। तो कृपया ध्यान रखिये जो भी पद्धति आप स्वीकार करें उसी के अनुसार ध्यान करें। उस में हमारा कुछ विरोध नहीं। अगर ताई-ची करना चाहते हो तो अवश्य करो, पर केवल वह करो। आप इसलाम के तरीके से ध्यान करना चाहते हो तो करो, नानक के तरीके से करना चाहते हो, करो परन्तु दो चीजों का मिश्रण न करो। अलग अलग वह अच्छी होंगी पर मिश्रण करना घातक होगा। आग अच्छी चीज है, विस्फोटक भी अच्छे हैं, पर इनका मिश्रण विनाशकारी है। है न ? केवल उस अवस्था को छोड़कर जब वह आवश्यक हो।

सो यह दूसरी चीज है कि मन को स्थिर करने में और चीजों का

मिश्रण न करें। हमें भूलना नहीं चाहिए कि ध्यान में हम पेचीदगी से सरलता पर आ रहे हैं। हमें यह नहीं चाहिए कि थोड़ा थोड़ा सब कुछ भर दें, दस मिनट ईसा, दस मिनट बुद्ध, दस मिनट कनफ्यूसियस, दस मिनट कृष्ण और आखिर में दस मिनट बाबूजी—लोग आज भी ऐसा करते हैं। सो इसका अर्थ है कि हम सब ऊट-पटांग भर कर उसे फिर से पेचीदा हिस्सों की उलझनें रच रहे हैं। सो कृपया मंत्र नहीं, ध्यान का कोई दूसरा आधार नहीं।

अब एक गुरु की आवश्यकता के बारे में, क्योंकि दो होने पर हमारी निष्ठा भी बँट जाती है और प्रेम भी बँट जाता है। यह ऐसा है जैसे एक मनुष्य की दो प्रेमिकाएं हों—बाबूजी यही मिसाल देते थे। अगर किसी की दो पत्नियाँ हों तो वह विपत्ति में है। एक पत्नी एक ओर खींचेगी और दूसरी दूसरी ओर। और अगर तीन हो तो भयंकर (हास्य) (टेप टूटा है)

.....बाबूजी सदैव यही उदाहरण देते थे। सो अगर आपके दो गुरु हैं तो आपका कोई भी गुरु नहीं हो सकता। जैसे हिन्दी में हम कहते हैं "धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का"। जब आपको उसकी यहाँ आवश्यकता होती है तो वह वहाँ होगा और जब वहाँ आवश्यकता होगी तो वह यहाँ होगा। हमारा दिमाग भी वैसा ही हो जाता है, विभाजित निष्ठा व प्रेम की दो धाराओं के साथ दो चीजें आध्यात्मिकता में साथ साथ नहीं चल सकतीं। इसी कारण बाबूजी ने कहा है: एक गुरु, एक मिशन, एक पद्धति।

ईसाई परम्परा में भी यही कहा जाता है: तुम ईश्वर तथा धन सम्पत्ति दोनों की सेवा नहीं कर सकते। एक ही समय में हम दो चीजों की सेवा नहीं कर सकते। हमें अपने मन को बिना ऊट-पटांग भरे शुद्ध रखना है; ध्यान का अर्थ है एक चीज के विषय में सोचना जैसा कि हमें सिखाया गया है—दूसरी या तीसरी कुछ चीज नहीं, केवल एक गुरुदेव का ध्यान। इसमें तुलना का कोई प्रश्न नहीं "ओह मैं बुद्ध के विषय में क्यों न सोचूं। वह कितने महान व्यक्ति थे" ? हाँ, तो फिर केवल बुद्ध के विषय में सोचो और उसे ही अपना गुरु मानकर उसी पर ध्यान करो। उसी की शिक्षा का अध्ययन करो। यह अच्छे का प्रश्न नहीं जैसे कि आजकल फैशन हो गया है कि कॉफी काली अच्छी है लेकिन उसके साथ दूध नहीं लेना चाहिए। दूध बहुत अच्छा है। दूध में क्या गड़बड़ है ? पर उसे कॉफी में नहीं डालना चाहिए। नमक बहुत अच्छा है पर उसे आप के क में नहीं डालते। नमक के बगैर कोई स्वाद नहीं आता। इसलिये हमें स्मरण रखना चाहिए कि सहज

मार्ग पद्धति में जो कि अत्यधिक सरल है, किसी दूसरी चीज के लिये जगह नहीं है—न दूसरे मन की, न दूसरे दिल, न दूसरे विचार की न दूसरी आत्मा की, ध्यान के दौरान इन चीजों का कोई स्थान नहीं। न ही किसी दूसरी पद्धति या दूसरे गुरु या दूसरे ईश्वर के लिये स्थान है। मै बौद्ध धारणा का ईश्वर लेकर सहज मार्ग अभ्यासी नहीं बन सकता। मैं ईसाई धर्म के ईश्वर को लेकर सहज मार्ग अभ्यासी नहीं बन सकता। और न ही हिन्दू ईश्वर को लेकर सहज मार्ग अभ्यासी बन सकता हूँ। मेरा केवल एक ईश्वर हो सकता है, जो देवताओं का भी ईश्वर है जिसकी कोई आकृति नहीं, नाम नहीं, गुण नहीं। वह परमतत्व जिससे मेरी कड़ी जुड़ी है अपने गुरु के द्वारा क्योंकि मेरा गुरु सीधे वही है।

कृपया यह सब चीजें याद रखिये। अगर हम उस तरह इसे अपनाएं जैसा कि कहा गया है तो हम न केवल दिन प्रति दिन सरल बनते जाते हैं और प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से हमारी बात चीत कम होती जाती है। परन्तु जो महत्वपूर्ण है, जो सारे अस्तित्व का स्रोत है, उससे हमारा संवाद स्थापित होता जाता है। अन्त में हम उस स्रोत में विलीन हो जाते हैं और सब संवाद समाप्त हो जाते हैं। तथास्तु।

धन्यवाद

अन्दर देखना

वास्तव में रोने का मनोविज्ञान। जैसे कि आपको पता है कि नींद के मनोविज्ञान पर पुस्तकें हैं तथा और भी बहुत चीजों का मनोविज्ञान। परन्तु रोने के विषय में मनोवैज्ञानिक भी गहराई में जाने से डरते हैं कि कहीं वे भी वस्तुतः रोना शुरू न कर दें। कहते हैं कि हँसने से इनसान हल्का होता है परन्तु रोना हल्का करता है। केवल जो रोता है वह जानता है कि रोने के बाद दिल कैसा हल्का होता है। जैसा कि हमारे नौजवान दोस्त ने कहा कई बार ऐसा समय आता है जब कि इनसान यह प्रार्थना करता है कि काश वह रो पाता क्योंकि वही हमारे मन पर पड़े अपराध बोध, शर्म के बोझ को, हटा सकता है। यह सफाई है। रोना हमें साफ करता है। मेरे खयाल में हँसने से यह काम नहीं होता। हँसना हमें कुछ क्षणों के लिए उछाल दे सकता है। और यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे समाज में पुरुषों को रोने की बिलकुल अनुमति नहीं है, हालाँकि मुझे अक्सर शक होता है कि वे छिप कर अकेले में रोते हैं। पर उससे हम अधिक नहीं प्राप्त कर सकते। मेरे विचार में एक हल्के तौर पर कहा जाए (मुस्कुराते हैं) (हास्य) यह बात गम्भीरता से लेने की नहीं है—तो हमें पुरुषों को रोना सिखाने की कक्षायें चलानी चाहिए। क्या आप ऐसा नहीं सोचते ? यह लाभ केवल हमारी बहनों को ही क्यों प्राप्त हो, हमें क्यों नहीं ?

बाबूजी कहा करते थे कि ध्यान की प्रारम्भिक स्थिति में—आँसू वगैरह अच्छा है, परन्तु वह सदा नहीं चलना चाहिए। रोना भी एक ऊपरी सतह की केवल भावनात्मक चीज नहीं होनी चाहिए। यह भी हमारे हृदय के अन्तरतम स्तर से आना चाहिए तब वह सफाई करता है नहीं तो वह फुहारे से स्नान की भाँति है। वह केवल हमारी चमड़ी की सफाई करता है, अन्य कुछ साफ नहीं होता। अधिकतर रोना इसी प्रकार का होता है यह भी हमें याद रखना चाहिये। अन्तिम बात यह है कि जो कुछ भी आये वह हमारे अस्तित्व के गहनतम स्तर से आये, न कि किसी भी ऊपरी स्तर से। जो कुछ भी हम कहें हमारे हृदय की गहराई से आये। हास्य हो तो हृदय की गहराई से आये। प्रार्थना हो तो उसी गहराई से। आंसू भी आयें तो हृदय की

उसी गहराई से आयें। परन्तु जब हम यह कला सीख जाते हैं तो हम ऊपरी सतह तक ही रखते हैं और उन्हें गहराई तक नहीं जाने देते क्योंकि हम डरते हैं। अन्दर जाने से डरते हैं।

मुझे याद है कि यह एक मनोवैज्ञानिक फिल्म में बहुत सुन्दर ढंग से दर्शाया गया था जिसका नाम 'सर्प गह्वर' (Snake pit) था। यह एक मनोवैज्ञानिक भयंकर फिल्म थी जो ३० वर्ष पूर्व बनी थी। कैसे एक पागल मरीज इस पागलपन, भूली हुई याददाश्त आदि, का शिकार है, यह केवल अपने 'स्व' का भय है। और इसमें 'स्व' एक गहरे कुएँ की भाँति है जिसके तल में जहरीले साँपों आदि का फुंफकारता हुआ झुंड है। शायद ओलिविया डी हैवीलैन्ड ने मुख्य पात्र का अभिनय किया था, बहुत बढ़िया था। सो हम अपने अन्दर झांकने से डरते हैं। मुझे एक व्यक्तिगत उदाहरण याद है। एक व्यक्ति ध्यान आरम्भ करना चाहता था परन्तु वह अपनी आँखें बन्द करके अन्दर नहीं देख सकता था। वह कुछ क्षण बैठता फिर वह चीखता हुआ जो भी उसके पास होता प्रशिक्षक के साथ चिपक जाता। सो ध्यान करना सरल नहीं। मेरा मतलब है कि जब हम ध्यान आरम्भ करने को तैयार हो जाते हैं तो यह दर्शाता है कि हम एक प्रकार के विकास के उस उच्च स्तर पर पहुँच गये हैं जहाँ हम अपने अन्दर देखने का यह भयंकर प्रयोग करने की सोच सकते हैं। हमें अन्दर क्या मिलेगा ? आप को पता है कि कई बच्चे बन्द दरवाजों से डरते हैं। माँ आकर उनके लिए दरवाजा खोले क्योंकि उन्हें नहीं पता कि उसके पीछे क्या है। मैं जब छोटा था मुझे भी यह डर सताता था। आज भी मैं आधे खुले दरवाजों से डरता हूँ। पता नहीं उस आधे खुले के पीछे क्या है। या तो वह पूर्ण रूप से खुला हो या पूर्णतः बन्द हो। आज भी ६0 वर्ष की आयु में। यह कहना मूर्खतापूर्ण है, पर यह है। इसलिये मैं बड़े ध्यान से या तो उन्हें पूरा खोलता हूँ या पूरा बन्द कर देता हूँ। हम में से अधिकतर बन्द स्थानों से डरते हैं। हम चारों ओर देखना पसन्द करते हैं। पहले एक कोने से अन्दर झांक कर देखते हैं कि अन्दर क्या है। अगर यह सब बाह्य के लिये है, तो आन्तरिक का क्या होगा ? और हमें पता है कि यहाँ क्या है।

सो मेरे विचार में हम सब जिन्हें यहाँ होने का सौभाग्य प्राप्त है, इतने विकसित हैं कि हम खुद अपना सामना कर सकते हैं—ईश्वर, संसार या ब्रह्माण्ड का नहीं क्योंकि यह सब नासमझी की बातें हैं। वास्तव में मेरा प्रभु यहाँ है या जो भी शैतान मेरे में है वह यहाँ है। अतः निश्चय ही युद्ध का क्षेत्र

मैं स्वयं हूँ। मेरा आन्तरिक 'स्व', मैं जहाँ मेरे अन्तर की दिव्यता मेरे अन्तर के शैतान से युद्धरत है। इसी कारण ज्यादातर लोग इस अन्दर झांकने की विस्मय से अभिभूत कर देने वाली क्रिया से कतराते हैं। वह कहते हैं "मैं ध्यान क्यों करूं" ?

तो इसको बाहर कैसे निकाला जाये ? इस शैतान को वशीभूत करना होगा, कैसे ? जैसा कि उन्होंने सुन्दर ढंग से कहा है "उसके अन्दर जाओ और उसे बाहर निकाल लाओ।" यहाँ हमारा सतही 'स्व' है और वास्तविक "मैं" तो मेरे भीतर है। मेरा आन्तरिक अर्थात् **'वह'** तो मेरे भीतर है और मेरे अन्दर मेरा नकारात्मक 'मैं', वह आधा काला भाग जो दानव है वह भी मेरे अन्दर ही है। अब शैतान व ईश्वर कभी लड़ नहीं सकते क्योंकि शैतान कभी ईश्वर से नहीं लड़ेगा। किन्तु ईश्वर अन्दर है जो मुझे मेरे अन्दर आकृष्ट करता है। और दूसरी ओर शैतान है जो मुझे वैसा करने के लिये प्रलोभित करने की कोशिश करता है जो मुझे नहीं करना चाहिये। अनिवार्यतः इस सतही 'मैं' को लड़ाई लड़नी है। फिर हम पाते हैं कि मेरे अन्दर का 'वह' मेरे भीतर के 'मैं' की सहायता करता है और शैतान वश में हो जाता है। इस प्रक्रिया में विशेषकर सहज मार्ग में, हमें सफाई की प्रक्रिया द्वारा शैतान को वश में करने में गुरुदेव की सहायता सुलभ है और साथ ही साथ प्राणाहुति शक्ति का योगदान प्राप्त होता है जो मेरे अन्दर के 'वह' को बल प्रदान करता है। साथ ही वह सादगी भी जो हममें प्रविष्ट की जाती है, वह अधिकाधिक रूप से उस 'मैं' को समाप्त कर देती है। सो अन्ततः वास्तविक रूप में मेरे अन्दर का 'वह' मेरे अन्दर के शैतान से युद्धरत है, और यह अत्यन्त सफल लड़ाई है। और यह समाप्त हो जाती है। अतः आप देखते हैं कि किस प्रकार "मैं" को समाप्त करके 'वह' सर्व शक्तिमान बन जाता है जो कि वह सदा से था किन्तु जिसका 'मैं' ने बहिष्कार किया हुआ था। इसलिये भय पर विजय पानी होगी और इस भय की पहली अभिव्यक्ति ध्यान न करने की अक्षमता है। आँखें बन्द करने का भय, अन्दर झांकने का भय—उसे जाना होगा। मुझे खुशी है कि इतने लोग यहाँ हैं। यह दर्शाता है कि ऐसे लोग हैं जो यह कर सकते हैं। और अगर वह कर सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि वह सफल भी न हों। अब अपनी पीठ थपथपा कर अपने आप को शाबाशी देना मत आरम्भ कर दीजिये, "महान जैकी, मैं सक्षम हूँ।"

भूत, वर्तमान, भविष्य

इन धारणाओं का अर्थ ग्रहण करना और उन्हें किसी व्यवस्थित ढंग से रखना। ऐसी चीजों के विषय में बात करना भी कठिन है। लोग कहेंगे "यह व्यक्ति दीवाना है, आप को भविष्य की याद कैसे हो सकती है ?" और शायद ऐसा ही है। उस अर्थ में, जब आप आत्मा को छू देने वाले संगीत का निर्माण करते हैं जो आप आसमान से उतार लाते हैं, तो कैसे ? मेरे विचार में वह कुछ ऐसी चीजें हैं जो आप भविष्य से वर्तमान में लाकर लिखते व गाते या बजाते हैं। ऐसे में याद एक वास्तविकता हो जाती है। भविष्य वर्तमान में एक वास्तविकता बन जाता है। क्या यह आपके समझ में आने योग्य लगता है ?

प्रश्न—हाँ।

उत्तर—फिर आप मेरी ही भाँति दीवाने हैं। भविष्य को वर्तमान में कैसे लाया जाय। आप सहगल द्वारा ४० वर्ष पूर्व गाये हुए गाने का रिकार्ड लगाते हैं " तू काहे गुमान करे" तो लगता है कि वह अभी यहीं गा रहा है। और अगर आप में भेदन की योग्यता है या अपने को भूत व वर्तमान से मुक्त करने की क्षमता है, तो निश्चय ही आप भविष्य के आयाम का अनुभव करने की अपेक्षा कर सकते हैं। क्योंकि तुम वर्तमान में हो वह भी वर्तमान में अवश्य होगा। सो एक अर्थ में यह किसी एक क्षण में भविष्य व वर्तमान को एक साथ जोड़ना होगा जिसे तुम वर्तमान क्षण कहते हो और यह क्रम बांधना है। समझ गये ? सो यही खेल हम यहाँ खेल रहे हैं जब हम मूर्खों जैसे आँखें बन्द करके ध्यान में बैठते हैं। कैसे ? यदि हमारा भूत हमारे लिए वास्तविक हो सकता है; आप तो जानते हैं हमारा भूतकाल हमारे अन्दर खुशी, दुःख दर्द, आँसू, हँसी भर देता है। तुम्हें मालूम है कि कैसे बीती हुई यादें तुम्हारे अन्दर यह सब पैदा कर सकती हैं। "ओह चारी कल मैं लखपति था आज मैं सबकुछ रेस में हार गया।" और वह रोता है। मुझे कोई कारण समझ में नहीं आता कि एक विशेष आयाम या एक समय के विशेष आयाम में हमारे अन्दर भविष्य की याद क्यों नहीं हो सकती। इसका अर्थ है, क्या हम एक भविष्य का निर्माण कर रहे हैं या हम उस भविष्य को याद कर रहे हैं जिसमें

हम पुनः वापस जा रहे हैं ? जैसे तुम चेशम एक बार आते हो, तुम्हें सड़क याद रहती है और दस वर्ष बाद भी तुम्हें सड़क याद रहती है। हो सकता है तुम एक गलत मोड़ यहाँ, एक गलत मोड़ वहाँ लो परन्तु तुम आखिरकार 'लिटल ग्रूव' में पहुँच जाते हो। है न ?

तो, यह भाव है जिसमें आप समय की चक्राकार गति की धारणा लेते हैं। वह गोल गोल जाता है जो एक दिशा से भूत है वही दूसरी दिशा से भविष्य है। तो अगर आप दिशाओं को बदल दें तो हमारा काम हो गया। पर यह मन के लिये सम्भव नहीं। अतः हमें मानसिक शक्तियों को सुसंगठित करना पड़ता है और उस शक्ति का प्रयोग करते हुए पहले उसे एक दिशा देनी पड़ती है, जैसे रोशनी की किरण को केन्द्रित करना पड़ता है ताकि उसे हम किसी ओर भी केन्द्रित कर सकें। इसी प्रकार की कुछ चीजें।

प्रश्न—अति रोचक।

उत्तर—रोचक ही नहीं, इनमें से कुछ चीजें तुम्हें दीवाना भी कर देती हैं। (हास्य) कभी कभी मुझे दीवाना कर देती है जब तुम इतनी दूर जाकर फिर और आगे नहीं जा सकते। जैसे मन में एक रुकावट् सी आ जाती है जिसके आगे तुम उस समय विशेष पर नहीं जा सकते। तो सम्भवतः आत्म-विकास का अर्थ यह भी हो सकता है कि हम मानसिक क्षमताओं को उस सीमा तक बढ़ायें जहाँ कोई सीमाएं न हों। मन समय व काल की चरम सीमा तक खोज कर सकता है। उन्हें हम दीर्घदर्शी या द्रष्टा कहते हैं—वह भविष्य में देख सकता है, अति दूर भविष्य में। अब अगर तुम उसे देख पाते हो तो वह किसी न किसी रूप में वहाँ होगा। शायद यथार्थकृत रूप में नहीं बल्कि सम्भाव्य रूप में। इसलिये एक अन्य अर्थ में योग और कुछ नहीं बल्कि सम्भव को यथार्थ बनाना है। अब इस समय जो सम्भाव्य है उसमे स्वयं कोई यथार्थता अवश्य होनी चाहिये। जो किसी भी अर्थ में नहीं है, आप उस की सम्भावना की किसी भी अर्थ में कल्पना नहीं कर सकते। सो मन जो कुछ भी कल्पना कर सकता है उसे अवश्य ही सम्भव होना चाहिये। है न ?

प्रश्न—..........(स्पष्ट नहीं)

उत्तर—ओह, इस विषय में मैं आश्वस्त हूँ।

प्रश्न—मुझे पक्का विश्वास नहीं।

उत्तर—मुझे भरोसा ही नहीं, विश्वास है। नहीं तो प्रगति ही न हो। किसी भी चीज में हम पहले उसकी कल्पना करते हैं फिर उसे प्राप्त करते हैं। हो सकता है उसे हम आज न प्राप्त कर सकें। एक समय ऐसा भी था

जब उड़ना असम्भव था, परन्तु कुछ साहसी लोग थे जिन्होंने इसकी कल्पना की, उसकी तस्वीर बनाई। आदमी की चील के पंखों के साथ, बड़ी चिड़िया के पंखों के साथ फिर उन्होंने उस का निर्माण किया और आज हमारे पास यह दानव जैसे बड़े जेट हवाई जहाज हैं। यह सब उन मनुष्यों के दिमाग से निकला जिन्हें उस समय सनकी कहा जाता था। भूत या वर्तमान का सनकी भविष्य का द्रष्टा होता है। इस कारण यह द्रष्टा हमेशा थोड़े मूर्ख भोंडे और बेजगह अलग-थलग और शायद अपने समय से अलग दिखाई देते हैं। इस अर्थ में जैसा कि कल किसी ने मुझे लिखा था "मैं मानता हूँ कि गुरु भविष्य के महामानव हैं जो अपनी दयालुता व मानव प्रेम के कारण वर्तमान में हमारी सहायता के लिये आते हैं। क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?"

मेरा भी सदा यही विश्वास रहा है। किसी मानव के लिये वर्तमान में आना और आकर वह शिक्षा देना जो दो हजार वर्षों तक मान्य हो, इस की कल्पना उसने मानवीय स्तर पर इस मानव बुद्धि व दिमाग से मानवीय सीमाओं के साथ नहीं की होगी। वह यहाँ उस भविष्य के ज्ञान के साथ वर्तमान में आया होगा, ताकि वह वर्तमान में हमें भविष्य का ज्ञान दे सके, समझे ? उसका भविष्य तो वहाँ है ही। ऐसे मनुष्य के लिये हम कैसे कह सकते हैं कि उसके लिये भविष्य जैसी कोई चीज है ? उसका भविष्य तो पहले से ही वहाँ मौजूद है। वह समय में पीछे की ओर आया है हमारी सहायता के लिये। तो क्या वर्तमान में उसका कोई भविष्य हो सकता है ?

प्रश्न—(सुनाई नहीं दिया).........क्या यह अपने घर से आकर वहाँ वापस जाना नहीं है ?

उत्तर—नहीं वह अलग चीज है। इसके विषय में थोड़ा थोड़ा कर के विचार करो और कभी तुम्हारी समझ में आ जायेगा। उनका भविष्य उसी भविष्य में है जिसमें उनका वर्तमान है। आपको लगे शायद मैं शब्दों का खिलवाड़ कर रहा हूँ, परन्तु ऐसा नहीं है। यह अत्यन्त गम्भीर विषय है। मतलब कि गुरु अर्थात मेरे गुरु जैसा व्यक्ति, यह सम्भव है कि शायद हमारे समय से ५००० वर्ष आगे के समय से आये होंगे। उनका वर्तमान यहाँ है। और वह उस अर्थ में यहाँ है जो शायद उनके लिये गैर-वर्तमान है। इस वर्तमान में वह अपने भूतकाल में हैं। जैसे मेरे दादा जो कहा करते थे "ओह १८३२ में मैं अमुक स्थान पर था जहाँ पर चावल रुपये का १६ सेर मिलता था"—और उस समय वह अपने भूत में ही होते थे। यह कहना कि वह भूत को याद कर रहे थे या उसमें झांक रहे थे, गलत होगा। वह शब्दशः भूत में

ही होते थे। वह पुनः अपने भूतकाल में रहने लगते थे। केवल उनका शरीर यहाँ है।

कभी कभी मैं सोचता हूँ कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह गुरु लोग जो हमारे पास आते हैं इनका वास्तविक भौतिक शरीर भविष्य में है और हमें जो दिखाई देता है वह इनका विचार-शरीर हैं जो कि हमें उनके उस शारीरिक रूप में नजर आता है। इस कारण वह कह सकते हैं कि यह रक्त-मांस नहीं है। वह हमें वैसा दिखाई देता है परन्तु वास्तव में है नहीं। आप जानते हैं कि सभी बड़े-बड़े सन्तों ने यह कहा है। बाबूजी ने कहा है "मेरे शरीर का एक एक अणु दिव्य है।" उसका अर्थ क्या है ? वह जिस समय में भी जाना चाहते हैं उनका वैचारिक रूप उसी समय में पीछे सरक जाता है। वह हमें विश्वास दिलाने के लिए कि वह यहाँ है, कुछ ठोसता धारण कर लेता है। वह जो हमें सिखाना चाहते हैं वह सिखाते हैं और फिर जो उनका वर्तमान है उसमें चले जाते हैं। सम्भव है वह ५000 वर्ष या १0000 वर्ष भविष्य में हो और फिर वह वहाँ जब अपने असली रूप में आ जाते हैं तो सोचते हैं शायद उन्होंने सपना देखा था जिसमें वह उस भूतकाल में थे जिस समय आसे वहाँ था, जॉन फिर १५ वर्ष बाद लौट आया है, और लाल शाल ओढ़े एक व्यक्ति बेवकूफी की बातें कर रहा है। हो सकता है कि जब यह सब बातें जातीय यादों का ठोस रूप धारण कर लेती हैं तो वह जुंग के मतानुसार सामूहिक चेतना कही जाती है। क्योंकि वे सभी जो भूतकाल में जाने की क्षमता रखते हैं, एक सुनिश्चित भूतकाल में एक ही भूतकाल देखते हैं। अतः उन सबकी भूतकाल की वही स्मृति होती है जैसी बाकी सब की।

शायद मुझे और स्ट्राबेरी और क्रीम खाना पड़ेगा। ऐसा लगता है कि इससे मेरी कल्पना को अच्छी उड़ान मिलती है। अतः यह विचार-रूप क्योंकि यह विचारों के ही रूप हैं—इनमें कोई सुख या दुःख की अनुभूति नहीं होती। इन लोगों के लिए उन धारणाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता जो हम अपने समय में देखते हैं। इसी कारण तुम उन्हें सूली पर चढ़ा सकते हो जला सकते हो, और हमें विश्वास दिलाने के लिए कि वह यहाँ शारीरिक रूप में हैं वह हमारे साथ तालमेल बिठाने के लिये सुखी या दुःखी होने का नाटक करते हैं। अतः वे हमारी तरह काम करते हैं व्यवहार करते हैं परन्तु अपनी वास्तविक अवस्था में अवश्य मुदित होंगे ? "यह क्या बेवकूफी है ? कील का थोड़ा सा टुकड़ा मेरे अन्दर ठोंक रहे हो "तो उनका भविष्य तो भविष्य में है। पर हमारा भविष्य वर्तमान में है. है न ? इसलिए हमें वर्तमान

में काम करना पड़ता है। इसी कारण महान गुरुओं ने कहा है "यहाँ और अभी"। मैं ध्यान कब आरम्भ करूँ ? अभी ही, कल या परसों नहीं, आप सहमत हैं ?

प्रश्न—शत प्रतिशत

उत्तर—शत प्रतिशत (हास्य) सो यह ऐसा है। भूत, वर्तमान व भविष्य के विचार। अब एक और विचार है-थोड़ा सनक भरा। अब मान लीजिए मेरा एक चक्र ढाई करोड़ वर्ष का हो; और मेरी माँ की मृत्यु ५० वर्ष या ५३ वर्ष पूर्व हुई हो—५३ वर्ष इधर से देखने पर—परन्तु दूसरी ओर से देखने पर मैं कह सकता हूँ कि वह २ करोड़, ४६ हजार नौ सौ सैंतालिस वर्ष भविष्य में मरी। है न ? /

प्रश्न—हाँ आप ऐसा कह सकते हैं। पर इससे क्या ?

उत्तर—तो क्या ? अब मान लीजिए इस समय-चक्र को हम २५० करोड़ वर्ष से कम कर हम २५ करोड़ वर्ष, फिर २ १/२ करोड़ वर्ष फिर २५ लाख वर्ष, ढाई लाख वर्ष करके घटाते हुए उस बिन्दु तक ले आयें जिसके एक बिन्दु को आयामरहित कहते हैं, कोई आयाम नहीं। अगर हम इसे सिकोड़ कर उस बिन्दु तक ले आएं तो वही ईश्वर की परिभाषा है, है न ? सो ऐसे व्यक्तित्व के लिए न कोई भूत है न भविष्य। सब कुछ इसी वर्तमान में है। वह इधर देखता है तो भूत दिखाई देता है उधर देखता है तो भविष्य दिखाई देता है। उसके लिए कुछ भी नहीं है। जैसे कि एक ही बिन्दु से सब फैलता है, पहिए के बीच के बिन्दु से सब छड़ें बाहर की ओर जा रही हैं, और वह घूमता है। यह घूमना तुम्हें दिखाई देता है, पर जब कोई आयाम ही नहीं तो वह घूमेगा कैसे ?

सो वह बिना चले, चल सकता है। समझ में आया ? हिन्दू दर्शन में यह ईश्वर के विषय में पुरातन विचार है कि बिना चले वह चलता है, बिना दिये वह देता है, बिना शक्ति के उस से सारी शक्ति शुरु होती है, बिना ज्ञान के सब ज्ञान उसी से पैदा होता है, उसी से सब भूत, वर्तमान, भविष्य आता है। वह इन से ऊपर है पर सब उसी से जन्मा है। तो आप देखते हैं कि आप उस गोले को तंग करते जाते हैं। पहले एक बड़ा सा गोला था जो कि करोड़ों वर्ष गोल गोल घूमता रहा, जन्म पुर्नजन्म, जन्म पुर्नजन्म और धीरे धीरे आप उसे छोटा व तंग करते जाते हैं, अन्त में आप उसे यहाँ तक एक बिन्दु तक ले आते हैं जहाँ वह अपने में समाप्त हो जाता है और फिर वह शायद कुछ.........अब क्या कहा जाय ?

प्रश्न—अनन्त ?

उत्तर—यह अनन्त है और साथ ही 'कुछ नहीं' भी क्योंकि सब कुछ उसी से जन्मा है। जैसा कि किसी ने कहा......वह कौन कवि था जिसने कहा था.........क्या ब्लेक था ?

प्रश्न—हो सकता है।

उत्तर—हो सकता है।

प्रश्न—वह रहस्यवादी था।

उत्तर—रहस्यवादी ?

प्रश्न—हाँ

उत्तर—वह रहस्यवादी कविता का टुकड़ा था। "अनन्तता को क्षण में अनुभव करना और अनन्तता में क्षण का अनुभव।" इसी तरह का कुछ था। सो उसमें समय भी नहीं है। कोई समय नहीं, कोई अवकाश नहीं, कोई कारण नहीं। इसी कारण कोई भविष्य नहीं, कोई वर्तमान नहीं। परन्तु सब कुछ उसी से निकलता है। जब वह इससे निकलता है तो वह इस आयाम की सीमाओं से आबद्ध हो जाता है। आप अन्तरिक्ष के अधीन, समय के अधीन, भूत के अधीन, भविष्य के अधीन हो जाते हैं। मैं सोचा करता था कि पुराने दिनों में वास्तुकला में भी इसी प्रकार का विचार रहा होगा। एक फैलते हुए विचार के बजाए एक सिकुड़ने का विचार जो कि अपने आप में सिकुड़ जाए। स्थान के सन्दर्भ में नहीं परन्तु जिस तरह उसकी धारणा की जाती थी। मुझे इसी कारण गुगेनहीभ अजायबघर पसन्द था। वह गौथिक शैली की भाँति प्रभाव उत्पन्न नहीं करता।

प्रश्न—क्या आप वहाँ गये हैं ?

उत्तर—नहीं। मैं वहाँ गया नहीं परन्तु उसकी तस्वीरें देखी हैं, परन्तु वह काफी है। उससे कुछ अपने आप में सिकुड़ कर बन्द होने जैसी अनुभूति पैदा होती है, जब कि यह बड़ी बड़ी गौथिक मीनारों को देख कर लगता है कि वह अन्तरिक्ष में व समय में चली जा रही हैं। इसको देखकर मन में अनन्तता का अपने आप में बन्द होने का विचार आता है और उसको देख कर विचार आता है कि कुछ अनन्तता में फैल रहा है। कला के दो विपरीत रूप दिखाई देते हैं। मुझे नहीं मालूम कि कलाकार मुझसे सहमत होंगे या नहीं, परन्तु मुझे ऐसा लगता है। अब यह प्रकृति में दिखाई देता है—बीज जिसमें जीवन स्थान के लगभग एक बिन्दु में बन्द है। जैसे 'राई' की तरह जिसका दाना सबसे छोटा है और जब वह खुलता है तो दानव जैसे लाल

पेड़ देता है, ३000 साल पुराने पेड़ और २८0 फुट ऊंचे आकाश में उठे पेड़ पैदा कर देता है, और इतना चौड़ा जिसमें चौड़ी गुफा निकाल लो जिसमें से होकर दो कारें साथ साथ चली जाएँ। आपको केलीफोर्निया के रेड बुड का पता है। अब यह ....सम्भावना है—वह गतिज आकार है। और उसे व्यक्त रूप भी कह सकते हैं।

प्रश्न—मेरी सीमा से बाहर

उत्तर—सीमा ?

प्रश्न—मेरी समझ के बाहर है।

प्रश्न—मेरी सीमा से परे।

उत्तर—हाँ, पर उसको व्यक्त करने में हमेशा एक सीमा है। यदि बीज अनन्त हो तो ? अब जब बीज के अन्दर सीमित सम्भावनाएं बन्द हैं तो वह जो फैलाव लेगा वह अपनी ही सीमा तक, यदि प्रकृति अनुमति दे तो, यदि परिस्थितियाँ अनुमति दें तो। परन्तु अगर वह बीज अनन्तता से जुडा है—दिव्य—तब वह बिना सीमा के फैलेगा। कल्पना की जा सकती है कि इससे ऐसा वृक्ष उपजेगा जो पूरे ब्रह्माण्ड को ढेंक ले। इसी प्रकार हम जो कुछ भी नहीं हैं- ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में तो हम मनुष्य लोग कुछ भी नहीं हैं वह चाहे अपनी उपलब्धियों पर गर्व करें, तकनीकी प्रगति पर, वैज्ञानिक गरिमा पर, रहन सहन के स्तर आदि आदि मूर्खतापूर्ण चीजें—पर हैं सीमित। पर अगर वह अपने को दिव्यता से जोड़ सकें..........

अब विज्ञान अपने को अनन्तता के साथ जोड़ना चाहता है। अपने से बाहर। दुनिया को बड़े से बड़े टेलिस्कोप से, शक्तिशाली टेलिस्कोप से देखने का प्रयत्न। वह चलता नहीं। क्योंकि जैसा कि कहते हैं संसार फैल रहा है और वह कभी भी ऐसा टेलिस्कोप नहीं बना पायेंगे जो संसार की फैलती हुई सीमाओं तक पहुँच सकें। क्या कर सकते हो ? किन्तु कुण्डली का दूसरा भाग तुम्हारे हृदय में है अब अगर तुम अपने आप को वहाँ जोड़ सको तो यह करिश्मा उपलब्ध हो सकता है। कि मैं अपने अन्दर उस दिव्यता से जुड़ा हूँ जो और कुछ नहीं बल्कि ब्रह्माण्ड की सम्भावनाएं हैं जो हृदय में कसकर उस दिव्य बिन्दु में समेटी हुई हैं जिसको तुम हृदय कहते हो। और मैं उसी से अपना पोषण प्राप्त करता हूँ..........मैं उससे, अपनी, नहीं 'अपनी' नहीं, अपने अन्दर पड़ी सम्भावना को निःसीम तक व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त करता हूँ। वह जो कालहीन, अवकाशहीन आयाम में समेटा हुआ है। फिर हमें यह करिश्मा देखने को मिलता है कि वह

मूल प्रारम्भिक अणु जो प्रस्फुटित होकर फैला और ब्रह्माण्ड बन गया, जो ऐसा समझा जाता है कि एक करोड़ प्रकाश वर्ष की दूरी तक फैला हुआ है। मैं वैसा ब्रह्माण्ड क्यों नहीं बन सकता ? उसके आगे अब मैं "मैं" नहीं कह सकता क्योंकि ब्रह्माण्ड 'मैं' नहीं हो सकता। परन्तु एक दूसरे अर्थ में वह मैं था। एक अन्य अर्थ में यह मेरे अन्दर का वह बिन्दु था, जो दिव्यता थी और जो फैल कर ब्रह्माण्ड बन गई है।

इसी कारण हम कहते हैं हर एक अपने अन्दर एक ब्रह्माण्ड लिये हुए है। किन्तु जब हम उसे केवल मैं, शरीर या सुन्दरता इत्यादि तक सीमित कर देते हैं तो हम स्वयं अपने को सीमित कर देते हैं और जब मैं अपने शरीर को भूलने को तैयार हूँ—शरीर को भूलने का अर्थ है सीमा को तोड़ना न कि उसका परित्याग करना—तो उसके साथ यह सम्भावना आती है कि यह विस्तार तुरन्त आरम्भ हो जाता है। यह एक लालटेन की भाँति है, अगर सब खिड़कियाँ व दरवाजे बन्द हैं तो उसकी रोशनी बाहर नहीं जा सकती। खिड़की दरवाजे खोल दो तो वह उनसे होकर बाहर चमकने लगती है। दीवारें भी तोड़ दो तो वह सब तरफ जायेगी। सैद्धान्तिक रूप से कहा जाए तो वह अनन्त तक जायेगी, अन्तरिक्ष के सुदूर कोनों तक जायेगी। है न ? अगर एक अकेली मोमबत्ती के प्रकाश से यह हो सकता है तो मेरे हृदय में जो दिव्यता विद्यमान है उसका क्या ? आप समझते हैं ?

प्रश्न—हाँ

उत्तर—यह आध्यात्मिकता है। हम यही करने का प्रयत्न कर रहे हैं: पहले हृदय की रुकावटों को हटाना, प्रेम और नफरत में भिन्नता, पक्षपात चाहे वह धार्मिक हो या और कुछ, सीमाएं; यह मेरा है, यह उसका नहीं, यह मेरा रिश्तेदार है, यह नहीं है, यह मेरा भाई है, आदि आदि ? जब इन सब सीमाओं को हम तोड़ देते हैं तो 'छू'.............(आवाज करते हैं)—विस्तार। फिर वह कभी रुकता नहीं क्योंकि एकबार जब यह अवरोध तोड़ दिया जाता है तो फिर वह अपने वेग से चलता जाता है।

अब अगर आप मोमबत्ती हों और उसकी रोशनी चार दीवारी में बन्द है, तो दीवार को तोड़ने पर वह रोशनी की तेज गति से ब्रह्माण्ड के सुदूर कोनों तक पहुँच जाती है। इसकी कोई गति नहीं है। उसकी गति अनन्त है। इसी कारण जब आप प्राणाहुति देते हैं तो वह उसी क्षण ब्रह्माण्ड के दूसरे छोर तक पहुँच जाती है। यह प्राणाहुति का करिश्मा है। शुरु शुरु में जब विदेशी लोग भारत आते थे तो वह बाबूजी से कहते थे "बाबूजी क्या जिस

समय आप यहाँ प्राणाहुति देते हैं क्या हम उसी समय वहाँ बैठ सकते हैं ?" और वह कहते थे "हाँ, उंह" फिर वे लोग हिसाब लगाते थे कि जिस समय यहाँ ७.३० बजे होंगे उस समय भारत में एक बजे होंगे। तो वह पूछते "बाबूजी आप किस समय प्राणाहुति देते हैं ? वह कहते "नौ बजे के आसपास।" तो वह हिसाब लगाते उस समय वहाँ सुबह के ३.३० बजे होंगे और उस समय कैसे उठा जाए ?" तो बाबूजी उन्हें समझाते "इस तरह नहीं, तुम जिस समय भी बैठोगे तुम्हें मिलेगा।" तुम्हें समय का हिसाब लगाने की आवश्यकता नहीं है। अभी का अर्थ 'अभी' ही होता है। क्या तुम्हारा अभी और मेरा अभी भिन्न हो सकता है ?

यह प्राणाहुति का करिश्मा है। क्योंकि यह कहना भी कि यह दिव्यता का प्रारम्भ है गलत होगा। वह स्वयं दिव्यता है। तो क्या होता है ? उसमें समय व स्थान की कोई सीमा नहीं है। क्या वह किसी भी समय में किसी भी स्थान पर हो सकती है ? हाँ। क्या वह इस समय संसार के दूसरे सिरे पर हो सकती है ? अवश्य। जिसके लिये स्थान की कोई सीमा नहीं उसके लिए संसार का दूसरा सिरा क्या चीज है। जो समय में बँध नहीं सकती उसमें समय का क्या महत्व। मान लीजिए आप यहाँ बैठे हैं और आपकी बहन भविष्य में, जो शायद २० हजार साल बाद पैदा होगी और इस समय किसी और रूप में संसार के दूसरे छोर पर है। क्या दोनों को एकसाथ गुरुदेव के द्वारा प्राणाहुति मिल सकती है ? हाँ, उसी समय में। इसी समय, हम कहते हैं "उस एक ही समय में" । अब, 'एक ही समय में' इस वाक्य का क्या अर्थ है ? यह हास्यास्पद लगता है। पुनः यह हमारे दिमाग में भिन्न भिन्न समयों का विचार लाता है, जो समय के उस एक बिन्दु पर परस्पर मिलते हैं जिसे हम "उसी समय" कहते हैं। यह, इस प्रकार कहने जैसा है कि जब मैं दिव्य होऊंगा और तुम दिव्य होगे तब क्या हम एक दूसरे को पहचानेंगे ? बहुत से लोग यह प्रश्न करते हैं मेरा मतलब प्रेमी आत्माएं, मुक्त होने के बाद वह मिलना चाहती हैं, हाथ मिलाना चाहती हैं और परस्पर चुम्बन करना चाहती हैं। अतः "पर चारी मुक्ति के बाद क्या हम किसी अन्य आयाम में मिल पायेंगे ?" अरे ! यह है ही नहीं। यह साइकिल की उन तीलियों की भाँति हैं जो केन्द्र बिन्दु पर आकर मिलती हैं। वह मिल तो रही हैं परन्तु उनका कोई अलग अस्तित्व नहीं है। वह खुशी व आनन्द जिनकी भविष्य में सम्भावना की हम कल्पना करते हैं, वह सम्भव नहीं क्योंकि अब हमारे कोई व्यक्तित्व ही नहीं हैं। हम तो सब एक बड़ी भव्य चीज में समा जाते हैं। तो

क्या परमजीत वहाँ अपने पति से मिल पायेगी ? अब उस एकता में एक समस्या भी है जब तक आप अलग न हों आप एक दूसरे के साथ का मजा कैसे ले सकते हैं। परमात्मा के बड़े बड़े भक्त हुए हैं जिन्होंने कहा है मैं शाश्वत काल तक आपका भक्त बना रहूं। जब तक मैं भक्त और आप प्रभु नहीं, मैं भक्त की हैसियत से आपके साथ सम्बन्ध का आनन्द कैसे उठा पाऊंगा ?"

जब कोई बाबूजी को ऐसे किसी सन्त के विषय में बता रहा था तो बाबूजी ने कहा—"वह बहुत बड़ा मूर्ख है, जब तुम सदैव के लिए एक हो सकते हो तो फिर अलग रह कर इस सम्बन्ध का आनन्द क्यों लो ?" अब यह मानवीय विचार है कि हम अलग रहकर ही एक दूसरे के साथ का आनन्द उठा सकते हैं। आप अगर किसी विलक्षण उपाय से एक दूसरे मे मिल कर एक हो जायें तो वह आनन्द या खुशी समाप्त हो जाती है। किन्तु यह एक चिर स्थाई विचार है और इसे छोड़ना कठिन है। इसी कारण यह अजीब पुस्तकें हैं जिनमें यह लिखा मिलता है कि उस मनुष्य की मृत्यु हो गई और जब वह सीमा पार कर के उस संसार में पहुँचा तो उसकी पत्नी फूलों का गुच्छा लेकर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। यह सत्य हो ही नहीं सकता। जब सब भविष्य, सब भूत, सब समय एक स्थान पर एक बिन्दु पर मिल जाता है तो वहाँ कौन कौन है ? और क्या क्या है ? कैसा कैसा है, कब कब है ? क्या यह कहना सम्भव है ? मेरे विचार में अब यह काफी हो चुका या कहें कि काफी वार्ता हो चुकी। अच्छी बातें ? बेवकूफी की बातें ?

प्रश्न—यह टेप कब प्राप्त होंगे ?

उत्तर—ओह कभी भविष्य में, जो कि शायद वर्तमान में भी हो सकता है (हास्य) आप ने तो यह सुन ही लिया है।

प्रश्न—हाँ

उत्तर—वह वर्तमान में है।

प्रश्न—हम फिर सुनना चाहेंगे।

उत्तर—टेप भविष्य में हैं।

जो उनका वह मेरा है

—और फिर बढ़कर कुछ और बन जाना। जब मैंने यह पढ़ा तो मैंने सचमुच अपना सिर ठोंक लिया। "बेवकूफ, तुम क्या कर रहे हो ? बैठना, ध्यान करना, सफाई आदि-आदि बकवास।" जहाँ तक मेरा सवाल है मैं स्वयं दूसरों को भी इसके बारे में सिखाता हूँ। (हास्य) यह एक अनुशासन है जिससे आपको गुजरना होता है। इसके लगभग १५-२० दिन बाद जब मैं शाहजहाँपुर गया, मैं उनके पास ही कुर्सी पर बैठा था, मैंने अपने हाथ उनकी कुर्सी की बाँह पर या करीब-करीब उनकी गोदी में रखते हुए बड़ी आत्मीयता से उनकी आँखों में देखते हुए कहा "बाबूजी जब मैं यह पुस्तक छपवा रहा था मुझे एक रहस्य ज्ञात हुआ।" उन्होंने कहा "क्या ?" मैंने कहा "आपने कुछ लिखा है जो बहुत ही अनोखा है।" उन्होंने पूछा "क्या ?" तो मैंने उन्हें यह बताया। वह बोले "क्या मैंने ऐसा लिखा है ?" मैंने उत्तर दिया "हाँ।" उन्होंने कहा "कभी-कभी मैं भी अच्छी चीजें लिख देता हूँ, यह अच्छा है कि बहुत कम लोग इसे समझ पाते हैं।" इतने लोगों ने "ऋत- वाणी" पढ़ी है, परन्तु किसी ने इस वाक्य के बारे में मुझसे नहीं कहा।

आपके बालक के पास वह सब है जो आपके पास है। है न ? वह उसका है। उसका न होने का कोई प्रश्न ही नहीं। वह उसका वंशानुगत अधिकार है। सो मेरे गुरुदेव का जो भी है मैं उससे कैसे वंचित रह सकता हूँ। अगर वह मेरे गुरुदेव हैं और मैं अपने को धोखा नहीं दे रहा और केवल दिखावा नहीं कर रहा, सचमुच उनको हृदय से अपना गुरु माना है, तो मैं उनका आध्यात्मिक पुत्र हूँ। जो कुछ उनका है, वह मेरा है। फिर रोने-धोने की, चेष्टा करने की छाती, पीटने की क्या आवश्यकता है ? कोई नहीं। वास्तविकता यह है कि जाने अनजाने में हम उन्हें गुरु कहते हैं परन्तु अभी भी उन्हें अपने से अलग मानते हैं। अस्तित्व की वह एकात्मकता हम अनुभव नहीं करते जो एक बालक अपने माँ या बाप से अनुभव करता है। इस कारण हमें प्रयत्न करना पड़ता है, कोशिश करनी पड़ती है और उन्हें देना पड़ता है। अब इस भाव को आप उस बिगड़े हुए बेटे के लौटने की कथा से पुष्ट कर सकते हैं। वह बिगड़ा बेटा ही था जो अपने पिता को छोड़ कर २०

yes, BNM has accepted him so.

वर्ष के लिए चला गया था। है न ? और ऐश कर के एक दिन वापस आता है, फिर भी उसका स्वागत होता है। पाप या दण्ड का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उठ सकता है क्या ? आप एक बेटे को सही कर सकते हैं, परन्तु उसे दण्ड नहीं दे सकते या अपराधी नहीं ठहरा सकते। अगर वह आपके पड़ोसी का बच्चा है, तो हाँ। इसी कारण कहते हैं कि "पड़ोसी को भी अपनी तरह प्यार करो।" उससे दूरी मत रखो। अब पड़ोसी कौन है ? वही जो मेरे दायें या बायें है ? जो भी मेरे इस संसार में है। तो अपने इस परिवार के विचार को और फैलाओ और उसमें सब कुछ शामिल कर लो। केवल आदमी ही क्यों जानवर, परिन्दे, चीटियाँ सब कुछ। फिर तुम्हारी ओर से सब तुम्हारे हैं परन्तु क्या वह सब तुम्हें अपना समझते हैं ? अब यह मनुष्य जाति की समस्या है। गुरु के लिये हम सब उनके हैं ही परन्तु हमें उन्हें अपना बनाना है, उन्हें प्रेम करना है, उन्हीं की भाँति बनना है। और एक दिन इस चरम सत्य के दर्शन होते हैं। "मैं सदा से उनका था और वह सदा मेरे थे।" और मैं २५ वर्ष तक मूर्ख रहा जो मैं उसे पाने का प्रयत्न कर रहा था जो सदा से मेरा था। अब ऋत- वाणी के उस वाक्य से मेरे अन्दर उस दिन यही जागृति हुई कि—मैं हर अर्थ में मुक्त हूँ—आध्यात्मिक अर्थ में, मानसिक अर्थ में, भावना के अर्थ में। वह किसी भी प्रकार बचाकर नहीं रख सकते। है न ?

एक बार मेरी गुरुदेव से लड़ाई हो गई। कभी-कभी हमारी लड़ाई होती थी, प्रेमियों की भाँति। और मैं सचमुच उन्हें छोड़ कर जाने की सोच रहा था और उन्हें अवश्य ही इस बात का पता लग गया होगा। यह वसन्त के दौरान हुआ था। वह तीन दिन से बिस्तर में लेटे थे और बाहर नहीं आये। मैं भी उनके पास नहीं गया, दूर ही दूर रहा और वह भी बाहर नहीं आये।। फिर भी जाने के पहले, मैंने सोचा उनसे मिल तो आऊँ। सो, मैं गया। वह लेटे हुए थे। बड़े दुःखी लग रहे थे, उनके शरीर की हर रेखा में जैसे पीड़ा दिखाई दे रही थी। मैं उनके बिस्तर के किनारे बैठ गया और अपनी बाहें उनकी छाती के इर्द-गिर्द डाल कर बोला "बाबूजी डरिये मत मैं आपको नहीं छोड़ूँगा।" उन्होंने एक दम मुझे बाहों में ले लिया और बोले "मुझे पता है।" फिर मैं उनसे बोला "अगर मैं आपको छोड़ कर जाना भी चाहूँ तो नहीं जा सकता" उन्होंने कहा "कैसे ?" तो मैंने कहा "जहाँ भी मैं जाना चाहूँ, आप तो वहाँ मौजूद होते हैं। क्या संसार में कोई ऐसी जगह है जहाँ आप नहीं हो, तो फिर मैं आपसे कैसे भाग सकता हूँ ?" वह अत्यधिक प्रसन्न हो गये।

दन्त- रहित मुसकुराहट उनके चेहरे पर आ गई, आँखें पुनः चमक उठीं और चेहरे पर रौनक आ गई। वे तुरन्त उठकर बैठ गये "मैं चाहता हूँ कि लोग ऐसे सोचें, यही वास्तविकता है।" उन्होंने पुनः मुझे अपनी बाहों में भर लिया। हमारी लड़ाई समाप्त हो गई और दोस्ती हो गई। मैं हृदय में खुशी व उमंग लिये वहाँ से गया। और मुझे विश्वास है कि मैंने उनके हृदय में भी वही खुशी और उमंग छोड़ी। पर अगर आप इस बारे में बात करें और लोग ध्यान, सफाई आदि सब बन्द कर दें बिना गुरुदेव को उस भाव में अपना बनाए कि वह मेरे हैं, तो हमें कुछ नहीं मिलेगा। मेरे विचार में मैंने यही कहा था शायद वेल्स या आयरलैंड या मोन्ट्रियल में मुझे याद नहीं—यह सब तो हममें वह भाव भरने के लिये अनुशासन है।

प्रश्न—(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—आयरलैंड में ?

प्रश्न—वेल्स।

उत्तर—वेल्स।

केवल साधना मात्र से वैसे कोई लाभ नहीं है। अन्यथा, एक बार साधना आरम्भ करने के बाद हमें गुरु की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। है न ? मैं इन चीजों के विषय में काफी विचार करता रहा हूँ। कभी कुछ समझ में आता है और कभी-कभी बेवकूफी मालूम होती है। ठीक है—दोनों ५०-५० प्रतिशत हैं।

प्रश्न—मेरे विचार में यह एक अर्थ में आकाश के भाव की भाँति है जैसे कि रूसी गुड़िया।

उत्तर—हाँ।

यही मैं कहता हूँ कि इसमें यह सारी अन्तर्हित परस्पर विरोधी बातें हैं। एक तो यह की वह पहले से ही तुम्हारा है और दूसरा यह कि तुम्हें उसे पाना है। है न ? पहला कि तुम जो हो वह हो क्योंकि तुम तो सदा से शाश्वत काल से वही हो, दूसरा कि तुम्हें बढ़ कर वह बनना है। अब यह परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। अब किसी भाँति अन्तर्दृष्टि से हम यह देखते हैं और टुकड़ों में बँट जाते हैं भूत और भविष्य में। इस प्रकार की धारणायें हमारे लिये यह समस्या पैदा कर देती हैं कि जो मैं इस समय कर रहा हूँ उसका असर भविष्य पर होगा। अब अगर भविष्य यहाँ पर है तो भूत का यहाँ क्या काम ? वह यहाँ नहीं हो सकता। यहाँ पर अभी तो केवल 'अभी' ही हो सकता है, और कुछ नहीं। है न ? इसको भारतीय दार्शनिक कहते हैं

"शाश्वत वर्तमान में रहना।" भूत या भविष्य जैसी कोई चीज नहीं। और वास्तव में तुम केवल वर्तमान में हो। भूत हमारे लिये केवल यादें ला सकता है और भविष्य केवल आशाएं। वह दोनों हमारे जीवन को हमारे लिये बिगाड़ती हैं। वह हमारे प्रयत्नों को प्रभावित करती हैं, हमारी वृत्तियों को प्रभावित करती हैं, वे हमारी मौलिकता और प्रतिभा को बाधित करती हैं "ओह कल मैंने यह किया था और असफल हो गया था, अगर मैं पुनः असफल रहा तो ?" अब यह आदमी स्वयं से ही बातें कर रहा है। यह भविष्य और भूत की धारणायें हमारे लिये बड़े उपद्रव खड़ा कर देती हैं।

प्रश्न—बहुत देर हो चुकी।

उत्तर—हाँ।

(टेप टूटा है)

'अनन्त की ओर', पुराने संस्करण में एक गलती है जिसे बाबूजी के समय में उनकी रजामन्दी से अन्तिम संस्करण में मैंने ठीक किया था। जब मैं पुस्तक को मद्रास में दुबारा छपवा रहा था तो मैंने यह गलती देखी और मैंने वह तस्वीर उसमें नहीं छापी क्योंकि वह गलत थी। उन्होंने क्या किया था कि पहले बिन्दु के अ और ब भागों को, दो अलग बिन्दु माना था और उन्होंने १३ बिन्दुओं के विषय में लिखा था, परन्तु यह दोनों वास्तव में एक ही बिन्दु हैं। सो अनन्त की ओर में एक बिन्दु गायब है।

फिर जब मैं शाहजहाँपुर गया उस समय बाबूजी के घर में कई लोग थे उनके साथ। अचानक उनमें से एक ने हिन्दी में कहा "बाबूजी यह आपकी पुस्तकों के साथ हेर-फेर कर रहा है।" बाबूजी काफी परेशान हो गये और बोले "यह तुम क्या कर रहे थे ?" मुझे याद भी नहीं था। अचानक मेरी समझ में आया और मैंने कहा ' अनन्त की ओर' में मैंने इसे बदला है। मैंने मूलपाठ में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है। केवल 'बिन्दु' के साथ एक शब्द 'उप' जोड़कर 'उप-बिन्दु कर दिया है ; बिन्दु एक का उपबिन्दु १ और उपबिन्दु २। फिर मैंने कहा "क्या कोई मुझे पहले संस्करण की एक प्रतिलिपि और नए संस्करण की प्रतिलिपि ला देगा ?" वह ले आये और मैंने बाबूजी को पढ़कर सुनाया। और आपको पता है वह डायस पर ऐसे बैठे थे, उठ खड़े हुए थोड़ा चले और फिर जाकर बैठ गये। बाकी सब भौंचक्के से रह गये। वह मुझे इसके लिये फाँसी पर लटकाने को तैयार थे ; यह शायद १९७७ या ७८ की बात है, जब यह विरोधी गतिविधियाँ 'ब' और अन्य लोगों द्वारा आरम्भ की गई थीं। उन्होंने कहा "यह आश्चर्य है ; तुम ने तो

मेरे कार्य पर अनुसंधान कर दिया है।'' मैंने कहा ''इतना भव्य तो कुछ भी नहीं है, मुझे एक बिन्दु कम लगा और——'' उन्होंने कहा ''बहुत अच्छे, इसको मैं मौलिक चिन्तन कहता हूँ।'' और फिर उन्होंने कुछ ऐसा कहा कि सब शर्मिन्दा हो गये। वह बोले ''लोग २० वर्ष से यह पुस्तक पढ़ रहे हैं किसी ने भी यह गलती नहीं पकड़ी।'' (हास्य) मैं अत्यधिक प्रसन्न हुआ और गर्व से मोर की तरह फूल गया (हास्य)। मैंने कहा ''बाबूजी इसका यहीं अन्त नहीं है।'' वह बोले ''क्या ?'' मैंने कहा आपकी तस्वीर में एक बिन्दु नहीं है। अ और ब तो एक बिन्दु है। आपने बड़े मजे से तस्वीर में एक बिन्दु डालना छोड़ दिया है। वह कहाँ है ? ''तुम विचार करो।'' मैंने कहा ''गुरु तो आप हैं।'' वह बोले ''ठीक है, परन्तु तुम भी इसके ऊपर विचार करो।'' अगले दिन जब हम उनकी कुटिया में मिले तो उन्होंने पूछा ''क्या तुमने वह बिन्दु खोजा ?'' मैंने कहा ''नहीं खोजा तो नहीं है पर मैं जो अनुभव कर रहा हूँ वह बता सकता हूँ।'' और मैंने वह बिन्दु दिखा दिया। वह बोले ''यह बिल्कुल ठीक है।''

तो मैंने पूरी ड्राइंग को मिटा कर वह बिन्दु जो नहीं था उसका स्थान बता दिया। और इसी कारण 'राजयोग की प्रभावोत्पादकता' और 'अनन्त की ओर' में यह गड़बड़ है।

प्रश्न—नहीं—(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—वह नहीं, तो फिर क्या ?

प्रश्न—चूँकि मैं यह हृदय और दिमाग वगैरह के बारे में या हृदय क्षेत्र, केन्द्र आदि के बारे में नहीं जानता इसलिये....

उत्तर—ओह यह तो बहुत सरल है। मुझे कागज व पेंसिल देना। बहुत बड़ा जैसे बच्चे बनाते हैं। पहला बिन्दु यहाँ है, दूसरा तीसरा चौथा आदि इस तरह प्रगति करता है। पाँचवें बिन्दु को हम नहीं छूते, प्लेग की तरह बचा जाते हैं, और यहाँ से हम छठें पर चले जाते हैं और इसके बाद मन का क्षेत्र आरम्भ होता है। अब यह आत्मा का बिन्दु है और यह अग्नि, जल और वायु के बिन्दु हैं और इन सब से मिल कर हृदय क्षेत्र बनता है। और जब तक हम इसे पार नहीं कर जाते तब तक हम जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं होते। मुक्ति केवल तब प्राप्त होती है जब हम मन के क्षेत्र में कदम रखते हैं। अब तुम सिर के ऊपर देखो तो यहाँ से मन का क्षेत्र आरम्भ होता है और फिर यहाँ—(औक्सीपिटल) पश्चकपाल उभराव में। यह मन का क्षेत्र माना जाता है और यह ब्रम्हांडीय परा-मन और यह केन्द्रीय क्षेत्र है। सो,

प्रगति इस भाँति यहाँ से पीछे, नीचे की ओर जाती है और यह बिन्दु यहाँ समाप्त होता है। ऐसे ऊपर जाते हुए। सो, तीन प्रमुख क्षेत्र हैं। और यह सहस्र दल कमल है जिसे सहस्रात्रार कहते हैं और परम्परागत योग यहाँ समाप्त हो जाता है। यह बाद की चीजें मेरे गुरुदेव का अनुसंधान है।

प्रश्न—धन्यवाद, यहाँ पर मुझे समझने में गड़बड़ हो रही थी।

उत्तर—यह वह बिन्दु था जो मेरे गुरुदेव ने छोड़ दिया था और इसको मैंने बदल दिया जिसके कारण इतना बखेड़ा हुआ और अन्त में मुझे शाबाशी मिली। मेरे विचार में उस दिन वह सचमुच बहुत प्रसन्न थे। और समय भी वह प्रसन्न होते थे। पर उस दिन वह इस बात पर अत्यधिक प्रसन्न हुए होंगे कि किसी ने उनके काम में—गलती तो निकाली। मेरा मतलब है कि जब आप गुरु के कार्य में कुछ गलती ढूँढ लेते हैं तो इसका अर्थ है एक प्रकार का बौद्धिक अहंकार ! (हास्य)

प्रश्न—आपका विशेषाधिकार।

उत्तर—नहीं विशेषाधिकार नहीं। परन्तु जब बेटा बाप के काम में कुछ गलती ढूँढ लेता है तो बाप प्रसन्न होता है। जैसे "पिताजी आपको यह ऐसे नहीं करना चाहिए।" एक तरफ तो उसे थोड़ी चोट भी लगती है परन्तु दूसरी ओर प्रसन्न भी होता है कि मेरा बेटा मेरी गलती ढूँढने लायक हो गया है।

प्रश्न—बहुत-बहुत धन्यवाद।

उत्तर—मेरे विचार में हम सब को थोड़ा घूमने चलना चाहिए।

आध्यात्मिक शराब

हम लोग डेनमार्क, इंगलैंड समेत पूरा योरोप घूमकर अमरीका गये थे फिर वहाँ से डेनमार्क वापस आए। हम डेनमार्क से जर्मनी जाने के लिए हवाई जहाज की प्रतीक्षा कर रहे थे और विदा-कक्ष में केवल हम दोनों बैठे थे—उन दिनों केवल हम दो ही होते थे। बाबूजी ने पूछा ''क्या तुम खाली हो ?'' मैंने कहा ''हाँ।'' उन्होंने कहा ''ध्यान में बैठो।'' वह मेरे सामने बैठे थे। मैं आँखें बन्दकर के ध्यान के लिये अपने को तैयार कर ही रहा था कि उन्होंने कहा ''बस करो।'' केवल ४५ सेकण्ड गुजरे थे। लेकिन वह एक अद्भुत सिटिंग थी। उन्होंने मुझसे तीन साल बाद कहा ''तुम्हें याद है मैंने तुम्हें वह सिटिंग थी ?'' वह कहते थे उन्हें कुछ याद नहीं रहता था। ''कोपेनहेगन में मैंने तुम्हें ४५ सेकेंड की सिटिंग थी, तुम्हें याद है ? उसकी स्थिति अब खुल रही है।''

फिर मेरे विचार में शायद कस्तूरी ने पूछा ''उस सिटिंग का क्या महत्व था ? उन्होंने कहा ''ऐसी सिटिंग मैंने किसी को नहीं दी और न दूँगा।'' कस्तूरी ने कहा ''हाँ ठीक है, परन्तु उसका रहस्य क्या है ?'' तो उन्होंने उत्तर दिया ''मैंने अपनी दशा इसको दी थी।'' अब यह दूसरी प्राणाहुति क्या है ? लोग कहते हैं, ''मुझे प्राणाहुति मिली बाबूजी मेरे हृदय में हैं।'' एक तो अपनी दौलत देने की भाँति है और दूसरी अपने आप को देने की भाँति है। सहज मार्ग में अकल्पनीय स्तर हैं। मेरे विचार में कोई यह नहीं जान पाया कि वे हैं भी, स्तरों के विषय में तो भूल ही जाओ। और हम सभी बड़ी आसानी से यह कहते रहते हैं कि हमने बाबूजी को देखा, सुना या स्वागत किया। कई बार यह किस्से सुन कर मेरा जी मिचला उठता है। मैं उन वक्तव्यों की सत्यता को नहीं नकार रहा परन्तु यह एक निचले स्तर के अनुभव हैं ; जिसे हम कह सकते हैं कि जमीन आसमान का फर्क है। वास्तविक अनुभव और यह सब....यद्यपि यह अनुभव भी काल्पनिक नहीं है, अपनी तरह से यह भी वास्तविक हैं परन्तु एक निचले स्तर की वास्तविकता। और अगर हम इस प्रकार के सत्य के साक्षात्तकार से संतुष्ट हो जाते है, तो हमारा रास्ता रुक जाता है। संतोष स्वयं ही प्रगति में

रुकावट है। इसलिये बाबूजी कहते थे हमें सदैव बेचैन रहना चाहिए, यह संतोष कभी नहीं होना चाहिये कि "हाँ मैंने पा लिया।

तो आगे, और आगे, और आगे जाने के लिए बेचैनी, उस बेचैनी, आन्तरिक बेचैनी की आवश्यकता है जिसे बाबूजी तड़प कहते थे। लेकिन वह होती नहीं। हम आराम करना चाहते हैं। हाँ ! आज मैंने प्राप्त कर लिया है, मैंने बाबूजी महाराज का दर्शन पा लिया है, वह मेरे घर में हैं।" कोई आराम नहीं, समझे ? अब कठिनाई यह है कि पुस्तकें हमें इस विषय पर इतना ही ज्ञान देती हैं। मेरा मतलब है, आप कितना लिख सकते हैं ? और अगर आप लिख भी लें तो उसमें भिन्न-भिन्न स्तर हैं। से क्या पता चलता है ? आप कहेंगे "चारी हरएक चीज में स्तर होते हैं, उच्च और निम्न, ऊपर, नीचे। उनसे कुछ भी नहीं पता चलता। परन्तु बाबूजी हमें विभिन्न स्तरों का अनुभव दे सकते थे जो एक ही समय में सब कुछ ध्वस्त करके हमारे अस्तव्यस्त वैयक्तिक अस्तित्व में से उस श्रेष्ठ एकत्व का निर्माण भी कर देते थे जो उस समय के लिये परिपूर्ण तो होता ही है साथ ही अगले स्तर के लिये आधार भी तैयार कर देता था। आश्चर्यजनक ! इस पर विश्वास करने के लिये अनुभव करना पड़ेगा। मुझे आशा है कि कोई ऐसा करने में किसी दिन समर्थ होगा। मेरा मतलब है कि वह दे सकेगा और ले भी सकेगा।

मैंने बाबूजी से पूछा था "यह कौन-सी तड़प है जो आप कहते हैं कि सदैव बनी रहनी चाहिये ?" उन्होंने कहा "बहुत मोटे स्तर पर यह एक शराबी की तलब की भाँति है।" वह एक और गिलास, रास्ते के लिये। थोड़ी सी और या जरा सी और। यह सर्वाधिक मोटे स्तर की, नीचे किस्म की बात है परन्तु यह एक उदाहरण भर है। बाबूजी साकी-शराब का उदाहरण देते थे। सूफियों में यह शराब व प्याले की चर्चा है—एक प्रतीक, परन्तु लोग सोचते हैं कि यह सब पियक्कड़ों ने लिखा है। बिलकुल नहीं। वे सब गुरुजन थे। उन्होंने यह नशे का उदाहरण दिया है, परन्तु वह आध्यात्मिक नशा है जो वस्तुतः प्राणाहुति है। उर्दू में एक शेर भी है—

पीना हराम है न पिलाना हराम है।
पीने के बाद होश में आना हराम है।। (मुसकुराते हैं)

अब इसका क्या अर्थ है ? यह नहीं कि हम पीकर कहीं सड़क पर पड़े हों। इसका आशय यह है कि आध्यात्मिक शराब के नशे में जब हम रंग जायें तो उससे बाहर न निकलें। अब यहाँ क्या होता है ? हम ध्यान करते हैं और

Absorbance

इस स्थिति में आ जाते हैं, और ध्यान के कुछ ही क्षणों बाद हम ट्रेन के टिकटों, बस के टिकटों, खाने-पीने का प्रबन्ध करने के चक्कर में इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगते हैं और सब कुछ नष्ट हो जाता है। वह भी करना होता है, परन्तु सब को नहीं। अब आप में से दो ने यह उत्तरदायित्व लिया है, उन्हीं को यह काम करना है और गुरुदेव आपकी स्थिति को नष्ट होने से बचाकर यथावत बनाये रखते हैं। परन्तु जो यहाँ बैठे हैं वह इधर-उधर की राजनीति की बातें करते हैं। जो अपने कर्तव्य के लिये व्यस्त हैं उसमें कोई हानि नहीं, परन्तु और लोग जो केवल सूप के बारे में (2) सोच रहे हैं उनका क्या.. । इसी कारण बाबूजी सदैव कहते थे कि ध्यान के बाद कुछ मिनटों के लिये चुपचाप बैठो और अपनी स्थिति पर विचार (3) करो—उसे अपना बनाओ। फिर आप अपनी स्थिति को पढ़ सकते हैं। "मैंने जो अनुभव किया वह क्या है ?" एक बार आप इसे समझ भर जायें, फिर तो आप और गहराई में जाना चाहेंगे।

People talk very much after meditation.

Master's leash already need by B.N.M. - to remain silent. (A)

(A) 1. Remain silent.
2. Control your thought and speech.
3. Maintain condition achieved in meditation. A stage will come that condition will be yours throughout the day. .. day all along.

23.8.94.

अपरिवर्तनशील की तलाश

बाबूजी एक पक्ष पर बहुत जोर देते थे कि अधिकतर लोग स्वयं अपनी सहायता भी नही कर सकते। अगर आप अपनी सहायता भी नहीं कर सकते तो दूसरों की क्या सहायता करेंगे ? मेरे विचार में कुछ भी नहीं। और कुछ लोग तो ईश्वर की भी सहायता करना चाहते हैं। अपेक्षाकृत रूप से यह एक आधुनिक बीमारी है "मैं प्रभु का काम कर रहा हूँ।" यह अहंकार का चरम बिन्दु ही नहीं वरन् एक भ्रमपूर्ण अस्तित्व भी है कि हम ईश्वर की सहायता कर सकते हैं। बाबूजी कहा करते थे कि सबसे पहले अपनी सहायता तो करना सीखो। वह बनो जो तुम्हें बनना ही चाहिए। क्योंकि विकास का नियम एक सामूहिक विकास की बात नहीं करता, वर न् व्यक्तिगत विकास की बात करता है—मेरा मतलब आध्यात्मिक विकास से है, न कि विकास की पाश्चात्य धारणा से है। यह खेती- बाड़ी की भाँति है। जब आप अपने बाग में टमाटर के पौधे लगाते हैं तब हरएक पौधे को अलग-अलग बढ़ना पड़ता है। ऐसा नहीं कि वे सब एकसाथ एक रहस्यात्मक रूप से बढ़ते हैं और सब एकसाथ टमाटर दे रहे हैं। हरएक पौधे को अलग-अलग अच्छी तरह बढ़ना है, ताकि वह बीमारी के शिकार न हों, उन्हें भोजन प्राप्त हो और हरएक फल दे। यह व्यक्तिगत है। अत : आश्चर्यजनक रूप से अस्तित्व का पहला नियम यह है कि हम अस्तित्व के उस स्तर पर पहुँचें जो नियमतः होना चाहिये। तुम वह बनो जो तुम्हें होना चाहिए। फिर यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि हम दूसरों की सही दिशा में सहायता करें। अगर आप शिक्षित नहीं हैं तो आप दूसरे को शिक्षा कैसे दे सकते हैं ? पहले तुम वह बनो ; जैसे तुम मनोचिकित्सा सीखने का प्रयत्न कर रहे हो ताकि तुम, जो बीमार हैं, उनकी सहायता कर सको। अतः यह पाश्चात्य धारणा कि आत्म विकास की बात स्वार्थपूर्ण है, कुछ गन्दी है। यह मूर्खतापूर्ण ही नहीं भद्दी भी है। जैसे कि हम गन्दे हैं और दूसरे साफ हैं। यह कि हम अपने को बिलकुल मिटा डालना चाहते हैं, दूसरों के प्रति हमारी सेवा- भावना के बजाय अत्यधिक आत्मकेन्द्रित होना दर्शाता है। कोई भी मनुष्य जिसमें थोड़ी भी जानकारी है न तो स्वयं को मिटाना चाहता है न ही

स्वयं को प्रदर्शित करना चाहता है। वह जो है सो है।

कल्पना करिये अगर एक मोमबत्ती यह कहे कि "नहीं-नहीं मुझे शरम आती है, मैं अपनी रोशनी छुपाना चाहती हूँ" अब मोमबत्ती अगर रोशनी देने के लिये नहीं है तो किस लिए है ? अब एक शिक्षक शिक्षा देने के लिए नहीं है तो किस लिए है ? और डाक्टर अगर दवा करने के लिए नहीं तो किस लिए डाक्टर है ? कम से कम ठीक करने की कोशिश तो करे ही। "नहीं-नहीं मुझे लोगों की सहायता करने में शरम आती है।" अतः विकास का नियम कहता है "जो तुम्हें बनना चाहिए वह बनो" फिर तुम उन लोगों की सहायता करने की स्थिति में हो सकते हो, जिनको सहायता की आवश्यकता है। नहीं तो हम एक कमजोर तरीके पर निर्भर होते हैं—प्रार्थना। बेशक प्रार्थना बहुत लाभकारी है, परन्तु एक कमजोर व्यक्ति की प्रार्थना ? जो स्वयं अपनी सहायता भी नहीं कर सकता। जब एक गुरु प्रार्थना करता है तो वह ईश्वर से एक ऐसी माँग के समान है जिसे ईश्वर नकार नहीं सकता। उसमें यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि शायद वह उत्तर देगा, कभी वह उत्तर देगा आदि-आदि।

सो उस स्थिति में चाहे प्रार्थना के माध्यम से या चाहे दूसरों के जीवन में सीधे हस्तक्षेप द्वारा, दोनों भाँति आप उनकी सहायता कर सकते हैं। यह दुधारी क्षमता आप में पैदा हो जाती है। जब हम कमजोर होते हैं तो न हम अपनी ही सहायता और न दूसरों की सहायता कर सकते हैं। न ही हम स्थिर और भक्तिपूर्ण दृढ़ भाव से प्रार्थना कर सकते हैं जो ईश्वर का ध्यान आकर्षित कर सके। तो जब हम कमजोर होते हैं तो हम कर क्या सकते हैं ? हम बेकार होते हैं।

सो पहली तड़प तो स्वयं के लिये होनी चाहिए। आपने पढ़ा भी होगा और सुना भी होगा, मैंने कई बार इस बात पर जोर दिया है कि जब गुरु हमें उच्चतम आध्यात्मिक प्रगति व शक्ति से मालोमाल करते हैं तो वह केवल हमारी आत्मोन्नति के लिये नहीं है, वरन बाइबिल की भाषा में स्वर्ग के राज्य की छत को और अधिकाधिक खम्भे लगाकर उठाने और फैलाने के लिए करते हैं ताकि वह सभाभवन और बड़ा हो सके और उसमें और लोग समा सकें। अपनी व्यक्तिगत प्रगति के लिये हमारा यहाँ एकत्र होना और कुछ नहीं बल्कि पूरी मनुष्यजाति की समग्र प्रगति का एक अंग मात्र है।

अगर तुम विकसित नहीं होते हो तो तुम उस विकास के उद्देश्य के विपरीत जा रहे हो। अब तुम अपने विकास को नकार कर औरों का

विकास नहीं पा सकते, यह कहते हुए कि यह स्वार्थी है और तुम पर-चिन्तक हो और केवल दूसरों के विषय में सोचते हो। यह विकास को देखने का एक अजीब पाश्चात्य नजरिया है। नहीं-नहीं, मैं स्वार्थी कैसे हो सकता हूँ ? मैं क्यों विकसित होऊँ ? आप खाते क्यों हैं ? "मुझे मर जाने दो।" जो जीवन अपने विकास और अपनी पूर्णता के लिये समर्पित न हो, उस जीवन के कायम रहने का क्या औचित्य है ? उससे किस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है ? यह एक शरमीले टमाटर के पौधे जैसा है जो कहता है "नहीं नहीं मैं औरों की भाँति विकसित नहीं होऊँगा।" तुम उसे तोड़ कर फेंक दोगे, है न ? अपने विषय में किसी चिन्ता से रहित केवल दूसरों के लिए की जाने वाली चिन्ता कितनी भ्रामक है यह आप समझ सकते हैं। मेरे विचार में यह हमारी उस आन्तरिक कमजोरी को दर्शाती है जिसके कारण हम स्वयं अपना सामना नहीं कर सकते।

केवल एक मजबूत व्यक्ति ही अपनी कमियों का सामना कर सकता है। मेरा मतलब है यह एक प्रतिपक्षी विचार जैसा है कि एक मजबूत इन्सान कमजोर तो हो सकता है, परन्तु उसकी शक्ति उसकी कमजोरी भी हो सकती है। है न ? जैसे बाबूजी महाराज जैसे गुरु की सरलता। उनकी सरलता क्या थी ? यह कि उनमें कोई ताकत नहीं थी ; कोई आर्थिक ताकत नहीं, कोई बौद्धिक ताकत नहीं, कोई शारीरिक ताकत नहीं। उनके पास क्या ताकत थी। अपने गुरु में विश्वास की ताकत। वह काफी थी। वही उनका पूर्ण सहारा थी। यह एक ऐसा स्तम्भ था जो उनके पूरे अस्तित्व का सहारा था। अब हम इतनी तरह की शक्तियों पर निर्भर रहते हैं। है न ? इसी कारण हमें शक्ति के विभिन्न कवचों की आवश्यकता होती है ; मैं मानसिक रूप से शक्तिशाली होऊँ, मैं बौद्धिक रूप से शक्तिशाली होऊँ, नैतिक रूप से शक्तिशाली, शारीरिक रूप से शक्तिशाली, आर्थिक रूप से शक्तिशाली। इनमें से अगर कुछ भी फेल हो जाए तो जो महल मैंने इतनी कठिनाई से बनाया है वह ढह जाता है। जो चीज इस पूरे अस्तित्व को थामने के लिए चाहिए, विश्वास का स्तम्भ—बस वही नहीं होता। क्योंकि मैं सदैव ' अपने' ऊपर निर्भर रहा। मुझे अपने में विश्वास था, और जब वह फेल हो जाता है तो उस 'अपने का नाश हो जाता है। नरक में हमें कोई और नहीं ढकेलता ; हमीं स्वयं को उसमें ढकेलते हैं।

वह अकेला हथियार, व स्तम्भ जो मुझे यहाँ और दूसरे जगत में भी मेरी पूरी नियति को सहारा दे सकता है, वह है **उसमें** विश्वास : यह कि **वह**

पूरी मानवता की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है। न केवल मानवता बल्कि जानवरों के राज्य की, धातु राज्य की, पूरे ब्रम्हाण्ड की आवश्यकता पूरी करने में समर्थ है। हम कौन हैं सोचने वाले कि हम दूसरों की भलाई की चिन्ता भी कर सकते हैं ? यह एक आन्तरिक कमजोरी है जिसका संतुलन हम आध्यात्मिक अहंकार से करते हैं कि अपने बजाय दूसरों की सहायता करना चाहूँगा "मेरी मानवता के प्रति इतनी गहरी चिन्ता है चारी ! कि मुझे अपनी परवाह नहीं।" जो अपनी देखभाल नहीं कर सकता वह दूसरों की देखभाल के योग्य नहीं हो सकता।

यह उस सर्जन की भाँति है जो अपने आप को अच्छी तरह धोता और साफ करता है इसलिए नहीं कि वह खुद को मरीजों के कीटाणुओं से बचा सके, परन्तु इसलिये कि उसको अगले मरीज के लिए जीवित रहना है। मैं जीता हूँ—पर अपने लिए नहीं बल्कि तुम्हारे लिये। जो दूसरों की शिक्षा के लिए, दूसरों की सहायता के लिए अखाड़े में कूद पड़ा है उसका यही सिद्धान्त होना चाहिए। मैं जीवित हूँ—अपने लिये नहीं परन्तु तुम्हारे लिए। और तुम्हारे लिये जीवित रहने के लिए मुझे इस प्रकार रहना है कि मैं तुम्हारी सहायता करूँ, तुम्हारा सहारा बनूँ। इसलिए पहला नियम यह है कि इससे पहले कि मैं तुम्हें उस स्तर तक उठा सकूँ मुझे **वह** बनना है। है न ? तो समस्या क्या है ? मुझे तो तड़प में कोई समस्या दिखाई नहीं देती। मेरे जीवन का पहला उद्देश्य मैं हूँ फिर अन्य। जैसे एक ईंट अपने आप में पक्की व मजबूत होनी चाहिए ताकि वह केवल ईंट के रूप में न रह जाय, उसे एक मकान का हिस्सा बनना है। वह मजबूत होगी तो मकान मजबूत होगा। नहीं तो वह मिट्टी के रूप में जमीन पर ही रहे—उसका ईंट होने का कोई अर्थ नहीं। मैं अधिकाधिक इस भाव से को लेकर चिंतित रहा। शुरु-शुरु में मैं भी स्वयं अपनी प्रगति के विचार से ही ग्रस्त रहा। यह मुश्किल से ६-८ महीने तक चला। मैं भी औरों की भाँति भेंड़-चाल में था और आत्म प्रगति, केन्द्रीय क्षेत्र आदि की बातें करता था। मैं भी सब के साथ दौड़ रहा था। परन्तु शीघ्र ही मैं उस से हट गया, मैंने कहा "यह सब किसलिए है ? मेरी आध्यात्मिक उन्नति से ईश्वर को या उसके ब्रम्हाण्ड विषयक उद्देश्य में क्या फरक पड़ता है। है न ? अगर मेरा हृदय ठीक है तो मेरे लिए, खाली हृदय के लिये नहीं ; अगर मेरा जिगर ठीक है तो जिगर के लिए नहीं, परन्तु मेरे लिए। इसी प्रकार मेरे अस्तित्व का अर्थ सनग्र अस्तित्व से जुड़ा है। एक इकाई के रूप में मेरा अस्तित्व किसी बड़े पूर्ण

अस्तित्व का हिस्सा होगा जहाँ मेरा कोई उद्देश्य है, जिसमें मैं भी भाग लेता हूँ। और अगर मैं उसके योग्य नहीं तो शायद प्रकृति मुझे अस्वीकार कर देगी एक बेकार बाँह की भाँति। अगर आप विकास का इतिहास पढ़ें तो वह अति रोचक है, क्यों कई चीजें विकसित हुई और कई समाप्त हो गईं। अब हो सकता है एक डायनासार बहुत बड़ा और सुन्दर हो, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, परन्तु पूरी योजना में उसका क्या उद्देश्य था जिसकी उसने पूर्ति की ? यह उस पहेली की भाँति है, जिसका एक टुकड़ा गायब हो। उसमें आप पड़ोसी के बच्चे के खिलौने का टुकड़ा उठाकर नहीं डाल सकते। वह दूसरा ही खिलौना है। आप कहें "नहीं नहीं यह सुन्दर टुकड़ा है मैंने इस सेट पर २० पाउण्ड खर्च किया था।" ठीक है। पर आपका मित्र कहेगा "यह टुकड़ा मेरे खेल में सही नहीं बैठता।" यह एक अलग टुकड़ा है।

अपने अस्तित्व के बारे में हमारी ब्रम्हण्डीय धारणा अवश्य होनी चाहिये। प्रगति की जो धारा अब तक प्रवाहित रही है मैं उसका निचोड़ हूँ। यह माना कि मानव सर्वोच्च है। परन्तु केवल अपने आप में नहीं। यह गलती पाश्चात्य सभ्यता ने की है और सारे संसार पर थोप दी है। यह सोचना कि प्रगति के इस स्तर तक पहुँच कर हमने यह अधिकार पा लिया है कि हम सारे संसार के साथ बलात्कार कर सकें। नहीं, हमें वह अधिकार नहीं है। इसके विपरीत हमें एक अमानत सहेजकर रखने का उत्तरदायित्व मिल गया है। चूँकि तुम में आवश्यक बुद्धि है, शक्ति है, आवश्यक ज्ञान है "तुम मेरे द्वारा रचित शेष जीवधारियों के लिए मेरे बम्हाण्ड की रक्षा करो।" परन्तु हम चारों ओर बलात्कार करते हुए-उस सृष्टि को नष्ट करते हुए, गन्दा करते हुए, भ्रष्ट करते जा रहे हैं। क्या हम उस विकासोन्मुख उद्देश्य को पूरा कर रहे हैं ? मुझे आश्चर्य नहीं होगा अगर वह बुद्धिमान ईश्वर इस सारी मानव जाति को नष्ट कर दे और कहे कि विकास की यह धारा बकवास है—अब मैं डालफिन मछलियों को आगे बढ़ाऊँगा।" वह जो चाहे कर सकता है। हमने अपना निर्माण स्वयं नहीं किया था। विकास की पाश्चात्य धारणा भी यह नहीं कहती कि हमने अपना निर्माण स्वयं किया और उसे सम्पूर्ण बनाया। करोड़ों वर्ष पूर्व जो प्रारम्भिक बूँद थी उस से रहस्यात्मक ढंग से हमारा वर्तमान स्थिति तक विकास हुआ है। हम जो कुछ भी हैं उसमें हमारा कोई हाथ नहीं। है न ? तो फिर हम अधिकारों की क्या बात करते हैं ?

अगर मुझे विकास करते जाना है तो जैसी विकास की धारा अन्त तक नियोजित की गई है मुझे उसी के अन्दर रहना है। नहीं तो दूसरी जातियों व जन-जातियों की भाँति इतिहास हमारे भी जीवाश्म ही देखेगा। प्लूटो, अरस्तू और आइन्स्टीन की पैदाइश के बावजूद, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं। आज से करोड़ों साल बाद कोई अन्य जाति हमारी जाति को जीवाश्म के रुप में ही पायेगी। "अरे ! यह दो पैर वाले जीव थे, इनमें बेजोड़ दिमागी क्षमता थी, फिर भी वे समाप्त हो गये।" और अनेक अन्दाज लगाये जायेंगे कि क्या हुआ, क्यों, कब ? मनुष्य जाति का यह सर्वाधिक दु:खद इतिहास होगा। यह सब केवल इस वजह से कि हम सोचते हैं कि हम लक्ष्य तक पहुँच गये हैं, हम स्वयं पहुँचे हैं और हमें दूसरे जीवों की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं, कि हमारा कोई अधिकार नहीं—-मेरा मतलब है कि आपका कोई अधिकार नहीं, उत्तरदायित्व नहीं, केवल जीवन का मजा और नम्रता का एक झूठा विचार जो कहता है कि "मुझे दूसरों की चिन्ता है" जब कि हमें केवल अपनी चिन्ता है। मेरा मतलब है कि अगर हम सच्चे हैं, अपने आप में सम्पूर्ण हैं, और अगर हम सचमुच वही हैं जो हम दिखाते हैं कि मैं एक प्रकार से अपनी परवाह नहीं करता तो मुझे चुपचाप सो जाना चाहिए। भारत में कई सन्तों ने यह किया है—वह खाना बन्द कर देते हैं, साँस लेना बन्द कर देते हैं यह एक अकल्पनीय संकल्प शक्ति है। कोई भी मूर्ख खाना बन्द कर सकता है, जब उसे खाने को न मिले। परन्तु अगर मैं साँस लेना बन्द करना चाहूँ ? यह असम्भव है। परन्तु सन्तों ने यह करके दिखाया है। उन्होंने कहा "मेरा अस्तित्व अर्थहीन है। जो कुछ भी मैं करने आया था वह मैंने कर लिया।" समाप्त। और वह चले गये। एक पूर्ण विकसित मानव का यह नियंत्रण है, न केवल जीवन पर बल्कि मृत्यु पर भी। इसी कारण भारत में भूत काल के ऐसे सन्तों को पूजा जाता है जो बिना किसी बाहरी दबाव के केवल अपनी इच्छा शक्ति से मर सकते थे। वह अपने मरने का समय चुनते थे ; लेटे और सो गये। वह मरते नहीं चले जाते हैं। जैसे कि आपने सब ओर अपने दरवाजों पर लिख रखा है—"निकास।" यह विकास का रहस्य है कि जब तक मानव इस संसार रूपी स्टेज से एक अभिनेता की भाँति काम समाप्त होने पर अपनी इच्छा से नहीं जा सकता तब तक वह अनन्त पुनर्जन्म के नियम से बँधा है—जब तक वह पूर्ण रुप से विकसित नहीं हो जाता।

तो डायनासॉर मरे नहीं हैं उनमें से कितने ही मानवों के रूप में पैदा हुए

हैं ; लम्बे, चौड़े २४० पाउंड के बियर पीने वाले, जिनका दिमाग उनके पेट में या उस से भी नीचे है। तुम उन्हें आज भी देखते हो वह प्रजापीड़क टायरौनस रेक्स है जो अपने अस्तित्व काल में जीव जगत का महासंहारक था वही आज मानव के रूप में लोगों को मारता हुआ, बलात्कार करता, बन्दूकों द्वारा ज्यादतियाँ करता हुआ हंगरफोर्ड है। वह गये नहीं। विकास के सिद्धान्त ने कहा "यह रूप बेकार है—इसे बदल डालो।" जैसे तुम चिकनी मिट्टी से आकृति बनाते हो। अपनी आन्तरिक सृजनात्मक प्रेरणा से तुम कुछ बनाते हो, वह ठीक नहीं बनता तो तुम उसे पुनः नया स्वरूप देते हो। मिट्टी वही है परन्तु रूप बदल जाता है। अन्त में वह सटीक बन जाता है और तुम उसे आग में पका कर अपने स्टूडियो में रखते हो। समझ में आया ? इसलिए तड़प हमारे स्वयं अपने लिये होनी चाचाहिए न कि औरों के लिए। किसी हास्यजनक तथाकथित परोपकारी उद्देश्य के लिये नहीं। हमें इस भव्य विश्वास के साथ जीवित रहना है कि मुझे विकास करना है ताकि मैं दूसरों के विकास में सहायता कर सकूँ। अगर मैं दूसरों की जान बचाना चाहता हूँ तो मुझे तैरना आना चाहिए। अगर कोई ३ फुट ६ इंच लम्बा व्यक्ति समुद्र के किनारे यह कहता हुआ घूमता है कि "मैं जान दचाने वाला हूँ" तो उसका क्या लाभ ? अगर वह लहरों का सामना कर के लोगों को डूबने से नहीं बचा सकता। है न ? बिना अपने आप जाने तुम दूसरों को कैसे सिखा सकते हो ? इतिहास के शिक्षक को इतिहास की जानकारी आवश्यक है, भूगोल के शिक्षक को भूगोल की। अगर तुम एक भिखारी हो तो राजा कैसे बन सकते हो ? एक राजा होने के नाते तुम औरों को न्याय, दया, धन-दौलत सब दे सकते हो, जो और कोई नहीं कर सकता। अन्तिम सिद्धान्त संस्कारों का है। अगर कोई दुःख भोगता है तो उसने वह दुःख अपने विचारों व कर्मों से आमंत्रित किया है। स्वर्ग में कोई ईश्वर नहीं है जो हमें सजा या इनाम दे रहा है। हिन्दू धर्म तक में यह एक अजीबोगरीब विचार है। यहाँ तो वही पुरानी कहानी लागू होती है "जिसने बिस्तर बिछाया है उसे ही उस पर सोना पड़ेगा।" न तो मैं कोई पापी हूँ, न ही मैं पुण्यात्मा हूँ। मैंने भूतकाल में कुछ किया है जिसने मुझे यह संस्कार दिया, जिसने जबरन मुझे इस जीवन की ओर ढकेला है। मुझे वह चक्र तोड़ना होगा। और एक गुरु आता है जो कहता है कि "मै यह सब मिटा कर तुम्हें नया जीवन दे सकता हूँ।" हाँ मैं समर्पित हूँ। अब यहाँ एक समस्या आती है। जीवन इतना अच्छा है, सुन्दर है, क्यों न मैं बियर भी पियूँ और बाद में

ध्यान के लिए भी बैठूं ? तो मैं संस्कारों को जीवित भी रखना चाहता हूँ और मिटाना भी चाहता हूँ। अब दोनों कैसे सम्भव है ? यहीं पर बलिदान का विचार आता है। परन्तु बलिदान गलत है। यह उस टेप को मिटाने की भाँति है जिसकी मुझे आवश्यकता नहीं और उसके स्थान पर बीथोवन का संगीत या उससे महानतर व पवित्र संगीत भर लेने की तरह है। क्या तुम थोड़ा सा यह और थोड़ा सा वह भर सकते हो ? थोड़ा सा चाय कीवस्की और थोड़ा सा वह उसका कोई अर्थ नहीं निकलेगा। तो जीवन को परिवर्तित करना होगा। बुरे के साथ अच्छे को भी जाना होगा। यहाँ स्नान-टब के पानी के साथ साथ हमें बच्चे को भी फेंकना पड़ेगा। समझे ?

तो जब हमारे सामने पूरे जीवन के तरीके को बदलने का प्रश्न आता है तो हमें अफसोस होने लगता है। जो कुछ थोड़ा हमें अच्छा लगता है हमें आकर्षक लगता है उसे हम सम्भाले रखना चाहते हैं। यह तो ऐसा है जैसे तुम घर साफ करना चाहते हो, तुम कुछ दान देना चाहते हो, कुछ गिरजाघर के मेले में देना चाहते हो। तो तुम वह सब एकत्र करते हो जिसकी तुम्हें आवश्यकता नहीं है। इतने में बच्चा आकर अपना पुराना खिलौना निकाल लेता है "नहीं नहीं माँ यह मुझे चाहिए" फिर पति आकर कहता है "यह तुम कैसे फेंक सकती हो यह मुझे चाहिए" और कुछ ही समय में तुम देखते हो कि ढेर में से केवल ३ चीजें रह गई हैं और सारा कबाड़ घर में वापस पहुँच गया है। तुम चीजों को फेंक नहीं पाते, यहाँ तक कि वह भालू वाला खिलौने पुराने खिलौने भालू वाले भी जिसकी एक बाँह नहीं, एक कान नहीं परन्तु बच्चा उसे छोड़ने को तैयार नहीं। तो ऐसी चीजें जिन्हें हम पसन्द करते हैं उन्हें कैसे फेंक सकते हैं ? है न ? इसलिए आप चाहते हैं थोड़ा सा यह और थोड़ा सा वह भी।

फिर यह समस्या आती है कि जो तुम्हारे पास है वह, जो तुमसे कहा गया है उससे अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। हाथ में आई एक चिड़िया झाड़ियों में मौजूद दो चिड़ियों से बेहतर है। यह सब से मूर्खतापूर्ण कहावत जो मैंने सुनी है "नहीं, नहीं चारी, जो भी मेरा जीवन है उसके विषय में मुझे पता है मुझे पक्का है। जो कुछ वह बुजुर्गवार कहते हैं मुझे उस पर अविश्वास तो नहीं है परन्तु क्या वह उतना अच्छा होगा जिसका वह वायदा करते हैं ? जो मैं छोड़ रहा हूँ उसकी जगह क्या वह ले सकेगा ?" कौन कह सकता है ? "अब यहीं गड़बड़ है।" देखा ? इस कारण हम हाथ की एक चिड़िया रखना पसन्द करते हैं न कि झाड़ियों में मौजूद दो चिड़ियां और

जिसके पास कुछ भी नहीं वह दो चिड़ियां लेकर चल देता है। वह कहता है "बेवकूफ, देखो मुझे दोनों मिल गई हैं।" इनमें से अधिकांश मूर्खतापूर्ण हैं। जैसे कि वह दूसरी कहावत जो मैंने कल कही थी कि "जल्दी उठने वाली चिड़िया ही कीड़े चुन पाती है।" पर वह इतना ही पकड़ पाती है।

अतः आत्म विकास को पूर्ण करने के सिलसिले में हम विकास के पूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। और इस प्रकार हम सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड के समग्र अभ्युदय में अपना योगदान करते हैं। पूरे सांसारिक विकास में पूरे ब्रम्हाण्ड की सारी चीजों के विकास की पूरी योजना के विकास-स्तर को उठाये बिना मैं अपना विकास नहीं कर सकता। यह असम्भव है। अगर तुम सागर में एक बूँद भी पानी डालो तो चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो वह पानी के स्तर को उस सीमा तक अवश्य बढ़ायेगा। केवल बोर्नमाउथ में ही नहीं जहाँ तुमने पानी का प्याला सागर में डाला है, बल्कि पूरे संसार में सागर का स्तर अवश्य बढ़ेगा। यह नियम है। तो मानवता का विकास किए बिना मैं अपना विकास कैसे कर सकता हूँ ? यह अपने आप हो जाता है। इसके बाद मेरी अपनी शक्ति से इच्छा पूर्वक मानवता को ऊपर उठाने की बात आती है। वह शक्ति जो अब मेरी है और मुझे इसलिये आशीर्वाद के तौर पर प्राप्त हुई है क्योंकि मैंने अपना उस स्तर तक विकास किया है। जैसे मैं इस वस्तु को यहाँ रख दूँ और अगर यह गिर जाए तो मुझे चोट लग सकती है, परन्तु शक्ति उसकी नहीं है।

आप जानते हैं कि गणित और भौतिक विज्ञान में आप गतिक ऊर्जा तथा निहित ऊर्जा के सिद्धान्त पढ़ते हैं। यहाँ इसमें निहित ऊर्जा है और अगर तुम उसे फेंको तो उसमें गतिज ऊर्जा है। एक पत्थर को अगर एक फुट ऊपर से पैर पर फेंको तो दर्द होगा, अगर केवल रखो तो कोई दर्द नहीं होगा। पत्थर में अपने आप में कोई शक्ति नहीं है। उस की शक्ति इस बात पर निर्भर है कि स्थान के सन्दर्भ में उसकी स्थिति क्या है। उसको टावर आफ लन्दन से फेंको तो उससे जान भी जा सकती है। "ओह कितना शक्तिशाली पत्थर है।" नहीं। उसकी स्थिति शक्तिशाली है। क्या एक गुरु शक्तिशाली है ? नहीं। यह तो उसकी स्थिति है, विकास क्रिया के क्रम में जो उसकी स्थिति है, वही महत्वपूर्ण है। वह स्थिति, वह शक्ति उसकी हो जाती है। उसकी जगह किसी और को वहाँ डाल दो उसके पास वही शक्ति होगी। क्या ईश्वर शक्तिशाली है ? नहीं। क्योंकि अगर वह उस स्थान से बाहर कदम रखे तो उसके पास कुछ नहीं है, फिर वही स्थिति वाली बात। यह अजीब

चीज है परन्तु लोगों को इसका ज्ञान नहीं है। प्रधानमन्त्री मार्गरेट थैचर—जब तक वह प्रधानमन्त्री है अपनी मनमानी कर सकती है। खदान मजदूरों को निकाल सकती है। नासमझी भरी संधियाँ कर सकती है, उनके देश में आने वाले भारतीयों का अपमान भी कर सकती है। उनको उस स्थिति से हटा दो, उन्हें १० डाउनिंग स्ट्रीट (अपना निवास) खाली करना पड़ेगा, फिर वह क्या है ? महज एक और स्त्री।

यह अजीब चीज दिखाई देती है कि जब तक हम ऊपर नहीं उठते, हमारे पास कुछ भी नहीं होता। और जब कुछ नहीं होता, हम कुछ नहीं कर सकते। जब हम कुछ कर ही नहीं सकते तो किसी की सहायता का प्रश्न कहाँ उठता है। जैसा कि बाबूजी कहते थे, विकास का अर्थ है और ऊपर उठना और अधिक से अधिकतर ऊँची पहुँच हासिल करना। मेरे निजी उद्‌देश्य के लिए नहीं। जब तक बादल ऊपर नहीं उठेगा बारिश नहीं होगी। है न ? पाश्चात्य मन से जो पहला विचार हमें निकालना है—वह है यह विचार कि आत्म प्रगति के साथ एक स्वार्थ का भाव जुड़ा है। वह जीना चाहते हैं, मजे करना चाहते हैं, सब कुछ चाहते हैं आत्म प्रगति को छोड़ कर उसमें उन्हें कोई स्वार्थ नहीं दिखाई देता। यहाँ लोग किसी और की स्त्री को ले जाना सरल मानते हैं, उसमें कोई स्वार्थ नहीं। उसमें क्या औचित्य है ? हम लोगों का जीवन ले सकते हैं, ढिठाई के साथ उनकी सम्पत्ति ले सकते हैं बिना किसी दण्ड भावना के, हम उनके विश्वास उनका धर्म छीन सकते हैं, सब कुछ नष्ट कर सकते हैं....

(टेप टूटा है)

क्या तुम्हें यह चकित कर देने वाला नहीं लगता ? नहीं। उसमें कोई चकित करने वाली बात नहीं है। यहाँ केवल मनुष्य का स्वार्थ कार्यरत है। और जो कुछ मैं चाहता हूँ उसका औचित्य मैं अपने मन में स्थापित कर लेता हूँ। सही है न ?

प्रश्न—(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—इसी कारण हम फरिश्तों के गिरने की बात करते हैं। मैं सोच भी नहीं सकता कि कोई इतना ऊँचा उठ कर गिर सके। अगर वह गिरा तो गिरना इस कारण होगा कि किसी प्रकार से उसने....इसका उसके व्यक्तिगत गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं। (टेप टूटा है) है न ? यह समझना अति सरल है, परन्तु मुझे समझने में ३० वर्ष लगे हैं। हम जानते हैं। एक बुरे अध्यापक को निकाल दिया जाता है, जो खदान मजदूर खुदाई नहीं

करता उसे निकाल दिया जाता है। जिस जहाज में छेद है उसे फेंक दिया जाता है। एक छुरी अगर ब्रेड न काट सके तो क्या खाओगे। सो अगर एक फरिश्ता फरिश्ते का काम न कर सके तो शायद ईश्वर कहेगा "मेरे दोस्त तुम्हारे लिये यहाँ कोई स्थान नहीं।" शैतान की विजय हुई। मुझे इसके अलावा कोई और पाप नहीं जान पड़ता है। अगर एक ईंट घर की दीवार में लगने पर ईंट न होकर कुछ और हो जाए तो तुम कहोगे "यह क्या हो रहा है" और तुम उसे खींच कर फेंक दोगे और उसके बदले एक नई ईंट लगाओगे। मैं पाप और पुण्य के विचार का समर्थन नहीं करता। तुम जिस उद्देश्य के लिये यहाँ हो—क्या उसे पूरा कर रहे हो ? अगर कर रहे हो तो ठीक है। अगर नहीं तो चाहे तुम सबसे अधिक गुणवान ही क्यों न हो, तुम्हें हटा दिया जाता है।

वास्तव में ब्रम्हाण्ड व ईश्वरीय उद्देश्य के सम्बन्ध में जो कार्य हमें सौंपा गया हमने उसका क्या किया यही महत्व रखता है न कि मैं क्या हूँ। क्योंकि मैं जो हूँ वह तो निरन्तर तब तक बदलता जाता है जब तक कि मैं बाबूजी के कथनानुसार उस "परिवर्तनहीन स्थिति" तक नहीं पहुँच जाता। और वह एक दिव्य स्थिति है। वहाँ पर गुणों का कोई अर्थ नहीं। उसके पहले भी गुणों का कोई अर्थ नहीं क्योंकि वह तो निरन्तर बदल रहा है। तो हम क्या बात कर रहे हैं गुण आदि की ? जब हम किसी व्यक्ति के स्थिर गुण की बात करते हैं तो वह व्यक्ति निश्चल है। वह जैसे गाड़ी के बाहर झाँक कर बार-बार एक ही चीज देख रहा है। इसका अर्थ है कि गाड़ी खड़ी है, है न ? तुम बाहर देखते हो टूलू (स्टेशन), आधे घंटे बाद फिर देखते हो टूलू। तुम क्या सोचते हो ? गाड़ी खड़ी है।

सो अगर कोई पुरुष व स्त्री दिनोदिन, जन्मान्तरों में वही गुण धारण किये रहता है तो चाहे वह कितने ही सुन्दर गुण क्यों न हों, मैं गुणों पर शंका नहीं कर रहा हूँ—पर इसका अर्थ केवल यह होगा कि उनका विकास बन्द हो गया है। परिवर्तन जिसको हम खोज रहे हैं उसका यही आकर्षण है। तुम जब उसको पकड़ने का प्रयत्न करते हो तो वह कुछ और होता है और जब उसको छूते हो तो वह कुछ और होता है। जब उसको पकड़ लेते हो तो वह कुछ और ही बन जाता है, उसे अपने पास ले आते हो तो कुछ और। इसी कारण हम समझने में असमर्थ हैं। मैं ऐसी किसी वस्तु की इच्छा कैसे कर सकता था जब कि वह मुझे मिलने पर इतनी अधिक बदल गई ? जो मैंने उसके विषय में पहले सोचा था वह मिलने पर वैसा कुछ भी नहीं पाया।

हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि हम परिवर्तन का नियम भूल जाते हैं जो कहता है कि "अगर संसार में कुछ भी स्थाई है तो वह केवल परिवर्तन।" इसी कारण वह उस मिलने की प्रक्रिया में ही बदल गई, जब मैंने उसकी इच्छा की थी वह कुछ थी—जब वह मिली वह कुछ और बन चुकी थी। खोजने और पाने के बीच में वह बदल गई। इस कारण आश्चर्य "ओह जब मैं इससे प्रेम करता था वह कितनी अच्छी थी और शादी के बाद कैसी चिड़चिड़ी बन गई है।" तुम भी इस प्रक्रिया में बदल गये हो। खोजने वाला भी, जब खोज रहा था कुछ और था—और जब उसने पाया वह भी बदल गया।

सो दो बदलने वाली चीजें निरन्तर बदल रही हैं और अन्त में जब वह मिलते हैं तो दोनों ने जो एक दूसरे के विषय में सोचा था उससे भिन्न होते हैं। आध्यात्मिकता का नियम कहता है "उसे खोजो जिसे खोजते समय और पाने पर वह एक ही हो, क्योंकि वह परिवर्तनहीन है।"

इस कारण उसमें कोई निराशा या कुण्ठा नहीं हो सकती। जो तुमने खोजा वही तुम पाओगे। यहाँ तुम जो खोज रहे हो वह कभी नहीं पाओगे क्योंकि वह निरन्तर बदल रहा है। यह एक और कारण है कि उस पूर्ण को, अखण्ड को, अपरिवर्तनशील को खोजो।

प्रकृति और गुरुदेव

प्रश्न—क्या आप हमें अलग-अलग बिन्दुओं के विषय में बतायेंगे जो हृदय से शुरू होकर ऊपर की ओर जाते हैं। मैंने 'सहज मार्ग का दर्शन' में उन विभिन्न चीजों के बारे में पढ़ा है जो इन बिन्दुओं पर अनुभव की जाती है, और मैं उन्हें अनुभव करना चाहता हूँ। और इन बिन्दुओं से जो यात्रा होती है क्या अनुभव होता है...........

उत्तर—शारीरिक अर्थ में यह सम्भव नहीं है। कल मैंने बहन रौस को इसके विषय में बताया था। हमारे यहाँ तीन क्षेत्रों का वर्गीकरण है : हृदय क्षेत्र, मन क्षेत्र और केन्द्रीय क्षेत्र। मन-क्षेत्र के उप-विभाग भी हैं, मन और पर-मन। सम्भवतः आप उसे पर-ब्रम्हाण्ड भी कह सकते हैं। अब, जो हृदय क्षेत्र है, उसमें पाँच बिन्दु माने जाते हैं। सहज मार्ग में हम पहले बिन्दु को हृदय का बिन्दु कहते हैं। दूसरा बिन्दु वह माना जाता है जहाँ आत्मा का निवास तो नहीं होता पर उसे आत्मा से सम्बन्धित माना जाता है, जैसे जूते का सम्बन्ध पैर से है। जूता चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो उसे आप सिर पर नहीं रखते। तो यह आत्मा है, (उंगली से दिखा हुए) यह अग्नि का बिन्दु है, यह जल का बिन्दु है और यह वायु का बिन्द है।

अब सहज मार्ग में हम सब प्रथम बिन्दु पर हैं और यह आत्मा की यात्रा का आरम्भ माना जाता है। और अधिकतर लोग जब मरते हैं वहीं पर होते हैं क्योंकि जिसे हम अनन्त की यात्रा कहते हैं उस की शुरुआत ही नहीं हुई होती। अब उसे बाहर निकालने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। अब किसी भी बिजली की मोटर को शुरु करने के लिए एक आरम्भिक भारत की आवश्यकता होती है और उसको शुरु करने पर वोल्टेज एकदम बढ़ जाती है। या रेलगाड़ी का चलना शुरु कराने के लिए धक्के की एक आरम्भिक गति की आवश्यकता होती है ताकि वह अपनी स्थिरता की स्थिति से बाहर निकले। एक बार चालू हो जाने पर उसे चलते रहने के लिए अधिक धक्के की आवश्यकता नहीं पड़ती। अब क्या होता है। एक बार जब गति आरम्भ हो जाती है तो बाबूजी के अनुसार सब कुछ गोल या अण्डाकार है अतः एक बार गति आरम्भ हो जाने के बाद उसमें पुनः नीचे गिरने का रुझान होता

है.......... (टेप टूटा है)

............और किसी बिन्दु पर एक अणु जो कि गोल दायरे में घूम रहा होता है, उसे धक्का लगाना पड़ता है ताकि वह अपने दायरे के चक्कर से बाहर निकल कर किसी दूसरी दिशा में सीधा चला जाए और एक नए दायरे में चलना शुरु कर दें। और जैसे-जैसे हम प्रगति करते हैं हर स्थिति पर गुरुदेव यह कार्य करते जाते हैं—हर बिन्दु पर नहीं। बिन्दुओं के बीच अनेक उप-बिन्दु भी हैं उनके अनुसार, हजारों। हम केवल महत्वपूर्ण चीजों से ही सम्बन्ध रखते हैं। जैसे अन्तर्नगरीय पड़ाव, जब फिशगार्ड से चलो तो कारडिफ, फिर रीडिंग, फिर पैडिंगटन। अब बीच में कई ऐसे स्टेशन भी आते हैं जहाँ गाड़ी नही रुकती। परन्तु एक पैसेन्जर गाड़ी, धीरे चलने वाली गाड़ी सब स्टेशनों पर रुकेगी और इस कारण अधिक समय लेगी। अब यहाँ हम अति तेज जाने वाली अन्तर-ब्रम्हाण्ड एक्सप्रेस शू-शू-शू-शू—(वह यह तेज जाने वाली आवाज निकालते हैं)। यह बिन्दु माया से सम्बन्धित माना गया है और सह मार्ग में हम इस पाँचवें बिन्दु को नहीं छूते।

इस बिन्दु से हम शीघ्रतापूर्वक मन-क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और यह मुक्ति का बिन्दु भी है। अब जब हृदय क्षेत्र की यात्रा समाप्त कर के आत्मा इस क्षेत्र में पहुँचती है तो वह मुक्ति प्राप्त कर लेती है और इसका अर्थ है कि किसी भी स्तर पर शारीरिक रूप से पुनर्जन्म नहीं होगा। इसका कुल यही अर्थ है। यहाँ इन बिन्दुओं से सम्बन्धित गुणों का अनुभव करना सम्भव है। उदाहरणार्थ—एक बार मैं ग्रीष्म के अत्यन्त गरम दिन सिटिंग के लिए गया। अब आपको तो पता है कि भारत में मई और जून में क्या हालत होती है। हम पसीने से तर, करीब २ मील पैदल चल कर आ रहे थे। फिर हम ध्यान में बैठे—हम ध्यान करने लायक स्थिति में नहीं थे, पसीना चू रहा था और हम रुमाल से उसे पोंछ रहे थे। विचित्र रूप से सिटिंग आरम्भ होने के कुछ ही मिनटों बाद ऐसा लगा मानों मेरे चारों ओर ठण्डी हवा के झोंके चल रहे हैं और मैं एकदम ठण्डा हो गया, पसीना रुक गया—ऐसा लगा जैसे मैं किसी वातानुकूलित कमरे में बैठा होऊँ।

(टेप टूटा है)

यह सही नहीं है। धार्मिक अधिकार को भौतिक अधिकार से मिलाना नहीं चाहिए। वह दोनों अलग-अलग क्षेत्र हैं। आध्यात्मिक अधिकार परम हो सकता है परन्तु उसका प्रयोग शासन में नहीं करना चाहिए। यह तो ऐसा होगा जैसे किसी पुरोहित को देश का राज्यपाल बना दिया जाय।

(टेप टूटा है)

.........इसे प्रकट नहीं होने दिया जाता। हम ध्यान की प्रक्रिया में अपने आप को जलाना नहीं चाहते। अब क्या होता है। मन-क्षेत्र में वह अपना रास्ता पकड़कर निम्न मन-क्षेत्र से गुजरकर मन क्षेत्र में फिर अन्त में केन्द्रीय क्षेत्र में पहुँचती है।

अब गुरुदेव ने मुझे बताया था कि यहाँ से यात्रा शुरू करने के बाद अत्यधिक तपस्या कर के—जंगलों में चौबीसों घंटे ध्यान आदि करके दूसरे बिन्दु पर पहुँचने में ४५ वर्ष लग जाते थे। और उससे अगले बिन्दु पर जाने के लिये उसके भी पैंतालिस गुना जो शायद २000 और कुछ वर्ष होंगे। एक बार मैंने हिसाब लगाया था कि सम्भवतः इस मुक्ति के बिन्दु तक पहुँचने में दस लाख वर्ष लग सकते हैं। हो सकता है कि कुछ विलम्ब, कुछ फिसलन, कुछ गिरावट भी हो जाय, पर इन सब को मैंने नहीं गिना। अब बाबूजी के अनुसार लालाजी ने केन्द्र बिन्दु तक की यह तमाम यात्रा केवल सात महीनों में तय की थी। तो आप समझ सकते हैं कि यह मार्ग कितना प्रभावशाली है। जबकि बाबूजी ने, मेरी नजर में वह दृश्य अभी भी स्पष्ट है जब उन्होंने हँसते हुए बताया था कि उन्हें २२ वर्ष लगे। बाद में यही कार्य बाबूजी ने अपने शिष्यों के लिए उससे जल्दी किया। मुझे याद है कि यही उन्होंने मेरे पिताजी को ७ वर्ष में दिया। मुझे उससे कहीं अधिक समय लगा। उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यहाँ समय का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है कि क्या आप वहाँ पहुँचते हैं ? सो यह सब बिन्दु हैं। एक पुस्तक है "राजयोग की प्रभावोत्पादकता।" क्या तुम्हारे पास वह पुस्तक है ? उसमें सब दिया है।

आज सुबह जॉन प्रशिक्षकों के विषय में प्रश्न पूछ रहा था, अस्थाई प्रशिक्षक और पूर्ण प्रशिक्षक। आम तौर पर अस्थाई प्रशिक्षक को दूसरे बिन्दु तक जो कि आत्मा का बिन्दु है, उठाया जाता है और उस बिन्दु को शक्तिपूर्ण बनाया जाता है। और उस बिन्दु से प्राणाहुति देना है। और पूर्ण प्रशिक्षक के पूरे तंत्र में शक्ति भर दी जाती है। यह अन्तर है। एक पूर्ण प्रशिक्षक उच्च् स्तर से कार्य कर सकता है और ऊँचे पहुँचे हुए अभ्यासियों को उठा सकता है। एक अस्थाई प्रशिक्षक उच्च स्तर से कार्य नहीं कर सकता हालाँकि वह भी लोगों को उठा सकता है; जैसा कि बाबूजी ने लिखा है एक प्रशिक्षक जो स्वयं 'ग' बिन्दु पर है, वह भी अभ्यासी को बिन्दु 'क' से 'ज्ञ' तक उठा सकता है। तो प्रशिक्षक की शक्ति पर कोई रोक नहीं है, उसे जो भी कार्य सौंपा गया है, उसे वह कर सकता है। क्या तुम्हारे प्रश्न का

उत्तर मिल गया या कुछ बचा ?

प्रश्न—(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—अब, सामान्य रूप से प्रशिक्षकों से आशा की जाती है कि वह सफाई करेंगे। अब अगर आप ३० मिनट की सिटिंग देंगे तो २५ मिनट सफाई में लगायेंगे और आखिर के ५ मिनट प्राणाहुति देंगे। अब प्राणाहुति इतनी विराट चीज है।

यह एक बरतन साफ करने जैसा है। उसमें कुछ पड़ा था, तुम उसे साफ कर के दूध भरना चाहते हो। सफाई करने में अधिक समय लगता है। उसमें दूध डालने में तो कुछ भी समय नहीं लगता। तुम नल खोल दो और वह तुरन्त भर जायेगा। इस कारण प्राणाहुति कुछ मिनटों से अधिक नहीं देनी चाहिए। जैसे मैं कल आपको बता रहा था कि बाबूजी ने मुझे ४५ सेकेन्ड की सिटिंग दी थी वह शायद अभी भी कार्य कर रही है। अब मैं कल बता रहा था कि इस सिटिंग की विशेषता क्या थी। उन्होंने कस्तूरी से कहा था कि उन्होंने ऐसी सिटिंग पहल कभी न किसी को दी थी और न ही किसी और को देंगे, यह उनके शब्द थे "न मैंने ऐसी सिटिंग कभी तुम्हें या राघवेन्द्र राव या किसी और को दी और न ही किसी को दूँगा।" तब कस्तूरी ने पूछा "पार्थसारथी को ही क्यों ?" उन्होंने कहा "वह अपना घर-बार, दफ्तर सब छोड़ कर मेरे साथ गया। और जब वह मेरे साथ था तो उसे एक क्षण के लये भी किसी की याद नहीं आई, उसका घर, परिवार, काम कुछ भी नहीं। वह उसके योग्य था इसलिए।" फिर उन्होंने पूछा "आपने उसे वास्तव में क्या दिया ?" उन्होंने कहा "मैंने उसे अपनी ही दशा दी है।" प्राणाहुति द्वारा साधारणतः हम गुरुदेव की शक्ति प्रवाहित करते हैं। स्थिति प्रशिक्षक द्वारा नहीं दी जा सकती, है न ? अब जब एक गुरु जब स्वयं अपने आप को दे देता है तो उसका क्या अर्थ होता है पर......अब मैं अधिक स्पष्ट नहीं कहना चाहता।

अब यहाँ आपकी अनुमति हो तो मैं कुछ और कहना चाहूँगा। आप जरा शुचिता का विचार करिये, नैतिक शुचिता, यौन सम्बन्धी शुचिता। अब यह क्यों महत्वपूर्ण है कि इसको वैवाहिक जीवन तक ही सीमित रखा जाय ? इसलिए कि आप अपने जीवन में से दे रहे हैं। समझे ? अब इस नैतिकता के सिद्धान्त के पीछे अनेक सम्बन्धित विचार हैं। केवल अव्यवस्थित जीवन या नैतिक यह वस्तु या और कुछ, नहीं। यह तो इस बात को देखने के बहुत ऊपरी तरीके हैं। अब अगर केवल अपने आप को पुनः पैदा करने का प्रश्न

हो तो क्या आप विवेकहीनता से चाहे जिस-तिस के साथ कर सकते हो ? बीज बोने के पहले मिट्टी को भी जाँचा जाता है—उपयुक्त मिट्टी की जाँच की जाती है, है न ? जहाँ आम के खेत हैं वहाँ तुम भुट्टा नहीं बोओगे, या जहाँ गेहूँ बोया जाती है वहाँ गन्ना नहीं बोओगे। यह केवल उदाहरण हैं। उचित मिट्टी, उचित बीज, गुण सर्वोत्तम होंगे तो फसल भी सर्वोत्तम होगी। हर किसान यह जानता है। परन्तु हम मानव किसान जब फसल के लिए अपना बीज बोना चाहते हैं तो हम बोते समय विवेकहीन होते हैं। यह फिर विकास के नियम को इनकार करना है।

वैसे अनैतिकता में कुछ भी गन्दा नहीं है। किन्तु विकास के नियम का उल्लंघन है। बीज को सुरक्षित रखो ताकि उससे पिता-माँ से भी अधिक अच्छी सन्तान हो। ताकि हर पीढ़ी अपनी पहली पीढ़ी से अच्छी हो। यह तुम्हें पक्का करना है। हम कहें कि यह नियम है—चौदहवाँ आदेश। इसकी हम अवहेलना करते हैं जब आनन्द के सतही विचारों व आकर्षणों में पड़ कर हम बिना विवेक के अपना बीज बाते हैं और राक्षसों का निर्माण करते हैं। देखिये न, कैसे मैंने अपने गुरुदेव के ४५ सेकेण्ड की प्राणाहुति की बदौलत (मुसकुराते हैं) कैसे नैतिकता के सिद्धान्त से जुड़ी हुई कोई बात ढूँढ़ निकाली। (दबी हुई हँसी) मेरे गुरुदेव ऐसी प्राणाहुति किसी और को क्यों नहीं दे पाये ? शायद इसलिए कि उनके बाद उनके जैसा एक ही हो सकता था।

प्रश्न—(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—हाँ

प्रश्न—(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—इसी कारण विशेष कर सूफी पुस्तकों और पुरानी भारतीय पुस्तकों में कहा गया है कि हम सब में दो जननेन्द्रियाँ होती हैं। एक तो शारीरिक जननेन्द्रियाँ पुरुष और स्त्री की; यह तो स्पष्ट है। दूसरी जननेन्द्रिय आध्यात्मिक है जिसके द्वारा गुरु बीजारोपण व निर्माण करता है। वह हृदय है। इसी कारण हमारी पुरानी भारतीय परम्परा उस अर्थ में सब मानवों के स्त्री होने की बात करती है। गुरु के सामने सभी स्त्रीरूप हैं, क्योंकि गुरु उनके हृदय में बीजारोपण करेगा ताकि कुछ आध्यात्मिक उत्पन्न हो सके। गुरु के आध्यात्मिक बच्चे। इसी कारण इसे हृदय-योनि कहा जाता है जिसका अर्थ है हृदय की जननेन्द्रिय। इसलिए उनकी नजर में हम सब स्त्री हैं। मेरे विचार में यह सिद्धान्त कृष्ण और गोपियों की लीला को स्पष्ट

करता है, कि सभी थे तो मानव, पर उनके लिये वे सभी स्त्री जैसे थे क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक बीजारोपण करना था। यह कोई गन्दा शब्द नहीं है। अंग्रेजी के सेमिनार या सेमिनरी शब्दों का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है, जहाँ पर ग्रहण-कर्ता में बीज डाला जाता है। एक प्रजनन का भौतिक अर्थ है। सेमिनरी में इसका आध्यात्मिक अर्थ है। इसी कारण हमें हृदय को खोलना पड़ता है ताकि गुरु हृदय में प्रवेश कर सकें। जैसे शारीरिक स्तर पर बलात्कार एक घृणास्पद चीज है वैसे ही गुरु भी जबरदस्ती हमारे अन्दर नहीं घुस सकता हमें भी इच्छुक होना चाहिए, अपने आप को खोलना चाहिए, अपने आप को समर्पित करना चाहिए। वही समर्पण की क्रिया है।

प्रश्न—क्या बाबूजी की आत्मा...........(सुनाई नहीं दिया)

उत्तर—मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं। मेरे विचार में उसने न कुछ छोड़ा और न ही कहीं गई। वह अभी भी हमारे साथ है। आध्यात्मिक विकास के उच्चतम स्तर पर जबकि आपकी आत्मा सारे संसार को अपने में समेट लेती है—वह कहाँ जा सकती है ? या कहाँ से आ सकती है। इसलिए वह यहीं पर होगी। मुझे पक्का विश्वास है कि वह किसी अजीब तरीके से यह सब सुन रहे हैं जो हम कह रहे हैं। नहीं तो जो हम सर्व-व्यापक कहते हैं तो उसका क्या अर्थ है।

प्रश्न—परन्तु बाबूजी तो कहते थे कि जब आत्मा शरीर को छोड़ देती है तो उसका कोई अलग व्यक्तित्व नहीं रह जाता।

उत्तर—यह ऐसा नहीं कहा गया है। इसके विपरीत जब तक पूर्ण विलय नहीं होता वह नितान्त व्यक्तिगत होती है।

प्रश्न—चारी क्या जब कोई आध्यात्मिक दशा या स्थिति पढ़ता है तो क्या.........जो आपने बिन्दु बताये थे उनका उससे क्या सम्बन्ध है, क्या वह...........

उत्तर—यह दोनों चीजें वास्तव में भिन्न हैं, एक स्थिति से सम्बन्धित है और एक दशा से। मैं इस घर में हाऊँ और मेरी दशा अच्छी हो सकती है। मैं इसकी तुलना में किसी अन्य छोटे से घर में होऊँ तब भी मेरी दशा अच्छी हो सकती है। उसका मेरी स्थिति से कोई सम्बनध नहीं है। स्थिति का सम्बन्ध मेरे विकास से है और दशा, अर्थात जो मैं हूँ। जैसे, एक टमाटर पका हुआ है यह उसकी दशा है। अगर उसे एक आले पर रख दिया जाय तो वह ऊँचे पर हो गया और अगर उसे नीचे रख दें तो वह नीचे आ गया। सो, एक तो आध्यात्मिक अस्तित्व की ऊँचाइयों तक पहुँच होने के सन्दर्भ में

आत्मा के विकास का सूचक है और दूसरे का सम्बन्ध उसकी दशा से है। दशा सदैव अच्छी हो सकती है और हमें उसे सम्भाल कर रखना चाहिए। गति हमें वह प्रदान करते हैं। अपनी दशा हम स्वयं सम्भालते हैं।

प्रत्येक बिन्दु पर जब हम पहुँचते हैं तो क्या होता है ? पहले हममें नए स्थान पर पहुँचने का अत्यधिक उल्लास होता है। अतः हम अधिक ध्यान करते हैं और हम में अधिक उत्साह होता है। फिर हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं और ऊबने लगते हैं। हम कहते हैं "ओह मैं यह ध्यान वगैरह क्यों कर रहा हूँ ?" यह वह मौका होता है जब गुरु तुम्हें धक्का दे ताकि, जैसा मैंने बताया था, वह गति के दायरे के चक्कर को तोड़ कर उससे बाहर निकल सके। फिर वह गति आती है जो उल्लास पैदा करती है। इसलिए आप हमेशा तीन स्थितियाँ पाते हैं; ऊब, नवीन क्रियाशीलता, उल्लास।

हमें समझ लेना चाहिए कि जब हम ऊबने लगते हैं तो वह वही मौका है जब हमें नये स्तर की क्रियाशीलता में लग जाना चाहिये ताकि उल्लास पैदा हो सके। जैसे हम फिशगार्ड पहुँचे तो हम वहाँ बहुत खुश हुए, नई जगह, नया वातावरण, नए रास्ते, समुद्र, मछली, चारों ओर की धरती आदि। और तीन दिन बाद आप कहते हैं "हम वापस कब जा रहे हैं ?" है न ?

सो एक प्रकार से मानव की बेचैनी उसकी आत्मा की बेचैनी को दर्शाती है। आत्मा आगे बढ़ाना चाहती है और हम उस आनतरिक कामना को उसी दायरे के अन्दर शान्ति और सन्तोष की जरूरत समझकर उसकी खोज करने लगते हैं। इसी कारण बच्चे भी गाड़ी में बैठना, घूमना, साइकिल चलाना चाहते हैं। उनका खेल आराम में क्यों नहीं हो सकता ? यह सम्भव नहीं है। तो हमारी शारीरिक बेचैनी उस आत्मा की बेचैनी का दर्पण है। और जब वह अन्तिम लक्ष्य की स्थिरता और शान्ति पा लेती है तो इसे भी शान्ति की अन्तिम स्थिर दशा प्राप्त हो जाती है। फिर मनुष्य गति और परिवर्तन नहीं ढूँढता। वह जहाँ भी है प्रसन्न रहता है; शाश्वत रूप से प्रसन्न। इस प्रकार, आप देखते हैं कि बाह्य शान्ति केवल आन्तरिक शान्ति द्वारा ही आ सकती है। बाकी सब तरीके ऊपरी हैं, बाहरी हैं, दिखावे के हैं और असफलता निश्चित है। "धरती पर शान्ति व सद्भाव हो" यह एक पवित्र काना है। परन्तु उसे कैसे प्राप्त किया जाय ? पैसे बाँटकर या हवाई जहाज से पर्चे फेंक कर नहीं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में शान्ति लाकर। अगर आप सन्तों का समाज चाहते हैं तो उस समाज के हर पुरुष व स्त्री को सन्त बनाना होगा।

हम फिर रौस के प्रश्न पर आ जाते हैं: व्यक्तिगत विकास क्यों ? क्योंकि उसके बिना सामूहिक विकास कुछ न कुछ कम रह जाता है। जिस समूह का मैं अंश हूँ वह तब तक तरक्की नहीं कर सकता जब तक मैं तरक्की नहीं करता। क्या हवाई जहाज अपने किसी एक भी यात्री को छोड़कर उड़ सकता है ? जब वह देखते हैं कि कोई गायब है तो वह प्रतीक्षा करते हैं और सूचना देते हैं कि "फलाँ-फलाँ व्यक्ति, उसके लिए यह आखिरी पुकार है।" उसके पश्चात् आप जानिये। हम भी सत्संग में प्रतीक्षा करते हैं "ओह मिस्टर डुयडिट अभी नहीं आए, केशव नहीं आया"—हम प्रतीक्षा करते हैं। क्यों ? क्योंकि इस समय इस क्षण उनके बिना यह समूह पूरा नहीं है। क्या मैं ऐसा कुछ खा सकता हूँ जिसका लाभ केवल मेरे पेट को हो ? बेशक खाना पेट में जाता है परन्तु वह पूरे शरीर को शक्ति देता है। तुम जो कुछ भी करते हो उस का प्रभाव पूरे शरीर पर पड़ता है, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक।

तो निष्कर्ष क्या है ? करो या मरो। यही निष्कर्ष है। आध्यात्मिकता में कोई सफलता नहीं। केवल सफलता या छोड़ना: असफलता नहीं। हाँ अगर आप जिद में आकर विवाद करना चाहें कि छोड़ना भी असफलता है तो तुम्हारे आरम्भ करने के पहले ही मैं मान सकता हूँ (दबी हँसी) यह विचार जो स्वयं मेरे ही मन से उपजे थे, इनसे मेरे विश्वास को बड़ा बल मिला है। ब्रम्हाण्ड में हमारे स्थान के विषय में। हमारे अपने विकास का पूरे ब्रम्हाण्ड के विकास से क्या सम्बन्ध है ? किस प्रकार एक इकाई, एक स्वतन्त्र इकाई के नाते ब्रम्हाण्ड के उद्देश्य में मेरा कोई महत्व नहीं। और यदि मैं वह बन जाता हूँ जो मुझे बनना चाहिए तो मैं पूर्ण रूप से आवश्यक हूँ। और जब मैं इतना पूर्णरूपेण आवश्यक हो जाता हूँ तो उससे मेरे अपने जीवन के उद्देश्य की सार्थकता भी सिद्ध होगी। फिर अगर मैं कहूँ "ओ ब्रम्हाण्ड ! यह व्यक्ति मर रहा है इसकी सहायता के बारे में क्या विचार है ?" तो सहायता आयेगी। इसलिए नहीं कि जो मर रहा है, वह उस सहायता का पात्र है परन्तु इसलिये कि प्रकृति मेरा विरोध नहीं कर सकती। मैं उसके उद्देश्य के लिए पूरी तौर पर आवश्यक हूँ। इसलिए मेरी प्रार्थना प्रभावकारी होती है। मुझे केवल आँखें बन्द कर के प्रार्थना करनी है। जब मैं "मैं" कहता हूँ—मेरा मतलब मुझ से नहीं—उस प्रकार के व्यक्ति से है। उसे केवल आँख बन्द कर के कहना है और वह होता है। प्रकृति ऐसे व्यक्ति के अनुरोध का पालन करती है और ऐसा व्यक्ति प्रकृति के अनुरोध का। दोनों

एक दूसरे का, क्योंकि वह दोनों एक ही हैं। एक सक्रिय तरीका है, एक निष्क्रिय तरीका है।

मेरे मन में कई बार यह प्रश्न उठा—और दस बारह वर्ष पूर्व मैंने स्वयं ही इसका हल निकाला—बाबूजी ने विनाश के बारे में बहुत कुछ लिखा है। प्रकृति के अपरोक्ष रूप से कार्य करने के विषय में। और साथ ही हम यह भी कहते हैं वह सर्वशक्तिमान हैं, परम। कार्य के दो मार्ग कैसे हो सकते हैं। फिर मैंने इसका हल पा लिया उन्हीं की रचनाओं में जहाँ वह लिखते हैं कि आप सोते रहते हैं और अगर आप के ऊपर कोई मच्छर बैठता है तो बोधपूर्वक कार्य किये बिना आप उसे हटा देते हैं। उसमें कोई सचेतन हस्तक्षेप नहीं है। इसी भाँति प्रकृति में जब गुरु कार्य नहीं कर रहा होता है उस समय भी वह एक सोये हुए व्यक्ति की भाँति कार्य करता है जो थोड़ा सा हिला, जगह बदली और मच्छर को उड़ा दिया। अगर बत्ती जगमगाती है तो आप अपना सिर दूसरी ओर घुमा लेते हैं। ऐसे अवस्था में कोई उप-चेतना या शून्य के तुल्य चेतना होती है फिर भी वह अपना कार्य करती है। तो प्रकृति का कार्य इस प्रकार होता है। परन्तु जब गुरु कार्य करता है तो वह सक्रिय इच्छा शक्ति की और उद्देश्यपूर्ण क्रिया होती है।

तो प्रकृति गुरु क्यों पैदा करती है ? जब वह अपने आप में इस सचेतन हस्तक्षेप की आवश्यकता को प्रकृति के उद्देश्य के लिए अनुभव करती है। यह कुछ ऐसा है जैसे कोई सोने वाला जागे और फिर कहे "मुझे इसके विषय में कुछ करना है, मैं बहुत देर सोता रहा।" यह वह स्वयं है। वह जागृत है, दूसरी अवस्था में वह सोया होता है। सो, सोता हुआ गुरु प्रकृति है। प्रकृति जो एक उद्देश्य के विभिन्न जागृत हो चुकी है जहाँ उसके सचेत हस्तक्षेप की आवश्यकता है, एक इच्छापूर्ण हस्तक्षेप की आवश्यकता है, एक उद्देश्यपूर्ण हस्तक्षेप की आवश्यकता है, तब वह गुरु बन जाती है। यह मेरा निष्कर्ष है।

प्रश्न—गुरु कार्य नहीं कर रहा उस का क्या अर्थ है—गुरु कब कार्य कर रहा है और कब नहीं कर रहा है ?

उत्तर—जब मैं सो रहा हूँ तो मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं कार्य कर रहा हूँ। फिर भी मैं कार्य कर रहा हूँ। यह प्रकृति है।

चमकाना

यह मनुष्य आया है। इस बात ने मेरे विचार को गति दे दी है। वह यहाँ क्यों आया है, उसका कुछ तो उद्देश्य होगा केवल हमें कीचड़ से बाहर निकालने और कुछ देने......मान लो एक पिल्ला नदी की धार में डूब रहा हो तो क्या तुम उसे बाहर निकाल कर वहीं छोड़ दोगे ? जाहिर है, नहीं—तुम उसे घर ले जाकर एक प्याला गरम दूध पिलाओगे। तब तक उससे तुम्हारा स्नेह हो चुका होगा और वह तुम्हारा हो जाता है, है न ? जब हम निर्मम, कठोर, कुण्ठित, भ्रष्ट मानव एक डूबते हुए पिलले के लिए इतना कर सकते हैं तो क्या एक गुरु हमें इस गन्दगी भरे कीचड़ से, जिसमें हम फँसे हैं, निकाल कर हमें किनारे पर फेंक जायेगा और "टा टा" कह देगा ? कदापि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। हम मछुआरे नहीं है कि मछली पकड़ कर उसे बाहर ले जाकर खा गये। हम बाइबिल में उल्लिखित मछुआरे हैं जैसे पीटर, बड़ा मछुआरा। वह बड़ा था क्योंकि वह अपने लिए नहीं, बल्कि परमात्मा के लिए मछलियाँ पकड़ता था। सो यह बुजुर्गवार हमारे लिए क्या कर रहे हैं ? वह हमें केवल अस्तित्व की एक भँवर से ही नहीं निकाल रहे परन्तु हमें घर ले जाकर खिला पिला कर वह बनाते हैं जो हमें बनना चाहिए। किसलिए ? बाद के किसी अन्य उद्देश्य के लिए जिसके विषय में हम कभी सोचते ही नहीं। इससे पता चलता है कि हमारा विकास आत्मकेन्द्रित है। अगर मैं किसी प्रकार घिस-पिट कर वह बन जाऊँ जो बनना चाहिए तो काफी है—मैं बड़ा आदमी हूँ, मैं सन्त हूँ। पर तुम सन्त किसलिए हो ? बाबूजी ने स्पष्ट रूप से कहा है, उन बुजुर्गवार ने बड़ी चालाकी से सार कारण छिपा लिए हैं पर सभी उत्तर दे दिए हैं। "एक सन्त सारे संसार के दुःखों का निशाना होता है।" उन्होंने यह साफ लिखा है, है न ? "वह यहाँ सुख भोगने के लिए नहीं हैं परन्तु औरों को सुख देने के लिए है। दूसरा वक्तव्य "रोशनी स्वयं को चमकाने के लिए नहीं होती बल्कि वह दूसरों को चमकाने के लिए होती है।"

अतः जिस क्षण आप यह अनावश्यक, दुर्भाग्यपूर्ण सन्त की दशा प्राप्त करते हैं तो, आपको मिलता क्या है ? तुम्हारी ओर तने हुए निर्दयी भाग्य के

तीर कमान। सब की समस्यायें, सब के दुःख तुम्हारी ओर लक्षितः तुम्हें सहना पड़ता है, भोगना पड़ता है, इसलिए भोगना पड़ता है ताकि उन्हें न भोगना पड़े। है न ? यह कहना कितना आसान व सरल है कि वह आये ताकि मानवता दुःखी न हो। कैसे ? स्वयं भोग कर। सो सन्त कैसे जीवन का आनन्द ले सकता है ? जीवन का आनन्द तो वह किसी अन्य स्थिति-अवस्था में उठाता है। "मेरा राज्य इस संसार का नहीं।" उस स्थिति में वह शाश्वत आनन्द भोगता है, परन्तु इस भौतिक स्तर पर वह दुःखी रहता है। दर्द, उत्पीड़न, गालियाँ, झूठे आरोप सब कुछ सहता हुआ और अन्ततः सूली पर चढ़ा दिया जाता है। मैं नहीं समझता कि कोई भी सन्त शान्तिपूर्वक बिस्तर में मरा होगा—हो नहीं सकता। यहीं पर वह ब्रम्हाण्ड का उद्देश्य आता है। जैसे आप अपने को दुश्मन के तीरों से बचाने के लिए कवच पहनते हैं। यहाँ ब्रम्हाण्डीय व्यक्ति पैदा होता है जो दूसरों के दुःखों का निवारण करता है ताकि वह दुःख न भोगें। वह ईश्वर का उद्देश्य है "जाओ मेरे बच्चों की देख-भाल करो।" इसलिए मुझे अन्तिम उद्देश्य के सम्बन्ध में यह विचार आये। सन्त बनने से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। ब्रम्हाण्ड को क्या फरक पड़ता है अगर मैं सन्त हूँ या पापी हूँ ? न के बराबर। फरक इतना तुच्छ है। परन्तु एक में मैं अपने आप को नष्ट करता हूँ और दूसरे में औरों को प्रकाशित करता हूँ। इस प्रकार की स्थिति हमें उपहार में दी जाती है क्योंकि प्रकृति कहती है "यहाँ एक व्यक्ति है जो तैयार है और उसे योग्य बनाया जा सकता है। वह तैयार है तो योग्यता मैं दे सकती हूँ उसे ले लो।" इसलिये जब सहज मार्ग में लोग हमसे पूछते हैं कि अभ्यासी बनने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है तो हम कहते हैं "कुछ नहीं।" क्या हम तैयार हैं ? इससे मुझे सदैव डिकेन्स के प्रसिद्ध कथन का ध्यान आता है जिसमें बारकिस, पेगेटी के साथ अपनी प्रेम कहानी के विषय में कहता है "बारकिस राजी है" डेविड कौपरफील्ड (उपन्यास) में—तुमने नहीं पढ़ा ?

प्रश्न—नहीं

उत्तर—मुझे इस पर सदैव हँसी आती थी। डिकेन्स ने लिखा है कि वह बैलगाड़ी चलाता था और उस पर उसने लिख रखा है "बारकिस राजी है", छोटा डेविड कौपरफील्ड कहता है, यह क्या है ? वह कहता है—पेगेटी के बारे में जो उसकी नर्स थी "वह हर समय मुझे आँख मारती है, मुझे उससे प्रेम है, तुम उससे जाकर कह दो "बारकिस राजी है।" 'वह'

बारकिस है। पचास प्रतिश्यात, आपको मालूम है, भारत में एक हास्यप्रद कहावत है कि अगर लड़का लड़की से प्रेम करता है तो शादी की पचास प्रतिशत सम्भावना है—परन्तु वह पचास प्रतिशत (मुसकुराते हैं), कोई सम्भावना नहीं—अगर एक जन तैयार है तो उससे कुछ भी कहा नहीं जा सकता। यहाँ आँकड़ों का नियम नहीं लागू होता।

सो हमें इस तरीके से सोचना है.........उससे हममें नम्रता भी आती है कि अगर सन्त होने के बावजूद मेरे द्वारा ब्रम्हाण्ड का कोई उद्देश्य पूरा नहीं हो रहा है तो मैं कचरे के तुल्य बेकार हूँ। "मिट्टी तुम हो और मिट्टी में मिल जाओगे"—मृत्यु द्वारा नहीं, परन्तु अगर मेरा विकास नहीं हुआ तो।

अजीब संसार है। इसको काफी समझना पड़ता है। कई बार मैं बहुत निराश हो जाता हूँ जब मैं लोगों को अपने ही विकास, अपने सुख, अपने आराम व मजे में मस्त देखता हूँ, जैसे कि अस्तित्व का एकमात्र और अन्तिम चरण केवल वह ही है। मैंने लैम्प के शीशे को इसलिए साफ किया है ताकि लौ की जलती हुई रोशनी रुक न जाए। है न ? इस भाँति गुरु जब अभ्यासियों को साफ करता है तो उनके लिए नहीं बल्कि इसलिए कि उन के अन्दर की दिव्य ज्योति सब को दिखाई दे सके। इसका अर्थ है कि वह दिव्य ज्योति सब को चमकाये, रास्ता दिखाए, न कि केवल उसके अपने लिए कि आराम कुर्सी में आराम करे। अतः केवल गुरुदेव व प्रशिक्षकों को ही काम नहीं करना है, बल्कि हर एक अभ्यासी को रोशनी बनना है, लैम्प बनना है। बाइबिल के कथन का यही तात्पर्य है "अपने लैम्प को ढक्कन लगाकर" मत छुपाओ।"

सजा और सुधार

प्लेटो ने कहा है, "कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं होता परन्तु हमारे विचार उसे वैसा बनाते हैं।" मेरे विचार में इसमें भी कुछ कमी है। अगर मैं सोचता हूँ कि कोई चीज अच्छी है तो आवश्यक नहीं कि वह अच्छी हो। है न ? कम से कम यह प्लेटो के विचार से एक कदम आगे है।

मेरे विचार में मेरे गुरुदेव ही वास्तविक दार्शनिक हैं। सच में उन्होंने बिना यह जाने कि दर्शन क्या है, हमें दर्शन पढ़ाया है। उन्होंने हमारे सोचने के ढंग को साफ किया है। उन्होंने हमारे ही अन्दर से उत्तर देकर हमारा विकास किया है। ऐसी स्पष्टता मुझे किसी और में नहीं मिली। उनके विचार भिन्न थे। जब तक हम उनके सम्पर्क में नहीं आयें, हम उस घिसे-पिटे पारम्परिक सोचने के ढंग से बँधे होते हैं, एक सामाजिक रूढ़िवादी ढंग जो हमारे सोचने पर हावी था और शब्दों का रूढ़िवादी अर्थ जिसका गलत प्रयोग किया गया है। "तुम जानते हो ? वह अच्छा आदमी है।" उसने २२ लोगों को गोली मारी फिर भी तुम अगर उससे विवाद खड़ा करना चाहते हो तो तुम कहते हो "ओह हर अच्छी वस्तु में कुछ न कुछ बुरा होता है चारी और हर बुरी वस्तु में कुछ न कुछ अच्छा होता है।" हाँ, पर वह हमें ले कहाँ जाता है ? क्या इसका मतलब है कि एक हत्यारे को मौत की सजा नहीं मिलनी चाहिए या कोई भी सजा नहीं मिलनी चाहिए ? क्या हम मौत की सजा को हटा दें ? क्या बच्चों को स्कूल में सजा नहीं मिलनी चाहिए ? तुम्हें पता है यह कितने विवाद खड़े कर देगा। एक समय था जब मास्टर हमें हाथ आगे करने को कहता था और उस पर एक डण्डा लगाता था, वह हमें कुछ लाभ ही पहुँचाता था। सजा को क्रूर नहीं होना चाहिए परन्तु प्रभावकारी अवश्य होना चाहिए। जब आप अपने गुस्से, प्रतिशोध या चिढ़ निकालने के लिये उत्पन्न क्रूरता के कारण सजा देते हैं तो वह गलत है। परन्तु अगर वह सुधार की दृष्टि से किया जाता है, जिसकी आवश्यकता है तो वह सही है। यह आवश्यक है, आवश्यक से भी अधिक है।

सो बाबूजी ने एक केन्द्र को लिखा—संयोगवश इसी मनुष्य ने मेरे

खिलाफ मुकदमा दायर किया है—उन्होंने उसे १९६७ में लिखा था "मैं खुश हूँ कि आप इस नाचीज के पास आये और कुछ दिन रुके। आपने जो मुझे कुछ केन्द्रों में अनुशासन के बारे में राय दी उसके लिए मैं आभारी हूँ। मैं उस पर विचार करूँगा। मेरी नजर में आया कि जहाँ आप दूसरे केन्द्रों के विषय में बात कर रहे हैं, आप अपने केन्द्र को भूल गये जहाँ पर काफी अनुशासनहीनता है जो आपकी ही गतिविधियों के कारण है। अफसोस है कि मेरे पास छड़ी नहीं है, अगर होती तो यह अनुशासनहीनता कभी मिशन में प्रवेश न करती। अगर लकड़ी की छड़ी नहीं तो कम से कम फूलों की छड़ी मेरे हाथ में होनी चाहिए थी।" यह बाबूजी ने १९६७ में लिखा था, मेरे पास इसकी प्रतिलिपि है—और १९८३ में इसी व्यक्ति ने गुरुदेव की इच्छा के विरुद्ध जाकर में ऊपर मुकदमा दायर किया—वही व्यक्ति। यह वही बाइबिल की बात है "तुम्हारी आँखों में लट्ठा और दूसरे की आँखों में धूल-कण।" वह दूसरे केन्द्रों में अनुशासन की बात कर रहा है और उसका अपना केन्द्र विभाजित है।

भारत में सदैव से यह मान्यता रही है कि सिखाने के चार तरीके हैं; साम, दाम, भेद और दण्ड। एक समझाकर, एक देकर, एक बहस और जिरह द्वारा और चौथा उचित दण्ड द्वारा—उचित तरीके से दिया गया दण्ड जो बच्चे की भलाई के लिए हो अपने गुस्से के कारण नहीं। समस्या यह है कि हम बच्चे पर अपना गुस्सा उतारते हैं। हम उसको सुधार नहीं रहे हैं वरन उस पर अपना गुस्सा निकाल रहे हैं। यह गलत है। प्रशिक्षण उसी क्रम में होना चाहिए। और आरम्भ समझाने से।

प्रश्न—समझाने से बहस शुरु हो जाती है।

उत्तर—हाँ—केवल प्रेम। समझो और बच्चे से प्रेम करने की कोशिश करो। "नहीं-नहीं प्रिय ऐसे नहीं ऐसे, देखो मम्मी कैसे करती हैं।" यदि बच्चा पर्याप्त बड़ा है तो उससे उस पर चर्चा करो। "तुम्हें पता है इसका क्या परिणाम होगा ?—तु मत करो।" और अन्त में तुम कहते हो "मैंने सारे तरीके जो मुझे पता थे आजमा लिए हैं। अपना हाथ आगे करो" यह सदैव से परम्परागत तरीका रहा है। परन्तु समस्या यह है कि आज के संसार में हम प्रेम और सजा न देने में गड़बड़ कर देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ प्रेम है वहाँ किसी प्रकार का सुधार का उपाय अख्तियार नहीं करना चाहिए। कोई भी सुधार का तरीका नहीं। इसके विपरीत पूर्व में हम मानते हैं कि जो प्रेम करता है वह मार भी सकता है। क्योंकि वह उसके भविष्य,

सही आचरण, उसकी उन्नति के लिए इतना चिन्तित है कि वही दण्ड देने का जोखिम उठा सकता है।

(टेप टूटा है)

आप देखते हैं कि बच्चे कितना निरीक्षण करते हैं। उनको धोखा देना दुनिया में सब से मुश्किल है। उन्हें सब मालूम होता है। तुम और किसी को भी धोखा दे सकते हो परन्तु बच्चे को छै वर्ष की आयु के बाद वह भी हमारे आचरण का तरीका अपनाते हैं और इस सभ्य ढोंग के चक्र में पड़ जाते हैं। तब तक वह ताजा, निर्दोष होते हैं और तुम उन्हें धोखा बिल्कुल नहीं दे सकते। ३ से ६ वर्ष या ७, ८ वर्ष की आयु में वह लज्जित कर देने वाले प्रश्न करते हैं। वह माता-पिता के लिए परीक्षा का समय होता है। उस समय यदि आप अपने उत्तरदायित्व की ओर सजग व सच्चे हैं तो उन्हें अच्छी तरह प्रशिक्षित कर सकते हैं। फिर भविष्य में कोई समस्या नहीं।

Samarth Guru Shri Ram Chandraji Maharaj

Shri Ram Chandra Mission Shahjahanpur